© डॉ० पारसनाथ तिवारी

3 0 NOV 1998

संस्करण	तृतीय, १९७६ ई०
प्रकाशक	राका प्रकाशन ४०-ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद—२११००'
मुद्रक	पर्वतीय मुद्रणालय १८, राय रामचरन दास रोड, इलाहाबाद—२११००
मूल्य	छह रुपये मात्र

अनुक्रम

●

१. कबीर का जीवनवृत्त ... ९

२. कबीर का दर्शन ... ४१

३. कबीर का समाज-दर्शन ... ६४

४. कबीर की भक्ति ... ७८

५. कबीर की साधना ... ६५

६. कबीर का काव्य ... १०४

७. कबीर की भाषा ... ११८

८. कबीर का महत्त्व ... १३५

९. कुछ आरोप और उनके समाधान ... १४५

१०. प्रस्तुत संकलन ... १५२

●

कबीर-वाणी-सुधा : मूल पाठ

पद ... १६१

साखी ... १८२

●

परिशिष्ट : टीका ... २०३

○

○

सहजें सहजें सब गए, सुत बित कांमिनि कांम ।
एकमेक ह्वै मिलि रहा, दास कबीरा रांम ॥

दो शब्द

यह संकलन कुछ विश्वविद्यालयों के एम्० ए० पाठ्यक्रम में निर्धारित हो गया है। इन विश्वविद्यालयों के कुछ सहयोगियों के सुझाव पर मैंने इस संस्करण में कबीर का जीवनवृत्त भी जोड़ दिया है जिसमें पर्याप्त नवीन तथ्य हैं। आशा है, इस परिवर्धन से प्रस्तुत संकलन की उपयोगिता में भी वृद्धि होगी।

—पारसनाथ तिवारी

१—कबीर का जीवनवृत्त

आज से लगभग पौने छह सौ वर्ष पहले किसी जलाशय के पास नीरू जुलाहे और उसकी पत्नी नीमा को एक नवजात शिशु प्राप्त हुआ। नीमा का गौना उसी दिन हुआ था, अतः शिशु को साथ ले जाने में लोकलाज का भय था, किन्तु थोड़े वाद-विवाद के पश्चात् पति-पत्नी दोनों उसे अपने घर ले जाकर पालने-पोसने के लिए सहमत हो गये। नीरूतहला (काशी में कबीरचौरा के सन्निकट) पहुँचने पर कुल-परम्परा के अनुसार काजी को बुलवाकर बच्चे का नामकरण संस्कार सम्पन्न कराया गया। किताब (कुरान शरीफ) खोलने पर इस बच्चे का नाम कबीर निकला जो अरबी में महान् परमात्मा का ही बोधक एक शब्द है। कबीर के जन्म के संबंध में यह कहानी बहुत समय से प्रचलित है।

जन्मस्थान

उपर्युक्त जलाशय अथवा कबीर का जन्मस्थान कहाँ है, इस सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित हैं—

(१) श्री गुरु ग्रंथ साहब, राग रामकली, पद ३ में कहा गया है—

पहिले दरसन मगहर पाइओ फुनि कासी बसे आई।

... ...

जैसा मगहर तैसी कासी हम एकै करि जानी॥

इसके आधार पर कुछ लोग कबीर का जन्मस्थान मगहर को ही मानते हैं जो गोरखपुर से लगभग १६ मील दूर आजकल के बस्ती ज़िले में है और सर्वसम्मति से कबीर के लीला-संवरण का स्थान भी माना जाता है। किन्तु उसी ग्रन्थ की राग गउड़ी के पद १५ में कहा गया है—

सगल जनम सिवपुरी गंवाइआ ।
मरती बार मगहर उठि आइआ ॥

जिससे स्पष्टतः केवल 'मरती बार' उनके मगहर में आने का संकेत मिलता है ।

(२) डॉ० सुभद्र झा ने निम्नलिखित तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कबीर का जन्म मिथिला में हुआ था और वहीं उन्होंने अपने जीवन का आरम्भिक अंश भी व्यतीत किया था—

(क) मिथिला में मछली न खाने वालों को 'वैष्णव' कहा जाता है, चाहे वे शक्ति के उपासक ही क्यों न हों और इसके विपरीत 'शाक्त' का अर्थ वहाँ 'मत्स्यमांसभोजी' किया जाता है । मैथिलियों की इस चलन से कबीर पूर्णतया परिचित जान पड़ते हैं ।

(ख) 'बीजक' के एक पद में कहा गया है—

ज्यों मैथिल को सच्चा बास ।
त्योंहि मरन होय मगहर पास ॥

(ग) 'सर्वज्ञसागर' नामक एक कबीरपंथी ग्रन्थ में कबीर के पक्ष से यह उक्ति मिलती है—

सावन भादों बरसै मेहा ।
एते सबद हम कह्यो विदेहा ॥

सुभद्र जी के अनुसार यहाँ 'विदेह' का अर्थ है 'मिथिलावासी' । वह 'जीवन्मुक्त' का बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि कबीर अथवा कबीरपंथी जीवित अवस्था में मुक्ति नहीं मानते ।

(घ) कबीर का कथन है : 'बोली हमरी पूरबी ताहि न चीन्हैं कोइ ।' 'पूरबी' से कबीर का तात्पर्य वस्तुतः 'मैथिली' है ।

(ङ) कबीर की छाप से युक्त मैथिली के अनेक पद मिलते हैं ।

किन्तु डॉ० सुभद्र झा के सभी तर्क प्रायः निराधार हैं । कबीर की रचनाओं में 'साकत' के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार

पर कहा जा सकता है कि कबीर की दृष्टि में 'साकत' वह है जो भक्त न हो, राम का नाम न लेता हो, जिसमें सज्जनता का लेशमात्र न हो, बल्कि जो दम्भी, विषयासक्त, भ्रष्टाचारी और निंदक हो। इसके विपरीत 'वैष्णव' वह है जो राम का भक्त हो, सज्जन-सदाचारी हो और कामिनी-कंचन के जाल से मुक्त हो। दोनों के विभाजन में कबीर का सब से अधिक बल उनके रामभक्त होने या न होने तथा विषय-वासना के भोग अथवा त्याग पर जात पड़ता है, न कि मछली खाने अथवा न खाने पर।
उदाहरणतया—

बैस्नौं की कूकरि भली, साकत की बुरी माइ।
वह बैठी हरि जस सुनैं, वह पाप बिसाहन जाइ॥
भगत हजारी कापड़ा, तामैं मल न समाइ।
साकत कालो कामरी, भावै तहां बिछाइ॥
कबीर साकत कोइ नहीं, सबै बैस्नौं जांनि।
जिहि मुखि रांम न ऊचरै, ताही तन की हांनि॥
हम न मरैं मरिहैं संसारा। हमको मिला जिआवनहारा॥
साकत मरहिं संत जन जीवहिं। भरि भरि रांम रसाइन पीवहिं॥
—कबीर-ग्रन्थावली, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्व०, पृ० २१२, १५७, २२६, ६२।

कबीर ने जो शाक्तों की निंदा की है, वह सुभद्र जी के अनुसार मिथिला के शाक्तों की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप है। किन्तु उनकी निंदा मध्यकाल के कुछ ऐसे संतों ने भी की है जिनका मिथिला से कोई सम्पर्क न था। उदाहरणतया गुरु नानक तथा रामदास की वाणी में भी शाक्तों की निंदा मिलती है। वस्तुतः कबीर के समय में भी बौद्ध-सिद्धों की साधना से प्रभावित कौल साधना प्रचलित थी, जिसमें नारी का साहचर्य आवश्यक माना गया था। कबीर के 'साकत' वस्तुतः यही कौल साधक थे, इसीलिए उन्होंने इन्हें बारम्बार विषयासक्त कहा है।

दूसरे तर्क की पुष्टि में उन्होंने 'बीजक' का जो उद्धरण दिया है

उसका पाठ वस्तुतः भ्रमात्मक है। बीजक के समस्त मुद्रित तथा हस्त-लिखित संस्करणों मे 'वास' के स्थान पर 'ब्यास' पाठ मिलता है, जिसके आधार पर कबीर का मिथिला-निवास सिद्ध नही किया जा सकता।

'सर्वज्ञ-सागर' वस्तुतः कबीर की रचना नहीं, बल्कि कबीरपंथ की एक परवर्ती रचना है, जिसके रचयिता का ठीक पता नहीं। उसमें आए हुए 'विदेह' शब्द का अर्थ मिथिला-निवासी लगाना हास्यास्पद है। सुभद्र जी का यह कथन भी मान्य नहीं कि कबीर अथवा कबीरपंथी जीवन्मुक्ति का सिद्धांत नही मानते। तथ्य वस्तुतः इसके विपरीत है। स्वतः कबीर ने जीवन्मुक्ति को श्रेयस्कर बतलाया है, उदाहरणतया—

अब मन उलटि सनातन हूवा।
तब जांनां जब जीवत मूवा॥

—क० ग्रं० प्रयाग, पद १०७।

परवर्ती कबीरपंथियों को भी यही सिद्धान्त मान्य है। सम्पूर्ण संत-साहित्य मे मरणोत्तर मुक्ति तथा स्वर्ग-नरक आदि की कल्पना के प्रति अविश्वास प्रकट किया गया है और जीवित अवस्था मे ही मोक्ष प्राप्त करने पर बल दिया गया है। कबीर का तो कहना है—

पिंड परे जिव जैहै जहां। जीवत ही लै राखौ तहां॥

—क० ग्रं०, प्रयाग, पद १२३।

इसी प्रकार 'पूरबी' शब्द का अर्थ 'मैथिली' ही माना जाय, यह आवश्यक नहीं। प्राचीनकाल से ही मध्यदेश के पूर्व बोली जाने वाली भाषाओं को 'पूर्वी' कहा जाता था और आजकल भी अर्धमागधी से विकसित अवधी तथा उसकी पूर्ववर्ती समस्त बोलियों को 'पूर्वी' कहा जा सकता है। कबीर की छाप से न केवल मैथिली में प्रत्युत पंजाबी गुजराती, मराठी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी अनेक पद मिलते हैं। अतः उनके आधार पर कबीर को किसी प्रांत विशेष का निवासी

सिद्ध करना निरापद नहीं कहा जा सकता। इससे केवल कबीर की लोकप्रियता ही सिद्ध की जा सकती है।[1]

(३) बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर (१९०८ ई०) में आजमगढ़ ज़िले के बेलहरा गाँव को कबीर का जन्मस्थान बताया गया है। स्व० पं० चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार "आज भी पटवारियों के कागदों में बेलहरा उर्फ बेलहर पोखर लिखा मिलता है।" इसी आधार पर उनकी धारणा है कि "यही 'बेलहर पोखर' 'लहर तालाब' की जड़ है। 'बेलहर' का 'लहर' एवं 'पोखर' का 'तालाब' कर लेना जनता के बाएँ हाथ का खेल है।"[2] पाण्डेय जी ने बेलहर पोखर को लहर तालाब की जड़ माना है किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, प्रमाणों के अभाव में लहरतालाब की जड़ें भी बहुत गहरी नहीं हैं और फिर काशी के पास ही जब लहरतारा मौजूद है तब उसे इतनी दूर आजमगढ़ में ले जाने का कोई तुक नहीं जान पड़ता। वैसे पास के मिर्जापुर ज़िले में भी बेलहरा नामक एक गाँव है। फिर उसी को क्यों न कबीर की जन्मभूमि मान लिया जाय?

(४) लहरतारा, जो काशी के कबीरचौरा से उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग दो मील पर है, समस्त कबीरपंथियों द्वारा निरपवाद रूप से कबीर का जन्मस्थान माना जाता है। सम्प्रदायेतर व्यक्तियों में से भी अधिकांश का झुकाव अब इसे ही उनकी जन्मस्थली मानने के पक्ष में होता जा रहा है। किन्तु निश्चित रूप में इसकी परम्परा २०वीं शती से पूर्व की नहीं मिलती। कबीर के जन्मस्थान के रूप में लहरतारा का उल्लेख सर्वप्रथम स्वामी परमानन्ददास के 'कबीर मंशूर' (सं० १९६६ वि०), बाबू सेहनासिंहकृत 'कबीर-कसौटी' (सं० १९७१ वि०) तथा स्वामी युगलानन्दकृत 'कबीर चरित्र बोध' (सं० २००७ वि०) में मिलता है। रामानन्दी सम्प्रदाय के 'प्रसंग पारिजात' नामक एक ग्रन्थ में भी लहरतारा

१. विस्तार के लिए देखिए 'सम्मेलन-पत्रिका' ४३।४ में 'कबीर की जन्मभूमि मिथिला : एक समाधान' शीर्षक मेरा निबन्ध।

२. विचार-विमर्श, हि० सा० सम्मेलन, द्वि० संस्क०, पृ० ६।

को कबीर का जन्मस्थान बताया गया है और यद्यपि इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १५१५ वि० दिया हुआ है किन्तु इसमें महात्मा गाँधी तक का उल्लेख मिल जाने से इसे अत्याधुनिक ग्रन्थ मानना चाहिए और इसके साक्ष्यों पर भी आँख मूँदकर विश्वास नहीं करना चाहिए। इस प्रसंग में काशी का उल्लेख अवश्य कुछ प्राचीन रचनाओं में मिलता है, किंतु उनकी परम्परा भी अधिक के अधिक स० १८०० वि० तक ही सिद्ध की जा सकती है, उसके पूर्व की नहीं। "काशी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चिताए" इत्यादि पंक्तियाँ जिन पदों में मिलती हैं, उन्हें कबीर की प्रामाणिक रचना मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

(५) 'निर्भयज्ञान' तथा 'ज्ञानसागर' नामक कबीरपंथी ग्रन्थों में चंदवार को कबीर का जन्मस्थान बतलाया गया है। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में कबीर तथा धर्मदास के काल्पनिक सम्वाद के रूप में उनकी जीवनी से सम्बद्ध अनेक विवरण मिलते हैं। धर्मदास की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कबीर कहते हैं—

हम प्रगटे चंदवारे जाई। पूरब प्रमल सब्द गुहराई॥
बरसायत दिन हम प्रगटाना। ताल माहिं पुरइन भल जाना॥
नीरू जुलहा नीमा नारी। जोलहिन तृषा लागि तेहि बारी॥
नीमा जल पीवन तट आई। सुन्दर शिशु देखत चित भाई॥
जल मँह धँसि मोहि लीन्ह उठाई। हर्ष रंक परा धन पाई॥

—निर्भय ज्ञान, नरसिंहपुर, पृ० ५७-५८।

'ज्ञानसागर' में भी किंचित् शब्दांतर के साथ यही कहानी इस प्रकार मिलती है—

आसन कर आयो चंदवारा। चंदन साहु तहाँ पग धारा॥
बाल रूप धर आयो तहँवा। आठ पहर रह्यों मैं जहँवा॥
ताकी नारि गई अस्नाना। रूप देखि ताकर मन माना॥
ले गई बालक सो निज गेहा। बहुत भाँति तेहि कीन्ह सनेहा॥
चदन साहु देखि रिसियाना। चलि गयो नारि तोर अब ज्ञाना॥

वेग डारि बालक को आजू। सुनैं लोग तो होय अकाजू ॥
चेरि हाथ तब दीन्ह पठाई। उद्यान माँह तिन्ह दीन्ह अडाई ॥
कछु दिन काया धरि दुख पावा। यहि अंतरि इक जुलहा आवा ॥
नूरि नाम जो वा संग नारी। देखत बालक भई सुखारी ॥

—ज्ञानसागर, लक्ष्मी वेंकटेश्वर, पृ० ७१-७२।

हम देखते हैं कि दोनों ग्रंथों में निस्संदिग्ध रूप में चंदवार ही वह स्थान बताया गया है जहाँ नीरू-नीमा को कबीर शिशु रूप में मिले थे। कबीरपंथ के एक अन्य मान्य ग्रंथ 'अनुरागसागर' के कुछ संस्करणों में भी इस प्रसंग में चंदवार का ही उल्लेख है (लहरतारा की चर्चा वहाँ भी नहीं है)। 'निर्भयज्ञान' तथा 'ज्ञानसागर' अपेक्षाकृत प्राचीनतर हैं, अतः उनके साक्ष्य गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं। इसी प्रसंग में कबीरपंथियों में प्रचलित निम्नलिखित पंक्तियाँ भी विचारणीय हैं—

चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार इक ठाट ठये।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भये॥

इसमें उल्लिखित 'चन्द्रवार' शब्द के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी समय से विवाद चला आ रहा है। गणना करने पर सं० १४५५ या ५६ की किसी भी ज्येष्ठ पूर्णिमा को सोमवार नहीं पड़ता, अतः ज्ञात होता है कि उपर्युक्त छंद का 'चंद्रवार' दिन का सूचक नहीं, बल्कि उसी स्थान का सूचक है जिसका उल्लेख 'निर्भयज्ञान', 'ज्ञानसागर' तथा 'अनुरागसागर' में मिलता है। इतने अधिक साक्ष्यों के ऐक्य से कबीर के जन्मस्थान के रूप में इसकी सम्भावना बहुत बढ़ जाती है, किंतु अभी निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्थान कहाँ स्थित है। आगरा के पास यमुना तट पर तथा बलिया जिले में चंदवार नाम के दो स्थान मिलते हैं किंतु उनमें से किसी की भी सम्भावना इस प्रसंग में दृढ़ नहीं ज्ञात होती। लहरतारा से लगभग तीन मील दूर चाँदपुर

नामक एक गाँव है जिसके आस-पास कई छोटे-छोटे तालाब हैं। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भी 'चाँदपुर' से 'चंदवार' का परिवर्तन असंभव नहीं है अतः कबीर के जन्मस्थान के रूप में इस स्थान की संभावना कुछ अधिक दृढ़ जान पड़ती है, किन्तु अभी इस दिशा में पर्याप्त खोजबीन की आवश्यकता है।[1]

(६) डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने ना० प्र० सभा की 'कबीर-ग्रंथावली' की साखी १२/४३ के चतुर्थ चरण 'कुरहै कंगी कूप' के आधार पर अनुमान लगाया है कि 'कुरह' कुदेश है। "और वाराणसी को कोई 'कुदेश' नहीं कह सकता है। लगता है कि वे किसी ऐसे क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे जहाँ आचार-विचार की शिथिलता थी। असंभव नहीं यह 'कुरह' टक्क प्रदेश (पूर्वी पंजाब) रहा हो जहाँ पर उस समय मुसलमानों का बाहुल्य था, जो कबीर की भाषा से समर्थित लगता है।"[2] किंतु 'कुरह' अथवा 'कुलह' को टक्क देश मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। डॉ० गुप्त के इस अनुमान का आधार वस्तुतः 'पादअमहमहण्णवो' ज्ञात होता है जिसमें 'कुलह' को एक म्लेच्छ देश बतलाया गया है (पृ० २५५), किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह म्लेच्छ देश टक्क ही हो। 'कुरहना' वस्तुतः कराहना है। तुलनीय शम्सुद्दीन (विल्लोई) 'घायला ज्यू कुरहै' अर्थात् घायलों की तरह कराहता है। अतः 'कुरहै कंगी कूप' का सही अर्थ होगा: पापी पेट के लिए कराहता है।

बाल्य-काल

कबीर के बाल्य-काल के विषय में अनेक अतिरंजित कहानियाँ प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए जब बिना कुछ खाये पिये ही वे पड़े रह जाते थे तब नीरू-नीमा की चिंता बढ़ जाती थी। उन्हें दुःखी देख कर कबीर ने दूध पीना आरम्भ किया, किंतु वह दूध भी विलक्षण ढंग से निकाला जाता था। एक अनब्याही बछिया के नीचे मिट्टी का

---

१. इस समस्या के विस्तृत विवेचन के लिए दे० 'सम्मेलन-पत्रिका' भाग ५५ अंक १-२ में 'कबीर का जन्मस्थान : चंदवार' शीर्षक मेरा निबन्ध। २. कबीर-ग्रंथावली, आगरा, भूमिका पृ० ३।

कोरा बर्तन रख दिया जाता था। कबीर दूध की इच्छा से ज्यों ही उस बछिया की ओर देखते थे, बर्तन लबालब भर जाता था। वही दूध वे नित्य प्रति पिया करते थे।

कबीर अपने घरेलू व्यवसाय में बचपन से ही लग गये थे, किन्तु राम नाम का जादू उन पर इतना असर कर चुका था कि वे कभी-कभी कताई-बुनाई का धंधा छोड़ देते थे। इस मनोवृत्ति की परिचायक कुछ पंक्तियाँ कबीर की प्रामाणिक रचनाओं में भी मिलती है।

उदाहरणतया—

तननां बुननां तज्यौ कबीर। रांम नांम लिखि लियौ सरीर॥
मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। यह बारिक कैसे जीवै खुदाई॥
जब लगि तागा बाहौं बेही। तब लगि बिसरै रांम सनेही॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। पूरनहारा त्रिभुवनराई॥

—कबीर-ग्रन्थावली, प्रयाग संस्करण, पद १२।

गुरु

स्वामी रामानंद—जनश्रुति के आधार पर स्वामी रामानन्द को कबीर का गुरु माना जाता रहा है। यहाँ तक कि उनके जन्म के सम्बन्ध में भी यह कहानी प्रचलित है कि एक ब्राह्मण अपनी विधवा कन्या के साथ स्वामी रामानन्द के दर्शन के लिए गया। कन्या के प्रणाम करने पर स्वामी जी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। महात्मा का दिया हुआ आशीर्वाद मिथ्या नहीं हो सकता था, अतः कुछ दिन पश्चात् उसके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसको उसने लोक लाज के भय के तालाब के किनारे फेंक दिया। इस कहानी में कुछ और भी चमत्कार का अंश जोड़ा जाता है, जिससे यह सिद्ध किया जाता है कि कबीर उस ब्राह्मण कन्या के गर्भ से नहीं प्रत्युत उसके हाथ में निकले हुए एक फफोले से पैदा हुए थे। इसीलिए कुछ लोग उनका मूल नाम 'करबीर' (=हाथ से उत्पन्न वीर) मानते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि स्वामी रामानन्द से कबीर का सम्बन्ध प्रमाणित करने के लिए अथवा उन्हें

ब्राह्मण कुलोत्पन्न सिद्ध करने लिए उपर्युक्त कहानियाँ गढ़ ली गई हैं।

कहते हैं, कबीर मुसलमान परिवार में पोषित होने के बावजूद एक वैष्णव भक्त के समान आचरण करते थे। इस पर ब्राह्मण लोग यह आपत्ति करते थे कि, निगुरे वैष्णव को मुक्ति नहीं मिला करती। इन बातों से तंग आकर कबीर ने दीक्षा लेने की बात सोची। उस समय स्वामी रामानन्द बड़े प्रभावशाली महात्मा थे, किन्तु किसी वैष्णव आचार्य द्वारा मुसलमान को दीक्षा मिलने में कठिनाई थी। अतः कबीर ने एक नई युक्ति सोच निकाली। रामानन्द प्रातः झुटपुटे में ही गंगा-स्नान को जाया करते थे। कबीर उनके रास्ते में लेट गये। अँधेरे में जब स्वामीजी की खड़ाऊँ उनसे टकराई तो स्वामी जी के मुख से 'हाय राम !' निकला जिसे कबीर ने गुरुमंत्र समझ लिया और अपने को रामानन्द का शिष्य प्रचारित किया। रामानन्द के शिष्यत्व की घटना का उल्लेख भक्त व्यास (मृ० सं० १६६६ वि०), अनंतदासकृत 'कबीर साहब की परचई' (सं० १६४५) तथा नाभादास के भक्तमाल (सं० १६६० के आसपास) में भी मिलता है। 'प्रसंग पारिजात' में भी कबीर को रामानन्द का शिष्य बताया गया है, किन्तु जैसा पहले संकेत किया गया, यह ग्रन्थ अत्याधुनिक है और इसकी रचना सं० १५१७ में सिद्ध नहीं की जा सकती। 'अगस्त्य-संहिता' के अनुसार स्वामी रामानन्द का जन्म स० १३५६ वि० में और देहावसान स० १४६७ वि० में हुआ था। इस प्रकार उनकी आयु १११ वर्ष की निश्चित होती है। दूसरी ओर सं० १४५५ में जन्म लेने वाले कबीर रामानन्द की मृत्यु के समय १२ वर्ष के रहे होंगे। यह दोनों बातें विश्वसनीय कम जान पड़ती हैं, क्योंकि इतनी छोटी आयु में दीक्षा लेने की सम्भावना दृढ़ नहीं प्रतीत होती। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ विद्वान् कबीर की जन्म-तिथि कुछ और पीछे ले जाना चाहते हैं, किंतु इसके लिए कोई आधार नहीं मिलता। कबीर की प्रामाणिक रचनाओं में रामानन्द का उल्लेख कहीं भी नहीं प्राप्त होता, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा।

शेख तक़ी—मौलाना गुलाम 'सरवर' ने 'खज़ीनतुल असफ़िया' में लिखा है कि "शेख़ कबीर जुलाहा शेख़ तकी के उत्तराधिकारी तथा शिष्य थे। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने परमेश्वर और उसकी सत्ता के विषय में हिंदी में लिखा। धार्मिक सहनशीलता के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपना नेता माना।'''उनकी मृत्यु सन् १५६४ ई० में हुई और उनके पीर शेख़ तक़ी सन् १५७५ ई० में मरे थे।" यह उल्लेख स्पष्ट ही हिन्दी के भक्त कवि कबीर के सम्बन्ध में है। किंतु इसमें कबीर का निधन काल बहुत बाद में बताया गया है अर्थात् १६२१ वि० में। इसलिए सरवर साहब के सम्पूर्ण कथन पर संदेह होने लगता है।

शेख़ तक़ी नाम के दो सूफ़ी फ़क़ीर प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक कड़ा मानिकपुर के और दूसरे इलाहाबाद के निकटस्थ झूंसी के रहने वाले थे। 'बीजक' में एक स्थल पर मानिकपुर के शेख़ तक़ी का नाम आया भी है, उदाहरणतया—

मानिकपूर कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी।

—रमैनी ४८।

'बीजक' की ही एक अन्य पंक्ति में पुनः उनका उल्लेख मिलता है—

नाना नाच नचाय के, नाचे नट के भेख।
घट घट अबिनासी अहै, सुनो तकी तुम सेख।

—रमैनी ६३।

पहले उद्धरण के अनुसार कबीर जब मानिकपुर गये थे तब वहाँ उन्होंने शेख़ तक़ी की प्रशंसा सुनी थी। दूसरे उद्धरण में वे उनके साथ कुछ आध्यात्मिक चर्चा करते हुए दीख पड़ते हैं। यद्यपि इन उद्धरणों में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिसके आधार पर कबीर को शेख़ तक़ी का शिष्य सिद्ध किया जा सके किंतु कम से कम दोनों का समकालीन होना तो सिद्ध हो ही जाता है। किंतु इधर कबीर-वाणी की पाठ समस्या पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर 'बीजक' के सम्बन्ध में कुछ नये तथ्य प्रकाश में आए हैं जिनके अनुसार उसके मूल रूपांतर का संकलन

भी सं० १६५० वि० अर्थात् कबीर साहब की मृत्यु के लगभग सौ वर्ष बाद का सिद्ध होता है (दे० कबीर-ग्रंथावली, प्रयाग पृ० ६६)। अतः 'बीजक' को पूर्णतया प्रामाणिक मान कर उसके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना निरापद नहीं माना जा सकता। ऊपर उद्धृत पंक्तियाँ कबीर-वाणी की अन्य किसी शाखा में नहीं मिलतीं, अतः इनकी प्रामाणिकता के बारे में और भी अधिक संदेह होता है। दूसरी कठिनाई यह है कि मानिकपुर के शेख़ तक़ी की मृत्यु सं० १६०३ वि० में हुई थी (कबीर एंड दि कबीरपंथ, पृ० २५)। अतः उन्हें कबीर का समकालीन नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध सूफ़ी संत हिसामुद्दीन मानिकपुरी को अवश्य कबीर का समकालीन माना जा सकता है जिनका देहांत सं० १५०६ में हुआ था। 'आइनेअकबरी' में किसी शेख तक़ी की क़ब्र का मानिकपुर में होना बताया गया है, किंतु उसमें उनके समय आदि का उल्लेख न होने से यह कहना कठिन है कि वे कबीर के समकालीन थे।

झूँसी वाले शेख़ तक़ी का निधन-काल इलाहाबाद गजेटियर में सन् १३८४ ई० (१४४१ वि०) दिया है, किंतु वेस्टकाट साहब ने किसी अन्य प्रमाण के आधार पर उनका देहावसान सं० १४८६ में निश्चित किया है और यह बतलाया है कि कबीर ३० वर्ष की अवस्था में उनसे मिले थे। झूँसी में एक कबीर नाला है जिससे इस घटना का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, किंतु ये नाम अन्य आधारों पर दिये गये जान पड़ते हैं जैसे 'कबीर वट' का अर्थ वस्तुतः महान् वट है, न कि कबीर द्वारा आरोपित वट। किंतु यदि दोनों संतों को समकालीन मान लिया जाय तो भी उनका गुरु-शिष्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

कबीरपंथी ग्रंथों में शेख़ तक़ी को सिकन्दर लोदी का राजगुरु बतलाया गया है और कबीर साहब के साथ उनके वाद-विवाद के अनेक प्रसंग मिलते हैं, किंतु सिकन्दर लोदी को भी कबीर का समकालीन मानने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, अतः इन आख्यानों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। वस्तुतः इन आख्यानों का शेख़ तक़ी किसी सूफ़ी फ़क़ीर का

प्रतीक जान पड़ता है।

पीताम्बर पीर—'गुरु ग्रन्थ साहब' में संकलित कबीर के एक पद में गोमती तीर निवासी पीतांबर पीर की प्रशंसा की गई है—

हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहि पीतांबर पीर ॥
कंठे माला जिहवा रामु। सहस नामु लै लै करउ सलामु ॥

इन पंक्तियों में आए 'पीर' तथा 'करउ सलामु' शब्दों से व्यंजना निकाली जा सकती है कि कदाचित् गोमती तीर निवासी पीतांबर पीर ही कबीर के गुरु थे जिनके दर्शन के लिए जाना वे हज की पवित्र यात्रा मानते थे। किन्तु इस पद की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार संदेह किया जा सकता है जैसा 'बीजक' की उपर्युक्त पंक्तियों के सम्बन्ध में किया गया है।

मतिसुन्दर—कबीर की प्रामाणिक रचनाओं में केवल एक ही समकालीन व्यक्ति मतिसुन्दर का उल्लेख मिलता है; यद्यपि उसे व्यक्ति-वाचक संज्ञा मानने में कुछ विद्वान् संदेह भी करते हैं। उक्त पद की आरम्भिक पंक्तियाँ हैं—

मेरी मति बउरी मैं रांम बिसार्‌यौ, केहि विधि रहनि रहौं रे।
सेजैं रमत नैन नहिं पेखउं, यह दुख कासौं कहौं रे॥

और अंतिम पंक्तियाँ हैं—

सोचि बिचारि देखो मन मांहीं, औसर आइ बन्यो रे।
कहै कवीर सुनहु मतिसुंदर, राजा रांम रमौं रे॥

—क० ग्रं० प्रयाग, पद १३५।

कुछ प्राचीन ह० लि० ग्रन्थों में मतिसुन्दर नामक किन्हीं महात्मा के तीन स्फुट पद भी मिलते हैं जिनमें निर्गुण विचारधारा का प्रतिपादन है (दे० हिन्दी-अनुशीलन १०-२, १९५७ ई० में 'महात्मा मतिसुन्दर' शीर्षक मेरा निबंध)। यद्यपि पूर्ण निश्चय के साथ तो नहीं कहा जा सकता, किंतु यह असम्भव भी नहीं माना जा सकता कि ये पद उन्हीं मति-सुन्दर के हैं जिन्हें कबीर ने अपने उपर्युक्त पद में संबोधित किया है।

कहीं-कहीं इस पद की प्रत्येक पंक्ति के अंत में 'देयाल' शब्द भी जुड़ा है जिससे कबीर का उनके प्रति श्रद्धाभाव भी अनुमानित किया जा सकता है। यद्यपि केवल इसी एक अस्पष्ट साक्ष्य के आधार पर उन्हें कबीर का गुरु मान लेना युक्तिसंगत नहीं, किंतु कुछ नई जानकारी प्रकाश में आने पर उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर भी अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

विवाह तथा परिवार

कुछ लोगों का अनुमान है कि कबीर का विवाह हुआ था और उनकी पत्नी का नाम लोई था जो एक बनखंडी वैरागी की पोषिता कन्या थी। कहते हैं, एक दिन एक बनखंडी महात्मा जब गंगा-स्नान के लिए गए तो उन्होंने एक लड़की को लोई में लिपटी बहते देखा। महात्मा को दया आ गई। उन्होंने उसे धारा से बाहर निकालकर उसका पालन-पोषण किया। लोई में लिपटी हुई होने के कारण उन्होंने उसका नाम 'लोई' ही रख दिया। जब लड़की सयानी हुई और बनखंडी बाबा का अंतिम समय नजदीक आया तो उन्होंने लोई को आश्वासन देते हुए बतलाया कि उनके देहावसान के पश्चात् एक महात्मा यहाँ ऐसे आवेंगे जो उसके सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर देंगे, अतः सावधानी से उसे उनके आगमन की प्रतीक्षा करनी चाहिए। कुछ समय पश्चात् दो महात्मा उसकी कुटिया पर आए जिनमें से एक कबीर थे। लोई ने उनसे क्रमशः उनके नाम, जाति तथा सम्प्रदाय के सम्बन्ध में प्रश्न किये किन्तु महात्मा ने तीनों प्रश्नों का उत्तर केवल एक शब्द 'कबीर' द्वारा दिया। इससे लोई अत्यधिक प्रभावित हुई और उनकी अर्द्धाङ्गिनी (अन्य मतानुसार शिष्या) बनकर उनके साथ रहने लगी।

किन्तु लोई के सम्बन्ध में इस कहानी का जो भारी-भरकम ढाँचा खड़ा किया गया है उसके मूल में एक त्रुटि ज्ञात होती है। वस्तुतः कबीर ने अपने कुछ पदों में "सुनहु रे लोई" या "सुनो नर लोई" इस प्रकार के कुछ शब्दों का प्रयोग किया है जिससे कुछ लोगों को भ्रम हुआ

कि कदाचित् यह किसी स्त्री का नाम है जब कि 'लोई' वस्तुतः संस्कृत के 'लोक' (हिं० 'लोग') का अपभ्रंश रूप है।

कुछ लोग तो यहाँ तक मानते हैं कि लोई के अतिरिक्त कबीर की एक अन्य पत्नी भी थी जिसका नाम धनियाँ था और जिसे कभी-कभी लोग रमजनियाँ भी कहते थे और अपने कथन की पुष्टि में वे 'श्री गुरु ग्रन्थ साहब' की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

मेरी बहुरिया को धनिआ नाउ।
लै राखिओ रामजनीआ नाउ॥

अथवा

पहली कुरूपि कुजाति कुलखनी साहुरै पेईऐ बुरी।
अब की सुरूपि सुजाति सुलखनी सहजे उदरि धरी॥
भली सरी मुई पहिली बरी।
जुगु जुगु जीवउ मेरी अबकी धरी॥

किन्तु पहले तो इन पदों की प्रामाणिकता संदिग्ध है और यदि इन्हें प्रामाणिक मान भी लिया जाय तो इन्हें क्रमशः कुबुद्धि तथा सुबुद्धि का प्रतीक मान कर उपर्युक्त पदों का आध्यात्मिक अर्थ भी किया जा सकता है, और यही-कदाचित् कवि का अभीष्ट अर्थ भी है।

इसी प्रकार 'गुरु ग्रंथ साहब' के निम्नलिखित 'सलोक' के आधार पर कमाल को उनका पुत्र भी बताया जाता है—

बूड़ा बंस कबीर का, उपजिओ पूतु कमालु।
हरि का सिमरनु छाड़ि कै, घरि लै आया मालु॥

किन्तु यह पंक्तियाँ भी कबीर-वाणी की किसी अन्य शाखा में नहीं मिलती, अतः इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। साथ ही संत समाज में गुरु को आध्यात्मिक पिता माना जाता है, अतः शिष्य को कभी-कभी पुत्र भी कह दिया जाता है।

इसी प्रकार कमाली नाम की उनकी एक पुत्री की भी कल्पना मिलती है। कहते हैं, यह शेख तकी की बेटी थी जिसका देहांत होने पर

कबीर ने अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा जिला दिया था और फिर अपनी पुत्री के रूप में उसका पालन-पोषण किया था। कबीर के प्राचीनतम चित्र में उन्हें करघे के सामने बैठे हुए दिखाया गया है और निकट ही लगभग समान अवस्था के एक युवक तथा एक युवती के चित्र भी हैं, जिन्हें शिष्य-शिष्या अथवा पुत्र-पुत्री के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु इससे अधिक प्रमाण उनके परिवारादि के सम्बन्ध में नहीं मिलता। उनकी प्रामाणिक रचनाओं में एक पद ऐसा अवश्य आता है जिसमें कहा गया है—

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
यह बारिक कैसे जीवहि खुदाई॥
कहै कबीर सुनहु मेरी माई।
पूरनहारा त्रिभुवनराई॥

—क० ग्रं० पद १२।

'यह बारिक कैसे जीवहि खुदाई' का अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि कबीर का कोई पुत्र है जिसके लिए उनकी माता चिंतित हैं, किन्तु वस्तुतः यहाँ कबीर की माँ स्वतः उन्हीं के सम्बन्ध में चिंतित है। बेटा चाहे जितना बड़ा हो जाय, माँ उसे छोटा बालक ही समझती है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कबीर गृहस्थ जीवन अवश्य बिताते थे, किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उनका विवाह हुआ था और उनके लड़के-बच्चे भी थे।

अन्य प्रमुख घटनाएँ

'निर्भयज्ञान' तथा अनन्तदासकृत 'परचई' में कबीर के जीवन से सम्बद्ध अनेक घटनाओं के वर्णन मिलते हैं, किन्तु उनमें ऐतिहासिकता का प्रायः अभाव है तथा अतिरंजना और चमत्कार को अधिक महत्त्व [illegible] है। उदाहरण के लिए—जगन्नाथपुरी के पंडे का जलता हुआ

पैर काशी में जल गिरा कर शीतल कर देना, हनुमान, वशिष्ठ आदि पौराणिक व्यक्तियों को शास्त्रार्थ में पराजित करना, गोरखनाथ (१०वीं श०), मखदूम जहानियाँ उपनाम जहाँगश्त (मृ० सं० १४४१) आदि पूर्ववर्ती ऐतिहासिक व्यक्तियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित करना। इसी प्रकार सिकन्दर लोदी सम्बन्धी कई घटनाओं का उल्लेख मिलता है जिनकी पुष्टि में अन्तःसाक्ष्य मौन हैं किन्तु उनके जीवन की तीन प्रमुख घटनाएँ—पानी में डुबाए जाने, जलती आग में फेंके जाने तथा मद मत्त हाथी द्वारा कुचलवाये जाने की—ऐसी हैं जिनका उल्लेख भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास तथा दादू के शिष्य रज्जब जी ने भी किया है, और इन तीनों घटनाओं का उल्लेख कबीर की प्रामाणिक रचनाओं में भी मिलता है। उदाहरणतया दे० कबीर-ग्रन्थावली, प्रयाग विश्वविद्यालय संस्करण, पद संख्या २१, २३, २४। इससे ज्ञात होता है कि कबीर को कम से कम इन तीन यातनाओं का सामना अवश्य करना पड़ा था।

कबीर की जाति

कबीर ने अपने को एकाधिक बार जुलाहा जाति का बताया है। उदाहरणतया—

हरि के नाउ बिन किन गति पाई,
    कहै जुलाह कबीरा। (क० ग्रं० पद ८५)
मेरे राम की अभै पद नगरी
    कहै कबीर जुलाहा। (क० ग्रं० पद १७०)
तूं बांम्हन मैं कासी क जोलहा,
    चीन्हि न मोर गियांनां। (क० ग्रं० पद ११८)
तूं बांम्हन मैं कासी क जुलहा। (क० ग्रं० पद १९६)
जैसे जल जलही ढुरि मिलियौ,
    त्यौ ढुरि मिला जुलाहा। (क० ग्रं० पद २००)

जुलाहा के अतिरिक्त कहीं-कहीं उन्होंने अपने को कोरी जाति का भी बताया है; जैसे—

हरि को नाम अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी।

जिन पंक्तियों में ये उल्लेख मिलते हैं उनकी प्रामाणिकता के विषय में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। 'हम घरि सूत तनहि नित तांनां कंठ जनेउ तुम्हारे' आदि कुछ ऐसे भी कथन मिलते हैं जो सूचित करते हैं कि वे केवल जाति से ही जुलाहे न थे बल्कि व्यवसाय भी जुलाहे का ही करते थे। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ऐसी जाति में उत्पन्न हुए थे अथवा कम से कम पोषित हुए थे जो जुलाहा अथवा कोरी के नाम से विख्यात थी और जिसका परम्परागत उद्यम सूत कातना तथा वस्त्र बुनना था। इसके अतिरिक्त कबीर साहब के जुलाहा होने की पुष्टि गुरु अमरदास (मृ० सं० १६३१), अनन्तदास (कबीर परचई, स० १६४५ वि०), रज्जब (मृ० स० १७४६) तथा तुकाराम जैसे पुराने संतो ने भी की है। साथ ही 'खजीनतुल असफ़िया' और 'दबिस्ताने मज़ाहिब' आदि के मुसलमान लेखकों ने भी उन्हें 'जुलाहानज़ाद' बतलाया है।

किन्तु प्रश्न यह है कि कबीर किस प्रकार के जुलाहे थे—हिन्दू, मुसलमान अथवा इन दोनों से पृथक् किसी अन्य कोटि के जुलाहे? क्योंकि केवल जुलाहा मान लेने से उन्हें अथवा उनके परिवार को इस्लाम-धर्मावलम्बी कैसे मान लिया जा सकता है? यह भी ज्ञातव्य है कि उन्होंने यद्यपि अपने को बारंबार जुलाहा कहा है किन्तु मुसलमान एक बार भी नहीं कहा, बल्कि अपने को सदैव इन कट्टरों से पृथक् बताया—

जोगी गोरख गोरख करै।
हिन्दू रांम नांम उच्चरै।
मुसलमांन कहै एक खुदाइ।
कबीर का स्वांमी घटि घटि रह्या समाइ।

—क० ग्रं० पद १२८।

किन्तु कुछ प्राचीन सन्तों के साक्ष्य पर तथा स्वतः कबीर के संस्कारों को लक्ष्य कर, जो उनकी वाणियों में यत्र-तत्र निर्दिष्ट हुए हैं, कुछ विद्वान् उन्हें जन्मना तथा कर्मणा दोनों दृष्टियों से मुसलमान सिद्ध करना चाहते हैं। संत रैदास, जो कबीर साहब के थोड़े समय पश्चात् हुए, कहते हैं—

जाके ईद बकरीद कुल गऊ रे बध करहि,
मानिअहि सेख साहीद पीरा।
बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी,
तिहूं रे लोक परसिध कबीरा।

हू-ब-हू यही पंक्तियाँ सत पीपा की छाप से भी मिलती हैं जो रैदास के समकालीन थे। पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने 'जिंद कबीर की संक्षिप्त चर्चा' शीर्षक निबन्ध ('विचार-विमर्श' में संकलित) में रैदास के इस संकेत को ग्रहण करते हुए अन्य अनेक साक्ष्य भी प्रस्तुत किए हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—कबीर की एक पंक्ति है—

कहै कबीर हमरा गोबिंद। चौथे पद महि जन की जिंद।

—क० ग्रं० पद २३।

इसमें आए हुए 'जिंद' शब्द को उन्होंने 'ज़िंदीक' का बोधक माना है। ज़िन्दीक इस्लाम के आततायी हैं जिनका वध विहित है। पाण्डेय जी के अनुसार कबीर भी इसी प्रकार के ज़िन्दीक थे। इसीलिए काज़ी उन्हें अनेक प्रकार के दण्ड दिया करता था।

२—धर्मदास की रचनाओं में भी यह उल्लेख मिलता है कि कबीर ने उन्हें मथुरा में ज़िंद वेश में ही दर्शन दिया था और धर्मदास ने स्पष्ट रूप से बताया है कि 'जिंद सुमिरै अल्लाह खुदाई।' कहने की आवश्यकता नहीं कि अल्लाह-खुदा का स्मरण करने वाला मुसलमान ही हो सकता है।

३—भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास जी ने बतलाया है कि

जब तत्वा-जीवा नामक दो दक्षिणी पंडितों ने कबीर का शिष्यत्व स्वीकार कर अपनी जाति से बहिष्कृत होने पर अपनी कन्या के विवाह के सम्बन्ध में उनकी सम्मति माँगी तब उन्होंने परामर्श दिया कि "दोऊ तुम भाई करो आपमें सगाई।" अतः भाई-बहन के विवाह का प्रतिपादन कबीर के इस्लामी संस्कार का द्योतक है।

४—कबीर के एक पद की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

एक अचम्भौ देखिया बिटिया जायौ बाप।
बाबुल मेरा ब्याह करि बर उत्तम लै आइ।
जब लग बर पावै नहीं तब लगि तूही ब्याहि॥

—क० ग्रं० पद ११०।

पांडेय जी ऐसी उक्तियों पर मुस्लिम सूफियों की विचारधारा का प्रभाव मानते हैं। बदरुद्दीन कहते हैं 'मेरी माता ने अपने पिता को पैदा किया। मेरा पिता उनकी गोद का एक छोटा बच्चा है जो उन्हें दूध पिलाती है।" जीली कहते हैं "मैं वह बच्चा हूँ जिसका पिता उसका पुत्र है…मैं उन माताओं से मिला जिन्होंने मुझे जन्म दिया और मैंने उनसे विवाह के लिए कहा तो उन्होंने मुझे ब्याह लेने दिया।" सूफ़ियों ने यह प्रतीक शैली इसलिए अपनाई कि कट्टर काजियों से उनकी प्राण-रक्षा हो सके। पांडेय जी के अनुसार कबीर ने भी अपनी प्राणरक्षा के निमित्त सूफियों की उपर्युक्त शैली में उन्हीं जैसी बातें कही।

५—कबीर ने अपने को राम का कुत्ता कहा है और सूदखोरी की निन्दा की है। उदाहरणतया—

देहि पईसा ब्याज कौं, लेखा करता जाइ।

—क० ग्रं० प्रयाग २१-१६।

मुसलमानों में कल्बे मुस्तफा अर्थात् मुस्तफ़ा का कुत्ता जैसे नाम प्रचलित हैं और सूदखोरी भी कुरान में वर्जित है। कबीर इन्हीं संस्कारों से प्रभावित जान पड़ते हैं।

६—इसी प्रकार पांडेय जी के अनुसार 'खाक एक सूरति बहुतेरी' में

इस्लामी सृष्टि-प्रक्रिया बोल रही है। "मनिषा जनम दुर्लभ है होइ न वारंवार" जन्मान्तरवाद का इस्लामी रंग है । हिन्दुओं का कर्मवाद भी उन्हें मान्य नहीं, अर्थात् उनको 'लौह महफ़ूज़' की सचाई में संदेह नहीं । 'लौह महफ़ूज़' का अर्थ है कि विश्व में जो कुछ हो रहा है वह उसी ईश्वरीय पुस्तक के लेखानुसार हो रहा है जो अल्लाह के सिंहासन के पास सृष्टि के पहले से विद्यमान है। 'जीवत मरहु मरहु फुनि जीवहु पुनरपि जनम न होई' में पांडेय जी के अनुसार इस्लाम प्रत्यक्ष बोल रहा है। 'एक दिना है सोवनां, लांबे गोड़ पसारि' में क़ब्र में लेटने का संकेत है। इसके अतिरिक्त फ़ारसी शब्दावली प्रधान एक पद का हवाला देते हुए पांडेय जी ने निष्कर्ष निकाला है कि "क्या भाषा; क्या भाव, क्या विचार, क्या परम्परा सभी दृष्टियों से कबीर ज़िंद ठहरते हैं।"

किन्तु पांडेय जी की दृष्टि वस्तुतः एकांगी है। कबीर की वाणी में 'ज़िंद' शब्द का प्रयोग ज़िंदगी अथवा प्राण या जीवनी शक्ति के अर्थ में हुआ है, ज़िंदीक अर्थात् स्वच्छन्द सूफी के अर्थ में नहीं । 'चउथे पद मंदि जन की ज़िंद' का तात्पर्य है "दास कबीर के प्राण तुरीयावस्था में समाये हुए हैं।" धर्मदास कबीर के समकालीन नहीं सिद्ध किये जा सकते अतः उनके उल्लेखों को महत्त्व देना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। उन्होंने मथुरा के जिस ज़िंदा फ़क़ीर की चर्चा की है उसे कल्पना के आधार पर कबीर का अवतार मान लिया है, अतः हम उसे वैज्ञानिक विवेचन का आधार नहीं बना सकते।

भक्तमाल की टीका प्रियादास जी ने सं० १७६६ वि० में बनाई थी अर्थात् कबीर की मृत्यु के लगभग दो ढाई सौ वर्ष बाद। दो ढाई सौ वर्षों में किंवदंतियों का रूप क्या से क्या हो जाता है इसे बताने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की किंवदंतियों में तो कबीर विधवा ब्राह्मणी के पुत्र भी माने गये हैं, तब उसी मत को क्यों न प्रश्रय देकर उन्हें जन्मना हिन्दू मान लिया जाय ? इतना ही नहीं, एक कहानी के अनुसार तो उन्होंने अपनी

कन्या कमाली का विवाह सर्वाजीत नामक विद्वान् ब्राह्मण के साथ किया था।

उलटवाँसियों में 'बिटिया जायो बाप' जैसी उक्तियाँ नाथ योगियों की रचनाओं में भी मिलती हैं और उनकी परम्परा और भी अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। कहीं-कहीं यह शैली उपनिषदों तथा पुराणों में भी मिलती है। अतः ऐसी उक्तियों पर केवल सूफी प्रभाव ढूंढ़ना युक्ति-संगत नहीं।

संतों ने दीनता की अभिव्यक्ति के लिए अपने को कुत्ता कहा है। दीनता का भाव समान रूप से इस्लाम में भी है अतः अप्रस्तुत योजना में इस प्रकार का साम्य संयोगवश भी मिल सकता है।

जहाँ तक संस्कारों का प्रश्न है, कबीर की रचनाओं में मुस्लिम संस्कारों का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता अवश्य है, किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वे हिन्दू संस्कारों से भी ओतप्रोत हैं। यदि उन्होंने 'लावे गोड़ पसारि' जैसी उक्तियों का प्रयोग किया तो साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने हिन्दू प्रथा के अनुसार शव को जलाने आदि का भी चित्रण अनेक स्थलों पर किया है, यथा—

रोवनहारे भी मुए, मुए जलावनहार।
हा हा करते ते मुए, कासन करौ पुकार॥

—क० ग्रं० साखी १६-२३।

हाड़ जरै जैसे लकड़ी झूरी। केस जरै जैसे त्रिन कै कूरी॥

—क० ग्रं० पद ६२।

हिन्दुओं में पुत्रोत्पत्ति के समय थाल बजाने का प्रचलन है। कबीर ने उसकी ओर संकेत किया है—

बेटा जाये क्या हुआ, कहा बजावै थाल।

—क० ग्रं० साखी १६-४०।

'दुलहिनीं गावहु मंगलचार' वाले पद में विवाह की वेदी, वेद मंत्रों के उच्चारण तथा सप्तपदी आदि का उल्लेख उन्होंने किया है—

सरीर सरोवर वेदी करिहौं ब्रह्मां वेद उचारा।
रांमदेव संगि भांवरि लेइहौं धनि धनि भाग हमारा।।
—क० ग्रं० पद ५।

इतना ही नहीं, इसका छंद-विधान भी विवाह के अवसर पर हिन्दू स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले लोक-गीत के समान है।

जन्मान्तरवाद तथा कर्मवाद आदि के सिद्धान्तों में भी वे कहीं हिन्दू मतवाद का खंडन करते हुए नहीं दिखाई पड़ते। वस्तुतः भाग्यवाद इस्लाम तथा हिन्दू अथवा अन्य धर्मों में समान रूप से मान्य है। "लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं को समर्थः" अथवा "हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हाथ" इस प्रकार की उक्तियाँ ऐसे हिन्दू कवियों द्वारा कही गई हैं जिन पर मुस्लिम प्रभाव बिल्कुल नहीं माना जा सकता। मानव शरीर की रचना भी कबीर ने कहीं ज्योति से मानी है, कहीं खाक से और कहीं बिन्दु से। इन मान्यताओं के स्रोत कुरान में भी ढूंढे जा सकते हैं और वेद-उपनिषद् में भी। वस्तुतः भारत और अरब का सम्बन्ध बहुत पुराना है, अतः भारत में मुसलमानों के आगमन से बहुत पूर्व ही दोनों देशों की विचारधाराएँ एक दूसरे को प्रभावित करती रहीं। मुसलमानों के आगमन के पश्चात् तो विचारधाराओं का और भी अधिक आदान-प्रदान हुआ जिससे दोनों संस्कृतियों की समान मान्यताओं का उल्लेख हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों प्रकार के रचनाकारों में समान रूप से मिल सकता है। अतः इस तर्क के आधार पर किसी कवि की जाति का निर्णय करना समीचीन नहीं कहा जा सकता।

आचार्य हजारीप्रसाद जी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में आचार्य क्षितिमोहन सेन के मत का प्रतिपादन करते हुए त्रिपुरा की जुगी जाति के समान कबीर को योगियों के किसी ऐसे वर्ग से सम्बद्ध माना है, जिन्होंने थोड़े ही समय पूर्व इस्लाम धर्म ग्रहण किया था और जिनके परिवारों में हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों प्रकार के रीति-रस्म मनाये जाते थे। कबीर के देहावसान के सम्बन्ध में जो कहानी प्रचलित है उसके अनुसार ...

'शव' अदृश्य हो गया था और पुष्प मात्र बचे थे, उन्हीं को बाँटकर हिन्दुओं ने जलाया तथा मुसलमानों ने दफ़नाया। इस कहानी में जुगी जाति की परम्पराएँ छिपी हैं। त्रिपुरा के योगियों में पहले शव को जला कर फिर उसे गाड़ने की प्रथा है। द्विवेदी जी ने जन-गणना के आधार पर यह दिखाया है कि ऐसी जातियाँ समस्त उत्तरी भारत में फैली थीं। इनका मुख्य व्यवसाय भी सूत कातना अथवा वस्त्र बुनना था।

आचार्य द्विवेदी के पूर्व डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल भी इसी प्रकार का मत व्यक्त कर चुके थे। उन्होंने कबीरदास को जन्म से मुसलमान माना है और इस सम्बन्ध में रैदास तथा पीपा के उपर्युक्त साक्ष्य के अतिरिक्त दादू के शिष्य रज्जब का साक्ष्य भी उद्धृत किया है जिनका कथन है "जुलाहा प्रभे उत्पन्नो कबीर देवो महामुनिः।" अपनी जाति का निर्देश कबीर द्वारा 'कोरी' शब्द से करते हुए देखकर उन्होंने यह अनुमान लगाया कि कोरी ही मुसलमान धर्म में दीक्षित हो जाने पर जुलाहे हो गये। ऐसे कोरियों को जुलाहा हुए अभी इतने अधिक दिन नहीं हुए थे कि कोरी कहलाना वे अपना निरादर समझें। इसके अतिरिक्त कबीर की विचारधारा पर नाथ योगियों का अत्यधिक प्रभाव देखते हुए डॉ० बड़थ्वाल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "मेरी समझ से कबीर भी किसी प्राचीनतया कोरी, किंतु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियों का अनुयायी था।" (योगप्रवाह, पृ० १२६)। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने वस्तुतः बड़थ्वाल जी की ही स्थापना पर विस्तार से विचार किया है और अंततोगत्वा उसी को प्रतिपादित किया है। केवल इतना अंतर है कि द्विवेदी जी के अनुसार कबीर साहब का कुल कोरी जुलाहा बन कर जुगी लोगों द्वारा प्रभावित नहीं था अपितु सीधे जुगियों का ही इस्लामी रूप था।

कबीर की जाति के सम्बन्ध में डॉ० बड़थ्वाल और द्विवेदी जी का मत पर्याप्त समीचीन जान पड़ता है। इसीलिए बाद के विद्वानों ने यत्किंचित् मतभेद दिखलाते हुए भी इसी मत की पुष्टि की है, क्योंकि

कबीर की विचारधाराओं से इस मत का तालमेल ठीक-ठीक बैठ जाता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में इस मत की अंशतः पुष्टि करते हुए लिखा है: "यह सम्भव है और अधिक संभव है कि जुगी कहलाने वाली जाति पहले नाथ मत की अनुयायिनी रही होगी। ऐसी अनेक जातियों ने किसी न किसी कारण मुसलमानी प्रभाव में आकर कहीं-कहीं सामूहिक रूप में धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि काशी तथा मगहर के साथ विशेष संबंध रखने वाले कबीर का कुल क्रमशः सारनाथ और कुशीनगर जैसे बौद्ध तीर्थों के आसपास निवास करने वाले बौद्धों या उनके द्वारा प्रभावित हिन्दुओं में से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।...फिर भी जब तक हमें कबीर साहब के माता पिता, इनके पालन पोषण करने वाले अथवा इनके पूर्व पुरुषों का वास्तविक पता ज्ञात नहीं होता न उनकी पूरी जांच हो जाती है तब तक उन्हें हम केवल जुलाहा और सम्भवतः इस्लामी धर्म के अनुयायी जुलाहे कुल का बालक मान सकते हैं।" (उ० भा० की संत परम्परा, पृ० १४८)। चतुर्वेदी जी ने रहीम और रसखान का उदाहरण देकर यह दिखलाया है कि उनकी रचनाओं में मिलने वाले हिन्दू संस्कार को देख कर उनके भी मुसलमान होने में संदेह किया जा सकता है, किन्तु यह निर्विवाद है कि ये लोग मुसलमान कुल में ही उत्पन्न हुए थे और उनके पूर्व पुरुषों का हिंदू होना भी सिद्ध नहीं है। "अतएव कबीर साहब की रचनाओं में पाये जाने वाले भिन्न-भिन्न मतों या संस्कारों का सामंजस्य इनमें केवल किसी धर्मांतरित कुल मात्र के ही सहारे न करके इनकी परिस्थिति, पर्यटन, सत्संग, प्रतिभा तथा अन्य ऐसे कारणों के बल पर भी किया जा सकता है।"

अभी हाल ही में डॉ० विद्यावती मालविका ने "हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव" शीर्षक शोधप्रबंध में कबीर की जाति के सम्बन्ध में एक नया तथ्य प्रस्तुत किया है जो डॉ० बड़थ्वाल के विचार-सूत्र

को थोड़ा और आगे बढ़ाता है। डॉ० विद्यावती के अनुसार 'कोरी' अथवा 'कोली' वस्तुतः 'कोलिय' के ही विकृत रूप हैं। प्राचीन युग में यह एक प्रसिद्ध जाति रही है। स्वतः सिद्धार्थ गौतम की माँ महामाया कोलिय राजवंश की थीं। कोलियों का अपना एक जनपद था जिसकी राजधानी देवदह थी। पालि ग्रन्थों में इस जाति का विस्तृत परिचय दिया हुआ है जिसके अनुसार इनका मुख्य उद्यम खेती करना और वस्त्र बुनना था। इस कुल की महारानियाँ तक सूत काततीं और बुनती थीं। एक ग्रन्थ में गौतम बुद्ध को महाप्रजापती गौतमी द्वारा अपने काते-बुने वस्त्र भेंट करने का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में यह कोलिय जाति संपूर्ण देश में फैल गई थी और आज भी सम्पूर्ण भारत में इस जाति के लोग हैं जो अछूत न होते हुए भी अछूत माने जाते हैं। मध्य युग में यवन आक्रमणों से बौद्धों को बड़ा कष्ट भोगना पड़ा था। वे या तो इस देश से भाग गये या यहीं हिंदू धर्म में घुल मिल गये अथवा मुसलमान हो गये। डॉ० विद्यावती का विचार है कि कबीर के पूर्वज यही कोलिय राजपूत थे जो मुसलमान हो गये थे। यही कारण है कि कबीर की वाणियों में बौद्ध, हिंदू और इस्लाम धर्मों की विचारधारा के प्रमाण दीख पड़ते हैं। कबीर के परिवार वाले नये नये मुसलमान बने थे, किन्तु संस्कार उनके बौद्ध धर्म के ही थे, अतः वे हिन्दुओं तथा मुसलमानों की अनेक धार्मिक भावनाओं पर आघात करते थे। "संक्षेप में कहा जा सकता है कि कबीर की जाति कोरी थी जो प्राचीन कोलिय जाति से सम्बद्ध थी और जिसे जुलाहा नाम से भी पुकारा जाता था। इसीलिए कबीर ने अपने को जुलाहा और कोरी कहा है तथा इनमें भेद नहीं माना है" (पृ० १४३)।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि अधिकतर विद्वानों का झुकाव इसी बात को मानने की ओर है कि कबीर नवधर्मान्तरित परिवार में पोषित हुए थे जो पहले बौद्ध धर्म तथा नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित था और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मों का समान रूप से विरोध करता था।

समय

उपर्युक्त साक्ष्यों के अभाव में कबीर के जीवन-काल का निर्धारण भी अभी तक ठीक-ठीक नहीं हो पाया है। उनके जन्मकाल के सम्बन्ध में 'चौदह सौ पचपन साल गए' वाला छंद पहले उद्धृत किया जा चुका है। उसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियाँ और मिलती हैं—

> संवत बारह सौ पाँच में, ज्ञानी कियो विचार।
> काशी में परगट भयो, शब्द कहो टकसार ॥

इससे उनका जन्मकाल सं० १२०५ निकलता है जो अनेक दृष्टियों से अविश्वसनीय है। अतः इस प्रसंग में सं० १४५५ की ही तिथि अधिक मान्य है, किन्तु उनकी आयु अधिक या कम सिद्ध करने वाले विद्वान् प्रायः इस तिथि में सुविधानुसार परिवर्तन भी करते रहते हैं। गणना करने पर सं० १४५५ अथवा १४५६ ज्येष्ठ पूर्णिमा को सोमवार नहीं पड़ता, इसी आधार पर कुछ विद्वान् इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह करते हैं। किन्तु जैसा पहले संकेत किया गया, उक्त छंद में आया हुआ 'चंदवार' शब्द दिन का बोधक न होकर कदाचित् स्थान का बोधक है।

कबीर की निधनतिथि के सम्बन्ध में कबीरपंथी साहित्य में चार विभिन्न मतों के प्रतिपादक साक्ष्य प्रचलित हैं जो इस प्रकार हैं—

१. संवत पंद्रह सौ पचहत्तरा, किया मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादसी, रलो पौन में पौन॥
२. पंद्रह सौ औ पाँच में, मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदि एकादसी, मिल्यो पौन में पौन ;
३. पंद्रह सौ उनचास में, मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदि एकादसी, मिल्यो पौन में पौन॥
४. संबत पंद्रह सौ उनहत्तरा रहाई।
सतगुरु चले उड़ि हंसा ज्याई॥

पहले दोहे की दूसरी पंक्ति में कहीं-कहीं 'अगहन सुदि एकादसी' तिथि मिलती है। ये सभी छंद मौखिक परम्परा में प्रचलित रहे हैं और

उनके रचयिताओं का निश्चयपूर्वक निर्धारण करना बड़ा कठिन है। किन्तु सं० १५७५ वाला दोहा प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक गर्सां द तासी को सं० १८६६ में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय किसी स्रोत से मिला था जिससे प्रमाणित होता है कि यह दोहा उपर्युक्त सम्वत् से पूर्व भी प्रचलित रहा होगा। समस्त कबीरपंथी लोग इसी दोहे को प्रामाणिक मान कर कबीर के इहलीला-संवरण की तिथि निर्धारित करते हैं। 'कबीर कसौटी' के लेखक बाबू लहनासिंह कबीरपंथी ने जनश्रुति के आधार पर यह बताया है कि "श्री कबीरजी काशी में एक सौ बीस बरस रहकर मगहर को गए", काशी से 'माघ सुदी एकादशी, दिन बुधवार, स० १५७५' को उन्होंने मगहर के लिए प्रस्थान किया था। उसी दिन छः मंजिल की दूरी तय कर वे मगहर पहुँच गए थे और वहाँ वर्तमान आमी नदी के किनारे स्थित किसी संत की एक छोटी-सी कोठरी में दरवाजा बन्द कर लेट गये थे। थोड़े समय पश्चात् अलौकिक ध्वनि के साथ वे सत्यलोक को सिधारे। उनकी अन्त्येष्टि के सम्बन्ध में नवाब बिजली खाँ पठान और कबीर के एक अन्य शिष्य वीरसिंह बघेल में परस्पर संघर्ष उठ खड़ा हुआ, किन्तु कोठरी का ताला खोलने पर जब वहाँ केवल कमल के पुष्प और चद्दर ही मिले तो उन दोनों ने उन्हें आपस में बाँट कर अपनी-अपनी विधि के अनुसार उनकी अन्त्येष्टि क्रिया की। किंतु गणना करने पर सम्वत् १५७५ की माघ सुदी एकादशी (११ जनवरी १५१८ ई०) को मंगलवार पड़ता है न कि बुधवार। उसी संवत् की अगहन सुदी एकादशी को रविवार पड़ता है। सं० १५०५ की माघ सुदी एकादशी (३ फ़रवरी, १४४९ ई०) को सोमवार पड़ता है और उसी संवत् की अगहन सुदी एकादशी को शुक्रवार पड़ता है। अतः जनश्रुति के आधार पर उनके मगहर प्रयाण का जो दिन बताया गया है वह ठीक नहीं जान पड़ता। फिर भी अधिकांश विद्वान् सं० १५७५ को ही कबीर की निधन तिथि मानने के पक्ष में हैं। केवल आचार्य क्षितिमोहन सेन, डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल तथा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी आदि उनकी

निधन तिथि सं० १५०५ मानने के पक्ष में हैं।

'निर्भयज्ञान' आदि जीवनीपरक ग्रंथों में कबीर के जीवन से सम्बद्ध कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जिनका तालमेल बिठाने के लिए उपर्युक्त तिथियों में से किसी एक को प्रश्रय दिया जाता है। इन ग्रंथों में एक ओर तो उन्हें स्वामी रामानन्द (मृ० सं० १४६७ वि०) का शिष्य बतलाया गया है और दूसरी ओर सुल्तान सिकन्दर लोदी (शासनकाल १५४६-१५७४ वि०) तथा वीरसिंह बघेल और बिजली खाँ पठान का समकालीन माना जाता है। राजा शालिवाहन के पुत्र वीरसिंह बघेल का राज्यकाल सं० १५७० से १५९७ वि० तक था और १५५२ वि० में सिकन्दर लोदी से उनकी मुठभेड़ हुई थी। बिजली खाँ यद्यपि अवस्था में कुछ छोटा था, किन्तु वीरसिंह बघेल से उसकी समकालीनता असंभव नहीं जान पड़ती क्योंकि शेरशाह और हुमायूं के बीच हुए कनौज युद्ध (१९९७ वि०) में वह वर्तमान था। अतः कबीर की अन्त्येष्टि के सम्बन्ध में कबीर-पंथी साहित्य में जो कहानी मिलती है वह मध्यकालीन इतिहास के आलोक में नितांत अविश्वसनीय नहीं है, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं।[1] स्वामी रामानन्द से उनके शिष्यत्व-ग्रहण पर अधिक बल देने वाले विद्वान् सं० १५०५ को उनकी निधनतिथि मान कर उनका जन्म सं० १४५५ के और पूर्व ले जाने के पक्ष में हैं, क्योंकि रामानन्द की मृत्यु (१४६७ वि०) के समय कबीर केवल बारह वर्ष के सिद्ध होते हैं। दूसरी ओर सिकन्दर लोदी की समकालीनता पर बल देने वाले लोग सं० १५७५ को ही उनकी निधन तिथि मानने के पक्ष में हैं। शेष दोनों तिथियों की सम्भावना कई दृष्टियों से दृढ़ नहीं प्रतीत होती।

सं० १५०५ के पक्ष में कुछ अन्य साक्ष्य भी विचारणीय हैं। 'आर्कि-योलॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया' (भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण) की एक

---

१. विस्तार के लिए दे० 'सम्मेलन-पत्रिका' ५६।१-२ में 'कबीर और वीरसिंह देव बघेल' शीर्षक मेरा निबन्ध।

रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि बिजली खाँ ने बस्ती जिले के पूर्व में आमी नदी के दाहिने किनारे पर कबीर साहब का एक रौज़ा सन् १४५० (सं० १५०७ वि०) में निर्मित कराया था जिसका पुनरुद्धार नवाब फ़िदाई खाँ द्वारा ११७ साल पश्चात् सन् १५६७ या सं० १६२४ में कराया गया। इससे यह माना जा सकता है कि उनकी मृत्यु सं० १५०५ में हो गई थी, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् ही उनका रौज़ा या स्मारक बनवाना स्वाभाविक जान पड़ता है।

यह भी कहा जा सकता है कि पहले दोहे में जो "संवत् पन्द्रह सौ पचहत्तरा" कहा गया है उसका तात्पर्य भी कदाचित्, 'पंद्रह सौ पाँच' ही है। दादूपंथी राघवदास ने अपने भक्तमाल के रचना-काल के लिए "संवत् सत्रह सौ सत्रहोत्तरा" इस प्रकार लिखा है जिसका अभिप्राय सं० १७१७ ही ज्ञात होता है न कि सं० १७७०। इसी प्रकार कबीर साहब की मृत्यु का संवत् भी पहले 'पन्द्रह सौ पाँचोत्तरा' के सदृश प्रसिद्ध रहा होगा और कालांतर में बिगड़ते-बिगड़ते "पंद्रह सौ पँचहोत्तरा" अथवा "पन्द्रह सौ पचहत्तरा" हो गया होगा। "पंद्रह सौ पचहत्तरा" का अर्थ होगा : पन्द्रह सौ से पाँच बाद। इसी प्रकार 'सत्रहोत्तरा' का अर्थ है : सत्रह वर्ष बाद। तुलनीय हरिवल्लभकृत 'भगवद्गीता भाषा' में रचनाकाल का निर्देश—

सत्रह सै एकोतरा, माघ मास तिथि ग्यास।
गीता की भाषा करी, हरिवल्लभ सुखरास॥

(खोज रिपोर्ट १९०१।११७, सरोज सर्वेक्षण, पृ० ८०६ पर डॉ० किशोरीलाल गुप्त द्वारा उद्धृत)

यहाँ भी 'सत्रह सौ एकोतरा' का अर्थ है : सत्रह सौ से एक वर्ष पश्चात् या सं० १७०१।

किन्तु सं० १५०५ में उनकी मृत्यु मान लेने पर उनकी आयु के सम्बन्ध में एक कठिनाई उपस्थित होती है। सं० १४५५ में उनका जन्म मानने पर उनकी आयु केवल ५० वर्ष की ठहरती है, किन्तु कुछ विद्वानों

का मत है कि उनके सभी चित्र प्रायः प्रौढ़ावस्था के ही मिलते हैं अतः उनका जन्म कुछ और पहले मानना चाहिए। किन्तु जहाँ हमें उनकी निधनतिथि के सम्बन्ध में अनेक साक्ष्य प्राप्त होते हैं वहाँ उनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में प्रायः 'चौदह सौ पचपन साल गए' सम्बन्धी छंद ही अधिक प्रचलित है। अतः उसको परिवर्तित करना निरापद नहीं माना जा सकता। इस प्रकार सभी दृष्टियों से विचार करने पर उनकी जन्मतिथि के रूप में सं० १४५५ को लगभग निश्चयात्मक रूप में स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उनकी निधनतिथि के सम्बन्ध में अधिक निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सं० १५०५ अथवा सं० १५७५ दोनों के ही सम्बन्ध में समान रूप से विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध होते हैं। फिर भी कुछ सम्मान्य विद्वानों का झुकाव सं० १५०५ को ही उनकी निधनतिथि मानने की ओर होता जा रहा है (यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मैं कबीरपंथ में प्रचलित सं० १५७५ वि० को ही उनकी निधनतिथि मानने के पक्ष में हूँ)।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने धर्मदासकृत (?) 'द्वादश पंथ' के आधार पर सं० १५६९ को कबीर की निर्वाणतिथि माना है (कबीर-ग्रन्थावली, आगरा, भू० पृ० २)। आधारभूत पंक्ति को उन्होंने इस प्रकार उद्धृत किया है—

सुमंत पन्द्र सौ उनहत्तरा हाई।
सतगुर चले उड़ि हंसा ज्याई।

उनका कथन है कि "निर्वाण तिथियाँ टाँक लेने की सम्प्रदायों में परंपरा रही है। ...इसीलिए कबीरपंथी धर्मदास की दी हुई सं० १५६९ की तिथि अधिक निर्भरतायोग्य हो सकती है।"

किन्तु 'द्वादशपंथ' धर्मदास की रचना नहीं हो सकती क्योंकि उसमें उनके बाद के अनेक सम्प्रदायों का वर्णन है। दूसरे इस पंक्ति के पाठांतर भी मिलते हैं जिनपर डॉ० गुप्त ने विचार नहीं किया। 'बोधसागर' के सातवें खण्ड में संकलित 'कबीरबानी' नामक ग्रन्थ में यह पंक्ति

निम्नलिखित रूप में मिलती है—

संवत पंद्र सौ उनहत्तर आवैं।
सतगुरु चले उड़ीसा जावैं॥

इसी प्रकार 'स्वसम्वेदबोध' (बोधसागर खण्ड ६, पृ० १६६) में कहा गया है—

संवत पंद्रह सौ उनहत्तर।
देश उड़ैसे सतगुरु पग धर॥

इस प्रकार यह वस्तुतः कबीर के उड़ीसा-गमन की तिथि ज्ञात होती है न कि उनकी निर्वाणतिथि। 'उड़ीसा जावैं' अधिक सार्थक पाठ ज्ञात होता है जब कि 'उड़ि हंसा ज्याई' निरर्थक और विकृत जान पड़ता है।

कबीर के मगहर-प्रयाण तथा शव के अदृश्य हो जाने के सम्बन्ध में आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय का विचार है कि कबीर मुसलमानी ढंग से दफ़नाये अवश्य गये, परन्तु मगहर में नहीं। मगहर उस समय हिंदू शासन में था। कबीर के मुसलमान शिष्यों ने स्थिति को ताड़ लिया और शव को हटाकर एक नक़ली क़ब्र बना दी। राजा (वीरसिंह बघेल) आया और खुदवा कर देखा तो शव नहीं मिला। उसने इसे अलौकिक चमत्कार का फल समझ लिया और शव रतनपुर में (अयोध्या के पास) दफ़नाया गया (विचार विमर्श, पृ० १७)। प्रकारान्तर से इस घटना का उल्लेख धर्मदास के एक पद में मिलता है और रतनपुर में उनकी समाधि होने की पुष्टि मौलवी शेर अली 'अफ़सोस' तथा 'आइने अकबरी', 'खुलासातुत्तवारीख' आदि के उल्लेखों से होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस घटना से जुगी जाति की उस रस्म की ओर संकेत किया है जिसके अनुसार उनका शव पहले जलाया जाता है और फिर समाधि भी बनाई जाती है, किन्तु इस सम्बन्ध में भी अभी और अधिक खोज की आवश्यकता है।

२—कबीर का दर्शन

कबीर के सम्बन्ध में पहले कुछ विद्वानों की मान्यता थी कि उनका कोई विशिष्ट दर्शन या सिद्धांत नहीं, अशिक्षित होने के कारण उन्होंने जो कुछ भी सुन-सुना कर ग्रहण किया था, उसे अपनी उल्टी-सीधी अटपटी बानी में कह दिया। ऐसे विद्वानों के अनुसार "कबीर-दास कभी तो अद्वैतवाद की ओर झुकते दिखाई देते हैं और कभी एकेश्वरवाद की ओर, कभी वे पौराणिक सगुण भाव से भगवान को पुकारते हैं और कभी निर्गुण भाव से—असल में उनका कोई स्थिर तात्त्विक सिद्धान्त नहीं था।" किन्तु कबीर की वाणियों पर सहानुभूति-पूर्वक विचार करने से यह ज्ञात होता है कि उनमें तत्त्वचिन्तन बड़ा ही गम्भीर है और यद्यपि कबीर ने पुस्तक-ज्ञान का खण्डन किया है, किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि तत्कालीन दार्शनिक चिन्तन-प्रणालियों की उन्हें सूक्ष्म जानकारी थी। साथ ही स्वानुभूति की भी उनके पास कोई कमी नहीं थी जिसकी कि तत्त्वचिन्तन में सबसे अधिक आवश्यकता है। कबीर ने स्वतः इस बात की चेतावनी दे दी है कि कोई उनके गीत को साधारण गीत न समझें; क्योंकि इसमें उन्होंने अपना 'ब्रह्म विचार' और 'आतम साधन सार' अर्थात् अपना 'दर्शन' प्रस्तुत किया है—

तुम्ह जिनि जांनौ गीत है यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समुझाइया आतम साधन सार रे।

—कबीर-ग्रंथावली, हिन्दी परिषद् प्रयाग संस्करण, पद १०।

यहां हम उनके दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

दर्शन के अनेक अंग उपांग होते हैं। तत्त्वमीमांसा उसका प्रमुख अंग है जिसमें जीव, जगत् तथा ईश्वर और उनके पारस्परिक सम्बन्धों

की मीमांसा की जाती है। यहाँ इन्हीं पर क्रमशः विचार किया जायगा।

(क) कबीर का ब्रह्म-दर्शन

कबीर का ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अजन्मा, अचिन्त्य, अविगत और अलक्ष्य है। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया है कि जो जन्म या अवतार धारण करता है वह उनका ब्रह्म नहीं है। एक स्थान पर उन्होंने अपने 'साहब' को ठीक-ठीक समझाने के लिए पुराण प्रतिपादित अनेक अवतारों का उल्लेख कर यह बताया है कि उनका साहब इनमें से एक भी नहीं है। उसने दशरथ के घर राम के रूप में अवतार नहीं लिया और न लंका के राजा रावण को सताया। न तो उसने देवकी की कोख से जन्म लिया और न यशोदा ने उसे गोदी में लेकर खिलाया। ग्वालों के संग बन-बन फिरने वाला और गोवर्धन उठाने वाला कृष्ण कोई और है, ब्रह्म नहीं। वामनावतार धारण कर उसने बलि को छला नहीं और वाराहावतार धारण कर उसने धरती और वेद का उद्धार नहीं किया। गंडकी शालिग्राम बन कर वह उछलाकूदा नहीं और मच्छ-कच्छ बन कर पानी में डोला नहीं। नर-नारायन अवतार धारण कर बदरीनाथ में उसने ध्यान नहीं लगाया और परशुराम बन कर उसने क्षत्रियों को सताया नहीं। न तो द्वारावती में उसने शरीर का परित्याग किया और न उसका ज्योतिष्पिण्ड जगन्नाथ पुरी में गाड़ा गया। यह सब उपरले व्यवहार हैं। इन सबसे जो अगम्य है वही ब्रह्म रूप तत्त्व सर्वत्र परिव्याप्त हो रहा है—

नां जसरथ घरि औतरि आवा। नां लंका का राव सतावा॥
देवैं कोखि न औतरि आवा। नां जसवै लै गोद खेलावा॥
ना वो ग्वालन कै संगि फिरिया। गोवरधन लै नां कर धरिया॥
वांवन होइ नहीं बलि छलिया। धरनी बेद लै न ऊधरिया॥
गंडक सालिगरांम न कोला। मच्छ कच्छ होइ जलहिं न डोला

बद्री बैसि ध्यांन नहिं लावा। परसुरांम ह्वै खत्री न सतावा।
द्वारावती सरीर न छांड़ा। जगन्नाथ ले पिंड न गाड़ा॥
कहै कबीर विचारि करि, ए ऊले ब्यौहार।
याही तैं जो अगम है, सो वरति रहा संसार॥

—क० ग्रं० प्रयाग, रमैनी ३।

कारण यह है कि जो गर्भ में आवे और जो नाम धारण करे वह कबीर के अनुसार 'किरतिम' (=कृत्रिम) है—वह मौलिक तत्त्व नहीं हो सकता। वे बड़े भोलेपन से पूछते हैं "लोगो, तुम जो कहते हो कि कृष्ण नन्द का पुत्र है, तो फिर बताओ सही नन्द किसका पुत्र है? और जब धरती तथा आकाश दोनों नहीं थे, तब यह नन्द कहाँ था? चौरासी लक्ष योनियों में वह सामान्य जीवों की तरह भ्रमण करता रहा। यह कहो कि बिचारे के बड़े भाग्य जो उसके घर परमात्मा का अवतार हुआ!" लेकिन कबीर का उपास्य वह नहीं है जो जन्म लेता है और मरता है—

जनमै मरै न संकटि आवै नांव निरंजन जाको रे।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो जाको माई न बापो रे॥

—क० ग्रं० पद १५४।

इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पुराणप्रतिपादित अवतारवाद में कबीर का विश्वास एकदम नहीं है। जहाँ उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से परमात्मा के अनेक अवतारपरक नामों का उल्लेख किया भी है वहाँ उनका तात्पर्य पारमार्थिक दृष्टि से उसी त्रिगुणातीत निर्गुण ब्रह्म से है। इसका यह मतलब नहीं लगाना चाहिए कि उनकी निष्ठा इन अवतारों में उसी प्रकार की है जैसी कि पुराणों में मिलती है। विष्णु, कृष्ण, गोविन्द, राम, माधव, मधुसूदन, वनवारी, नरहरि, विट्ठल, केशव, चिन्तामणि, शिव, सारंगपाणि आदि अनेक नामों का प्रयोग उन्होंने अपने उपास्य के लिए किया है। यही नहीं, उन्होंने अनेक नाम इस्लामी स्रोत से भी ग्रहण कर लिये—जैसे अल्लाह, खुदा, करीम, रहीम, रब,

खसम, पैगम्बर, हजूर आदि। साथ ही सिद्ध तथा नाथ-संप्रदाय के माध्यम से आते हुए अनेक शब्दों को उन्होंने अपने ब्रह्म के स्पष्टीकरण के लिए अपना लिया—जैसे सहज, शून्य, उन्मन, सबद, अनहद, आदि। ऐसा करके उन्होंने सांप्रदायिक लक्ष्मण-रेखाओं को मिटाया और साथ ही इस तथ्य का उचित प्रतिपादन कर दिया कि जो अपरपार है उसके नाम भी अनन्त हो सकते हैं। हिन्दू-मुसलमान, नाथ-सिद्ध, वैष्णव-शैव आदि अनेक मत-मतांतरों के लोग अपने सम्प्रदाय में प्रतिपादित नाम को उत्तम तथा दूसरे को निकृष्ट मान कर परस्पर कलह करते थे। कबीर ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया। उनका विचार था कि सभी नामों से उसी एक का बोध होता है—

एक रांम देखा सबहिन में कहै कबीर मन मांनां।

—क० ग्रं० पद ५४।

इतना अवश्य है कि ईश्वर के अनेक नामों में कबीर को राम नाम सर्वाधिक प्रिय है। सम्भव है, यह उनके पूर्ववर्ती महात्मा रामानन्द का प्रभाव हो जो अपने समय के सबसे बड़े चिन्तक थे (कबीर को रामानन्द का साक्षात् शिष्य मानने के पक्ष में मैं नहीं हूँ)। अपने अधिकाश प्रेमोद्-गार उन्होंने राम को ही संबोधित कर निवेदित किये हैं। उनका विचार है कि वर्णमाला के बावन अक्षरों में से केवल 'र' और 'म' में ही चित्त लगाना चाहिए —"बावन अंषिर सोधि कै ररै ममैं चित लाइ" (क० ग्रं० साखी ३३-१)। किन्तु इस प्रसंग में हमें पुनः स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि कबीर का राम 'दशरथ सुत' नहीं है। यहाँ पर हमें भक्ति साहित्य की सगुण धारा कही जाने वाली दूसरी शाखा के अन्यतम कवि तुलसी तथा सूर के राम और कृष्ण से कबीर के राम का अन्तर भी समझ लेना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में जहाँ-जहाँ राम का अत्यधिक 'नर अनुहारी' वर्णन किया है वहाँ-वहाँ किसी व्यक्ति के मन में यह शंका उठवा कर कि क्या वह वही अज, अविनाशी ब्रह्म है,

उसका समाधान भी किसी योग्य पात्र द्वारा करवाया है। थके हुए श्रमिक की भाँति भूमि पर शयन करते हुए राम को देख कर निषाद को बड़ा विषाद होता है, जैसा कि किसी को भी हो सकता है। उस समय लक्ष्मण के द्वारा तुलसीदास जी ने उसके मोह का निरसन कराया है। तुलसी की दृष्टि में दशरथ सुत राम और निर्गुण ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। इसके प्रतिपादन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त अवसर उन्होंने बालकाण्ड की भूमिका में ही निकाल लिया है। पार्वती शंकर से वैसा ही प्रश्न करती हैं जैसा कबीर की शैली में सोचने वाला कोई भी व्यक्ति कर सकता है—

जो नृप तनय तो ब्रह्म किमि, नारि विरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमित बुद्धि अति मोरि॥

— बालकाण्ड दो० १०८।

इसके उत्तर में तुलसीदास जी ने शिव जी से कहलाया है—

कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिसाच।
पाषंडी हरि पद बिमुख, जानहिं झूठ न साँच॥११४॥
अग्य अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी॥

जितने भी गर्हणीय शब्द हो सकते हैं, उनका प्रयोग करके आगे शिवजी ने उन्हीं 'रघुकुल मनि' को अपना स्वामी घोषित किया और यह कहा—

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान॥
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रसंग के अनेक शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए यह संकेत उचित ही किया है कि इसको लिखते समय "तुलसीदास के मन में 'दसरथसुत तिहुँ लोक बखाना,

'राम नाम का मरम है आना' वाली कबीरपंथियों की उक्ति ही थी।" (कबीर, पृ० ११६)।

इसी प्रसंग में तुलसी ने तात्विक अन्तर की एक बात कही है कि "जिन्हके अगुन न सगुन विवेका,जलपहिं कल्पित वचन अनेका।" अर्थात् ब्रह्म के निर्गुण तथा सगुण रूपों में भेद दृष्टि उत्पन्न करना वे मिथ्या पाखंड मानते हैं। उनका मत है कि 'निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।' किन्तु बाद के कबीरपंथियों में अथवा 'अलख' 'अलख' चिल्लाने वाले निर्गुनियों में ब्रह्म के निर्गुण तथा सगुण अथवा अव्यक्त और व्यक्त रूपों के सम्बन्ध में चाहे जो भ्रम रहा हो; किन्तु कबीर की स्थिति इस सम्बन्ध में निर्भ्रांत है। जब वे कहते हैं कि—

अविगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठांम।
बहु विचारि करि देखिया, कोइ न सारिख रांम।

—क० ग्रं०, रमैनी २।

तब वे ब्रह्म के अव्यक्त तथा व्यक्त दोनों रूपों की अभेदता ही प्रतिपादित करते हैं। भक्त होने के नाते ब्रह्म के सोपाधिक रूप का वर्णन उन्होंने भी किया है। वे भी ब्रह्म को अरूप बताते हुए ऐसा रूपवान बताते हैं कि संसार की जितनी भी सुन्दर वस्तुएँ हैं सब उसी से सुन्दरता प्राप्त करती हैं; ऐसा समर्थ बताते हैं कि पशु-पंखेरू और जीवन-जन्तुओं की भी रक्षा वह करता है। कबीर कभी उसे जननी बताते हैं, अपने को उसका बालक कहते हैं, कभी उसे 'पीव' बता कर स्वयं 'तनक लहुरी बहुरिया' बनते हैं, कभी उसको अपना स्वामी बताकर स्वयं उसका कुत्ता बनते हैं। दूसरी ओर जब उसकी निर्गुणता का वर्णन करने लगते हैं तो केवल उसे अद्वैत बता कर ही संतुष्ट नहीं हो जाते बल्कि सिद्धों तथा नाथ योगियों के स्वर में स्वर मिला कर उसे द्वैत अद्वैत से भी परे द्वैताद्वैत-विलक्षण तथा भाव और अभाव अथवा अस्ति-नास्ति के परे भावाभाव-विनिर्मुक्त बताने लग जाते हैं—

एक कहौं तो है नहीं, दोइ कहौं तो गारि।
हरि जैसा तैसा रहै, कहै कबीर बिचारि ॥

नाथपंथियों के एक मान्य ग्रन्थ 'गोरक्षसिद्धांतसंग्रह' में इसी प्रकार की उक्तियाँ मिलती हैं और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि कबीर उस विचार-परम्परा से प्रभावित हैं; तुलना के लिए द्रष्टव्य—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्वं न जानंति द्वैताद्वैतविलक्षम् ॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना ॥

—ह० प्र० द्विवेदी, कबीर, पृ० २२ पर उद्धृत।

कबीर का अनुपम तत्त्व ऐसा है कि उसके मुँह माथा कुछ नहीं है। न वह रूपवान है, न कुरूप, वह पुष्प वास से भी अधिक सूक्ष्म है—

जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तैं पातरा, ऐसा तत्त अनूप ॥

—क० ग्रं० साखी ७-७।

कभी-कभी वे उसका वर्णन उपनिषदों की शैली में करने लग जाते हैं, जैसे न वह हल्का है, न भारी, न काला न सफ़ेद, न धूप न छाँह, न धरती, न आकाश, न रात, न दिन, वह सभी प्रकार के वर्णनों से परे है (क० ग्रं० रमैनी २)।

प्रश्न यह है कि कबीर एक ही साँस में इन दोनों परस्पर विरोधी लगने वाली बातों को कैसे कह जाते हैं? इसी विरोधाभास के कारण वस्तुतः लोग उनके संबंध में भ्रांत धारणाएँ बनाने लग जाते हैं। किन्तु यह शंका वस्तुतः ऐसे लोगों के मन में उठती है जो तुलसी के शब्दों में 'अगुन' और 'सगुन' का वास्तविक विवेक नहीं रखते अथवा ब्रह्म के अव्यक्त तथा व्यक्त रूपों में कोई भेद नहीं—ऐसा जो नहीं जानते। इस प्रसंग में स्वामी दयानंद सरस्वती के 'सत्यार्थप्रकाश' का साक्ष्य वस्तु-स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट कर सकेगा। 'परमेश्वर सगुण है या

निर्गुण ?' इस प्रश्न का उत्तर दयानंद जी ने दिया है—'दोनों प्रकार है।' 'किन्तु एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती है ?' इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा है, वह मनन करने योग्य है—

"जैसे जड़ के रूपादि गुन हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं। इसलिए, 'यद् गुणैस्सह वर्तमानं तत्सगुणम्। गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्।' अर्थात् जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें केवल निर्गुणता या केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनंत ज्ञान, बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।" (सत्यार्थप्रकाश, पृ० १०८)।

इस पृष्ठभूमि में 'अविगत अपरंपार ब्रह्म ग्यांन रूप सब ठांम' अथवा 'कहै कबीरा संत हो, परि गया नजरि अनूप', 'संतो धोखा कासू कहिए, गुन में निरगुन निरगुन में गुन बाट छोड़ि क्यू बहिए" आदि उक्तियों को यदि हम समझने का प्रयत्न करें तो कबीर में विरोधाभास कहीं नहीं दिखलाई पड़ेगा और साथ ही निर्गुण तथा सगुण के संबंध में जो भ्रांत धारणा प्रचलित हो गई है, उसके संबंध में भी कबीर की मान्यता का यथार्थ बोध हो सकेगा। किन्तु हमें इस बात का भी स्मरण रखना चाहिए कि कबीर की यह चिंतन-प्रणाली उपनिषदों अथवा वेदांत की ही चिंतन-प्रणाली से मेल खाती है, तुलसी अथवा सूर आदि की पौराणिक सगुणवादी अथवा अवतारवादी कल्पना से नहीं। यहाँ भी दयानंद तथा कबीर के विचारों में साम्य है। "संसार में निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहते हैं अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता तब निर्गुण और जब अवतार लेता है तब सगुण कहाता

है।" इस मान्यता के सम्बन्ध में दयानन्द जी ने यह उत्तर दिया है कि "यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है।" (सत्यार्थप्रकाश, पृ० वही)। मैं सोचता हूँ, यदि कबीर के सामने यह प्रश्न उठता तो वे भी इसका उत्तर वैसा ही देते जैसा दयानन्द जी ने दिया है। इस विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर में भी सगुण भावना है (यद्यपि बहुत से लोगों को यह बात चौंका देने वाली लगेगी), किन्तु यह सगुण भावना उपनिषदीय तथा वेदांती विचारधारा के अधिक निकट है, तुलसी या सूर आदि की पौराणिक अवतारवादी कल्पना से यह मेल नहीं खाती।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुराणों ने अथवा उनके अनुसरण द्वारा तुलसी, सूर आदि ने निर्गुण ब्रह्म को अपनी अतुलनीय काव्य-प्रतिभा के बल पर लोकरंजक स्वरूप में उतारने का जो महान् उपक्रम किया उसको मैं व्यक्तिगत रूप से अज्ञान अथवा अविद्वत्ताप्रसूत मानता हूँ। विशेष रूप से तुलसी ने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों की विराट् पृष्ठभूमि में राम के चरित्र की जैसी हृदयहारिणी झांकी प्रस्तुत की वह केवल हिन्दी में ही नहीं, अन्य साहित्यों में भी बेजोड़ है— भले ही तर्क की कसौटी पर अवतारवाद खरा न उतरता हो।

(ख) कबीर का आत्मदर्शन

कबीर ने आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहचान पर अत्यधिक बल दिया है। उनके अनुसार यदि कोई अपनेपन की पहचान कर अपना मन उलट ले तो उसे त्रिविध ताप से छुटकारा मिल जाय; क्योंकि मन की गति उलट देने पर वह सनातन हो जाता है। यह तब होता है जब कि आदमी जीवन्मृत हो जाय—

आपा जांनि उलटिल आप। तौ नहिं ब्यापै तीन्यू ताप॥
अब मन उलटि सनातन हूवा। तब जांनां जब जीवत मूवा॥

—क० ग्रं० पद १०७।

इसलिए उन्होंने बार-बार तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदि का खण्डन कर आत्मचिंतन का ही दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया है—

पूरब दिसा हरी का बासा पच्छिमि अलह मुकांमां।
दिल मंहि खोजि दिलै दिलि खोजहु इहंइँ रहीमां रांमां॥

—क० ग्रं० पद १७७।

यह उक्तियाँ ठीक वैसी ही हैं जैसी कि वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में उपनिषदों की हैं, यथा—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः (बृहदारण्यक २।४।५)।
आत्मेत्येवोपासीत् (वही १।४।७)।

कबीर के अनुसार आत्मा परम परमार्थ है। वह अनंत है, निर्गुण है, सर्वव्यापी तत्त्व है—वह सभी में समान रूप से समाविष्ट है—

अकल निरंजन सकल सरीरा।
ता मन सौं मिलि रहा कबीरा॥

—क० ग्रं० पद ४८।

यह आत्मतत्त्व न केवल मानव शरीर में, प्रत्युत समस्त संसार में परिव्याप्त है। न वह बालक है न बूढ़ा; न वह भेजने से कहीं जाता है न आज्ञा देने से कहीं आता है—वह सहज रूप में सारी दुनिया में रहता है—

मैं सबहिन्ह मंहि औरनि मैं हूं सब।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो।
नां हंम बार बूढ़ नांहीं हंम नां हमरै चिलकाई हो॥
पठएं न जाउं अरवा नहिं आऊं सहजि रहूं दुनियाई हो॥

—क० ग्रं०, पद ५३।

अथवा—

आदै गगनां अंतै गगनां मद्धे गगनां भाई।

—क० ग्रं० पद १६४।

इस प्रकार कबीर द्वारा किया गया आत्मवर्णन उपनिषद् एवं गीता

के अनुरूप है—इस कथन के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। गीता (२-२०) के प्रसिद्ध वाक्य हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

अर्थात् यह न जन्म धारण करता है, न मरता है। ऐसा भी नहीं कि वह कभी था ही नहीं, है नहीं अथवा होगा नहीं। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत एवं सनातन है। शरीर का हनन होने पर भी वह मरता नहीं।

इस प्रसंग में यह संकेत कर देना आवश्यक है कि बौद्ध दर्शन में आत्मा को शाश्वत या चिरंतन तत्त्व नहीं माना गया है; बल्कि शून्य को ही परम तत्त्व माना गया है। कबीर सिद्धों तथा नाथ-योगियों के माध्यम से बौद्ध विचारधारा से भी प्रभावित हैं; इसीलिए उन्होंने ब्राह्मण विचारधारा के मान्य ग्रन्थों—वेदों तथा शास्त्रों—का खंडन किया है। किन्तु हम देखते हैं कि उन्होंने अनात्मवादी बौद्ध दर्शन के सहज, शून्य आदि शब्दों को आत्मतत्त्व या परमपद का बोधक मान लिया है; यथा—

अैसें हम लोक वेद के बिछुरें सुन्निहि मांहि समावहिंगे।
—क० ग्र० पद ५७।

अथवा—

जहां नहीं तहां कछु जांनि। जहां नहीं तहां लेहु पिछांनि।।
नांही देखि न जइए भागि। जहां नहीं तहं रहिए लागि।।
—क० ग्रं० पद १२३

हिन्दी में कबीर के ही माध्यम से भारत की आत्मवादी तथा अनात्मवादी इन दोनों प्रधान चिन्ताधाराओं का समन्वय सर्वाधिक सफलतापूर्वक हो सका।

आत्मा तथा ब्रह्म की एकता

कबीर आत्मा और ब्रह्म में द्वैत भाव नहीं मानते। बूंद और समुद्र

का जो सम्बन्ध है, वैसा ही सम्बन्ध वे आत्मा और ब्रह्म में मानते हैं। दोनों को एक दूसरे से विलग करना असम्भव है—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समांनीं समुंद मैं, सो कत हेरी जाइ॥
—क० ग्रं० साखी ८-६।

अथवा जैसे जलाशय में पड़े हुए घड़े के भीतर-बाहर पानी रहता है। जब घड़ा फूट जाता है तब उसके भीतर का पानी बाहर के पानी से मिल जाता है, उसी प्रकार शरीर के न रहने पर आत्मा-परमात्मा एकमेक हो जाते हैं—

जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांनां यहु तत कथौ गियांनी॥
—क० ग्रं० पद १६४।

कबीर तो यह मानते हैं कि—"अते औरति मरद उपांनैं सो सभ रूप तुम्हारा" (पद ५२)। इसीलिए वे मुक्ति भी नहीं चाहते; क्योंकि मुक्ति उसको चाहिए जो अपने को पृथक् मानता हो। यहाँ तो बात ही निराली है—

जउ तुम मोकौं दूरि करत हो तो मोहि मुकुति बतावहु।
एकमेक रमि रह्यौ समनि मैं तौ काहे भरमावहु॥
तारन तरनु तबै लगि कहिये जब लगि तत्त न जांनां।
एक रांम देखा सबहिन मैं कहै कबीर मन मांनां॥
—क० ग्रं० पद ५४।

इस प्रकार के उदाहरण कबीर की रचनाओं में भरे पड़े हैं। उनको इस बात की पूरी प्रतीति है कि वे राम में मिल कर एकमेक हो जायेंगे। दुनिया के भोले लोगों से वे इस प्रकार कहते हैं—

जैसे जल जलहीं ढुरि मिलियौ त्यौं ढुरि मिला जुलाहा।
—क० ग्रं० पद २००।

और सच्ची बात तो यह है कि इस अद्वैत भावना का जैसा निष्ठापूर्ण

चित्रण कबीर में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना मुश्किल है। उनका अपना अनुभव है—

सहजैं सहज सब गए, सुत वित कांमिनि कांम।
एकमेक होइ मिलि रहा, दास कबीरा रांम॥
—क ग्रं० साखी ३४-३।

कबीर के अद्वैत और इस्लाम के एकेश्वरवाद का अन्तर

इन उक्तियों से कबीर के अद्वैतवाद और इस्लाम के एकेश्वरवाद का अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जाता है; किन्तु 'अल्लाह', 'खुदा', 'करीम' आदि इस्लाम धर्म के कुछ ईश्वरपरक नामों का प्रयोग करते हुए देख कर कुछ लोग कबीर को भ्रमवश एकेश्वरवादी मानने लगे हैं। वैसे कबीर भी वस्तुतः ईश्वर को एक ही मानते हैं जैसे कि इस्लाम मत में खुदा एक माना जाता है; किन्तु केवल ईश्वर को एक मान लेने से दोनों मान्यताओं में पूरी समानता नहीं हो सकती; क्योंकि ब्रह्म को एक तो कई भारतीय दर्शन-पद्धतियों में माना गया है। मुसलमानी मत के अनुसार ईश्वर सभी जगह, और जीवों से भिन्न तथा परम समर्थ माना गया है। इस मत के अनुसार 'बंदा' (=सेवक या जीव) 'खुदा' (=ईश्वर) कभी नहीं हो सकता। जीव को ब्रह्म के समकक्ष मानना इस्लाम में कुफ्र है। मंसूर हल्लाज को 'अनलहक' (=मैं ईश्वर हूँ) कहने के कारण सूली पर चढा दिया गया था। ऊपर कबीर की ऐसी अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं जिनसे यह निर्भ्रांत रूप में प्रमाणित हो जाता है कि कबीर ब्रह्म को सब में समान रूप से व्याप्त मानते हैं—चाहे कोई बड़ा हो या छोटा। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर तो उन्होंने स्पष्ट रूप से मुसलमानी मान्यता से अपना भिन्न मत व्यक्त किया है—

जोगी गोरख गोरख करै। हिन्दू रांम नांम उचरै॥
मुसलमांन कहै एकु खुदाइ। कबीर का स्वांमीं रहा समाइ॥
—क० ग्रं०, पद १२८।

अन्यत्र वे मुसलमानों की ही शब्दावली में उनको सावधान करते हैं कि 'देखो भाई, जान-बूझकर भ्रम में मत पड़ो। खालिक में खलक है और खलक में खालिक—घट घट में वह समाया हुआ है। उस अल्लाह की गति तुमने न जानी; मेरे गुरु ने मुझे बताया है, उनका उपदेश मुझे गुड़ के समान मीठा लगा है। मुझे तो पूरे को देखने के लिए परमपार दृष्टि प्राप्त हो गई है; क्योंकि मैंने प्रत्येक जीव में उस साहब के दर्शन किए' (जब कि तुमको वह नहीं दिखाई पड़ता)—

लोका जांनि न भूलहु भाई।
खालिक खलक खलक महिं खालिक सब घटि
रह्या समाई।।
ता अल्ला की गति नहिं जांनी गुर गुड़ दीन्हां मीठा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया सब घटि साहिब दीठा।।

—क० ग्रं० सभा संस्करण, पद ५१।

कदाचित् इससे अधिक स्पष्टता से उस मत का निरसन नहीं हो सकता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन इस सम्बन्ध में *सर्वथा मान्य है कि "जब कबीरदास राम और रहीम की एकता की* बात करते हैं तो उनका मतलब भारतीय परम्परा के 'अद्वैत ब्रह्म' को सामी धर्म के 'पैगम्बरी खुदा' के साथ घुला देना नहीं होता। वे अत्यन्त सीधी सी बात अत्यन्त सीधे तौर पर कहते हैं कि सृष्टि के रचयिता भगवान् को यदि मानते हो तो दो की कल्पना व्यर्थ है।" (कबीर, पृ० १३६-३७)।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि कबीर ने अनेकत्व को *मिथ्या कहा और एकत्व अथवा अद्वैत को सत्य तत्त्व बताया। उपनिषद्, गीता तथा शांकर अद्वैत द्वारा प्रतिपादित जीव और ब्रह्म की एकता* का कबीर ने पूर्णतः समर्थन किया है।

यथार्थ में आत्मा शुद्ध-बुद्ध, नित्य और मुक्त है, किन्तु *अविद्या या* माया के कारण जब शरीर का तादात्म्य अंतःकरण से हो जाता है तब

सुख-दुःख की प्रतीतियों से छुटकारा पाने की आवश्यकता जीव को होती है। वह अविद्या के कारण अपने को भ्रमवश स्थूल या सूक्ष्म शरीरी समझ लेता है। कबीर ने इस प्रकार के मोहग्रस्त जीवों का भी वर्णन किया है और उनकी अनेक कोटियों का उल्लेख करते हुए साधना तथा समदर्शिता की भावना द्वारा उनके उन्नयन का भी मार्ग बताया है। प्रत्येक जीव के अन्तःकरण, अनुभव, संस्कार तथा कर्म आदि पृथक्-पृथक् होते हैं, अतः जीव भी अनेक तथा पृथक् दिखाई देते है। किन्तु यह अनेकत्व की भावना मिथ्या, मायाजनित ही है। भिन्न-भिन्न जीवों के रूप में दिखलाई देने वाली आत्मा यथार्थ में एक ही है—जैसे एक ही आकाश भिन्न भिन्न घड़ों में रहने पर घटाकाश कहलाता है, किन्तु घड़ों के फूट जाने पर उसका एकत्व स्पष्ट होता है। कबीर ने इन तथ्यों के प्रतिपादन के लिए उन्हीं सब दृष्टांतों का सहारा लिया है जो अद्वैत वेदान्त में अत्यधिक प्रचलित रहे हैं। किन्तु माया का उच्छेद किए बिना न तो अनेकत्व की प्रतीति का नाश होता है और न उस एकत्व तथा सत्य तत्त्व की उपलब्धि होती है जिससे प्रेरणा प्राप्त कर कबीर ने कहा था—

एक रांम देखा सबहिन मैं कहै कबीर मन मांनां।

—क० ग्रं० पद ५४।

(ग) कबीर का माया-दर्शन

भारतीय तत्त्व-चिन्तन में मायावाद की परम्परा बड़ी पुरानी है। केवल न्यायवैशेषिक, विशिष्टाद्वैतवाद आदि दर्शनों को छोड़ कर भारत के सभी दर्शनों में—चाहे वे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, मायावाद का विशिष्ट स्थान है। वेदो मे रूप बदलने की क्रिया को माया कहा गया है। उपनिषदों में नामरूपात्मक जगत् को अविद्या, भ्रम तथा प्रकृति को माया कहा गया है। गीता में भी लगभग यही विचारधारा है। सांख्य की प्रकृति, अविद्या तथा अविवेक माया के ही पर्याय है। बौद्ध दर्शन में स्वप्नवाद और क्षणभंगुरतावाद मायावाद से ही प्रभावित

हैं। श्री भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार बौद्ध दर्शन में शंकराचार्य से ५००-६०० वर्ष पूर्व मायावाद प्रचलित था (डॉ० सहायक, कबीर-दर्शन, पृ० १८७); किन्तु इसका शास्त्रीय विवेचन सबसे पहले आचार्य शंकर ने किया। बाद में तो मायावाद सभी चिन्तकों का एक प्रधान विषय हो गया। मुस्लिम दर्शन में माया के स्थान पर शैतान का वर्णन आता है। योग दर्शन तथा नाथपंथ में भी अन्तराय तथा माया की चर्चा है।

कबीर का मायावाद उपनिषद्, गीता तथा शंकराचार्य के मायावाद से ही प्रभावित है। उस पर न तो मुस्लिम दर्शन का प्रभाव प्रतीत होता है (जैसा कि कुछ लोग भ्रमवश मानते हैं) और न अन्य किसी दर्शन का। शंकर ने अज्ञान, भ्रम या अध्यास को माया कहा है। शरीर को आत्मा समझ लेना, इन्द्रियादि को आत्मा मान लेना, रस्सी को अन्धकार में सर्प समझ लेना अर्थात् अवस्तु में वस्तु का आरोप होना मिथ्या ज्ञान है— 'अध्यासो नाम अनस्मिन् तद्बुद्धिः' (ब्रह्मसूत्र, शंकर भाष्य १।१।१)। कुछ वेदान्ती आचार्य प्रकृति या माया दो प्रकार की मानते हैं—विशुद्ध सत्त्व प्रधान और अविशुद्ध सत्त्व प्रधान। सरलतर भाषा में एक को विद्या माया और दूसरी को अविद्या माया कह सकते हैं। पहली ईश्वर की उपाधि है और दूसरी जीव की। इसीलिए कहा जाता है कि माया संसार को चला रही है, क्योंकि मायोपाधिक चैतन्य ही ईश्वर है।

कबीर की उक्तियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने माया को अविद्या—विशेषतया कनक कामिनी—से अलग करके नहीं देखा, यथा—

माया की झलि जग जला, कनक कामिनी लागि।

कबीर ने उसे डाइन, कामिनी, सर्पिणी आदि न जाने कितने तिरस्कार-सूचक नाम दिए हैं। वह इतनी दुराधर्ष है कि जन्म लेने के साथ ही जीव को धर दबोचती है; बड़े-बड़े योगी, यती तथा संन्यासियों को भी नहीं छोड़ती। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मान आदि

इसके सहायक हैं। 'यह मेरा है', 'यह तेरा है' इस प्रकार की भावना इसके प्रबल बन्धन के रूप में है जिसमें इसने सारे संसार को बाँध रखा है। काले सिर वाले जितने भी दुनिया में हैं, वह किसी को बिना धर्षित किए नहीं छोड़ती। उसके नाना रूप हैं—ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी बन कर रहती है, योगी के घर चेली हो जाती है, मुसलमान के घर कलमा पढ़ कर तुर्किन हो जाती है (क० ग्रं० पद १६०)। केशवके घर कमला होकर बैठ गई, शिव के घर भवानी हो गई। पंडा के घर मूर्ति बन गई और तीर्थों में पानी बन गई। किसी के घर हीरा हुई, किसी के घर कानी कौड़ी (क० ग्रं० पद १६३)। जितने चतुर चिकनिया हैं सब को यह मार गिराती है, कोइ बच नहीं पाता। मौनी बाबा, बीर बाबा, दिगम्बर बाबा, योगी बाबा, जंगम बाबा—कोई नहीं बचता। बचता वही है जो राम की शरण में हो (पद १६०)। इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ कबीर की मिलती हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर की रचनाओं में माया की धारणा अद्वैत वेदान्त के अनुसार ही है, और उसको हम अविद्या माया, विशेषतया कनक कामिनी, से अभिन्न मान सकते हैं।

(घ) कबीर का प्रकृति-दर्शन या जग-दर्शन

संसार के भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति या उनका विकास अथवा नाश किस प्रकार होता है, इन बातो का विवेचन प्रकृति-दर्शन के अन्तर्गत न किया जाता है जिसके लिए दार्शनिकों में चिन्तन की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हो गई हैं। जिस प्रकार तत्त्वान्वेषी ब्रह्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करते हुए 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से उस पर विचार आरम्भ करता है, उसी प्रकार कबीर ने भी एकाधिक स्थलो पर दृश्य जगत् के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की है कि वस्तुतः उसका मूल क्या है—

कहो भइया अंबर कासों लागा।
कोई जानेगा जाननहार सभागा ॥

अंबरि दीसै केता तारा।
कौन चतुर ऐसा चितरनहारा ॥

क० ग्रं० पद १२५ ।

यह विशाल आकाश किस पर टिका है—इसे कौन जान सकता है ? इस नीले पट पर इतनी तारिकाएँ चित्रित कर दी गई हैं—किस कुशल चित्रकार ने इसे बनाया ?

कबीर ने इस चित्रमय नाना रूपात्मक जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं मानी है, बल्कि उसके चित्रकार अर्थात् ब्रह्म को ही सच्चा माना है—

जिनि यहु चित्र बनाइया, सो सांचा सुतधार ।
कहै कबीर ते जन भले, चित्रवंतहि लेहि बिचारि ।

क० ग्रं० रमैनी १० ।

कबीर ने सृष्टि की उत्पत्ति कभी ओंकार से बताई (ओं ओंकार आदि है मूला—क० ग्रं० रमैनी १), कभी प्रकाश अथवा नूर से (एक नूर तैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा—क० ग्रं०, पद १८५) और कभी त्रिगुणात्मिका माया से इसकी उत्पत्ति बताई (सत रज तम थैं कीन्हीं माया । आपन मंझे आप छिपाया—क० ग्रं० सभा, पृ० २२५)। किन्तु उनका ओंकार अथवा प्रकाश उसी प्रकार ब्रह्म का द्योतक है जिस प्रकार वह उपनिषदों में बताया गया है। नूर से सृष्टि की उत्पत्ति बताने से कबीर को मुस्लिम विचारधारा से प्रभावित मान लेने का भ्रम नहीं करना चाहिए। उपनिषदों में भी ब्रह्म को अनेक बार ज्योतिस्वरूप बताया गया है। कबीर जब माया से सृष्टि की उत्पत्ति बताते हैं तब उनकी माया को सांख्य दर्शन की प्रकृति नहीं समझना चाहिए। सांख्य में 'पुरुष' की भाँति प्रकृति का भी स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है जब कि कबीर ने शंकराचार्य की भाँति उसे ब्रह्माश्रित माना है। वैसे कबीर की कुछ उक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सांख्य द्वारा वर्णित सृष्टि-विकास-क्रम भी अपना लिया है। सांख्य में प्रकृति को कारण मान कर उससे सत, रज, तम तीन गुण माने गए हैं। सांख्य के अनुसार

प्रकृति से पहले महत् उत्पन्न होता है और महत् से अहंकर और अहं-कार से मन, इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ होती हैं, फिर इन्हीं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंच महाभूतों का विकास होता है। इस प्रकार १ प्रकृति + १ महत् + १ अहंकार + ५ तन्मात्रा + १ मन + १० इन्द्रिय + ५ महाभूत = कुल २४ तत्त्व जिनमें इन सबसे पृथक् पुरुष तत्त्व को मिला कर कुल २५ तत्त्वों से सृष्टि का विकास माना गया है। इस विकास क्रम का विपरीत क्रम तिरोभाव या प्रलय है। इस मत में ईश्वर की मान्यता नहीं है, इसलिए इसे निरीश्वर-वादी दर्शन माना गया है। सांख्य के आदि आचार्य कपिल हैं जिनका समय कुछ लोग ७०० ई० पू० मानते हैं।

कबीर की रचनाओं में स्थान-स्थान पर सांख्य के इस विकास-क्रम का उल्लेख मिलता है, यहाँ तक कि एक स्थान पर लय योग के प्रसंग में उन्होंने इसके विपरीत क्रम या तिरोभाव का भी संकेत किया है, यथा—

बहुरि हंम काहे कौ आवहिंगे।
बिछुरें पंच तत्त की रचनां तब हंम रांमहिं पावहिंगे।
पिरथी का गुन पांनीं सोखा पांनीं तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे।

—क० ग्रं० पद ७५।

और केवल कबीर ने ही नहीं, हिन्दी के अधिकांश मध्यकालीन कवियों ने सांख्य का यह सृष्टि-विकास-क्रम अपनाया है, किन्तु एक मुख्य अन्तर यह है कि कबीर आदि में उसका रूप निरीश्वरवादी नहीं बल्कि सेश्वर-वादी है। श्री संगमलाल पांडेय का कथन ठीक है कि "हिन्दी के संतमत की परम्परा में सांख्य के अनेक सिद्धान्त मिलते हैं। लगता है कि यह सारी परम्परा सांख्य तथा बौद्ध दर्शनों के घात-प्रतिघात से बनी है, और

अंत में कहीं अद्वैतपरक हो गई है, कहीं द्वैतपरक।" (दे० हिन्दी साहित्य कोश, सांख्य, पृ० ८२८)। सांख्य और वेदांत के सृष्टि-विकास-क्रम में अंतर भी बहुत-थोड़ा है। शंकराचार्य स्वतः सांख्य सिद्धान्त को ग्राह्य मानते हैं, केवल इस अन्तर के साथ कि प्रकृति और पुरुष से भी परे जगत् का परब्रह्मरूपी एक मूल तत्त्व है, उसी से प्रकृति-पुरुषादि की सृष्टि हुई है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की यह मान्यता है कि "सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों को कबीर ने अद्वैतदर्शन के प्रभाव से आंका और सांख्य पर अद्वैत का रंग चढ़ा कर उसका वर्णन किया। कबीर ने सांख्य के प्रकृति और पुरुष को व्यावहारिक सत्य के रूप में ग्रहण किया। दोनों के संयुक्त रूप को ब्रह्म का व्यावहारिक व्यक्त स्वरूप माना और उसके परे अव्यक्त पूर्ण ब्रह्म की प्रतिष्ठा की।" (हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १९६)।

ब्रह्म और जगत् के संबंध को समझाने के लिए कार्य-कारण संबंधी कुछ दार्शनिक मत-मतान्तर प्रचलित हैं जिनमें से तीन प्रमुख हैं—आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। आरम्भवाद में कार्य को उत्पत्ति से पूर्व असत् माना जाता है। मिट्टी से घड़ा जब तक नहीं बन जाता तब तक वह असत् है। यह मत न्यायवैशेषिक का है। इस दर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण परमाणु है; इसीलिए इसे परमाणुवाद भी कहते हैं। परिणामवाद सांख्य मत का है। इसके अनुसार कार्य को उत्पत्ति से पूर्व भी सत् माना जाता है। दूसरे शब्दों में कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। घड़ा या दही बनने से पूर्व अव्यक्त रूप में मिट्टी या दूध में वर्तमान रहते हैं, बनने पर व्यक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार मूल प्रकृति वस्तुतः बदल कर जगत् के रूप में हो जाती है। विवर्तवाद मानता है कि कारण ही सत् है, कार्य नहीं। मिट्टी घड़ा बनने के पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। घड़ा न बनने के पूर्व था और न बाद में रहेगा। जो चीज आदि, मध्य और अन्त में सत् रहे वही सत् है। यह अद्वैत वेदान्तियों का सिद्धान्त

है। इसके अनुसार ब्रह्म ही सत् है, उसका परिवर्तन जो जगत् के रूप में होता है उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं—वह आभासमात्र है। अवास्तविक विकार ही (जैसे रस्सी में साँप का आभास) विवर्त कहलाता है।

कबीर ने आरम्भवाद को बिलकुल नहीं माना है, परिणामवाद को अंशतः माना है; विवर्तवाद का पूर्णतः समर्थन किया है। इसकी पुष्टि में उनकी अनेक उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। कबीर के अनुसार यह संसार बाजीगरी के खेल सा है। खेल झूठा है, बाजीगर ही सच्चा है—

बाजी झूठ बाजीगर सांचा कहे कबीर विचारी।

इस सम्बन्ध में कबीर ने जो दृष्टांत दिये हैं वे भी सब अद्वैतवादियों के दृष्टांतों से मिलते-जुलते हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि कबीर विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक नहीं प्रतीत होते। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही जाला पैदा करती है, वैसे ही ईश्वर अपने अन्तर से ही इस जगत् की सृष्टि करता है। इसलिए सृष्टि माया नहीं, वास्तविक है। इसीलिए इसके प्रधान प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य ने शंकर के मायावाद का खंडन किया है। किन्तु हमने यह देख लिया है कि कबीर स्पष्ट रूप से शांकर अद्वैतवाद के समर्थक हैं। उन्होंने जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं स्वीकार की है। दूसरी बात, जिसमें कि कबीर विशिष्टाद्वैतवाद से भिन्न पड़ते हैं, जीव विषयक मान्यता है। विशिष्टाद्वैतवाद में ईश्वर को अंशी और जीव को अंश माना गया है। यहाँ तक कि सायुज्य मुक्ति में भी, जो परम काम्य है, ईश्वर से उसकी भिन्नता बनी रहती है। तुलसीदास, जो विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक हैं, इसीलिए रामचरितमानस में 'भेदभगति' का ही वरदान अपने पात्रों से मँगवाते हैं (भेद भगति माँगेउ बिहंगवर)। कबीर व्यावहारिक दृष्टि से अंशांशी भाव अवश्य मानते हैं, किन्तु पारमार्थिक

रूप में वे जीव तथा ब्रह्म को एकमेक मानते हैं—

एकमेक ह्वै मिलि रहा, दास कबीरा रांम।

—क० ग्रं० साखी ४-३।

तीसरी भिन्नता यह है कि रामानुजाचार्य की यह स्थापना कि ईश्वर का ध्यान पांच रूपों में हो सकता है (जिनमें मूर्तिरूप भी सम्मिलित है), कबीर को मान्य नहीं। इन भिन्नताओं के साथ रामानुजाचार्य के साथ कबीर का एक मतैक्य भी है; और वह है भक्ति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में। रामानुजाचार्य ने भक्ति को कर्म तथा ज्ञान से भी ऊपर माना है। सब कुछ छोड़कर भगवान् की शरण में जाना (प्रपत्ति) भक्ति की पराकाष्ठा है। कबीर को (तथा अन्य मध्यकालीन भक्त कवियों को भी) प्रपत्ति मार्ग पूर्ण रूप से मान्य है, जिसके सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तार से विचार किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन के क्षेत्र में कबीर की अपनी एक सुनिश्चित विचारधारा है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद उन्हें अधिकांश रूप में मान्य है, किन्तु एक स्वतन्त्र चिन्तक की भांति उन्होंने अन्य दर्शनों से भी उपयोगी तत्व लेकर युग की आवश्यकता के अनुसार उसकी पूर्ति की है। आचार्य श्री विनोबा भावे का कथन उपयुक्त है कि "हमारे सन्तों की पाचन शक्ति प्रखर होने के कारण ये सारे भिन्न-भिन्न दर्शन उनको विरोधी नहीं मालूम पड़ते, बल्कि इन सब को वे एक साथ हजम कर लेते हैं।' (वियोगी हरि, सन्त सुधा सार, भू०)। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा लेकर उन्होंने भानुमती का कुनबा जोड़ दिया है। साथ ही हम यह भी मानने के पक्ष में नहीं हैं कि उन्होंने कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि की भांति दर्शन के क्षेत्र में ऐसी कोई नवीन उपस्थापना रख दी है जो चिन्तन की दिशा ही मोड़ दे। डॉ० बड़थ्वाल के शब्दों में 'ये दार्शनिक न होकर आध्यात्मिक महापुरुष मात्र हैं।' (हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, प्राक्कथन, पृ० ३)। इतना अवश्य है कि उनकी सूझ-

बूझ निराली है और कुछ बातों को सोचने-समझने का उनका अपना ढंग है। भाषा और अभिव्यक्ति तो उनकी निराली है ही जिससे सीधे-सादे शब्दों में कभी-कभी वे इतनी बड़ी बात कह लेते हैं जिसे केवल शास्त्रीय पद्धति से सोचने वाला तत्त्वज्ञ उतने सरल रूप में नहीं कह पाता। शास्त्रों के रूढ़ व घिसे-पिटे चिन्तन के स्थान पर उन्होंने सहज लोक धर्म की प्रतिष्ठा की। इसलिए उनमें उपनिषद् काल के ऋषियों के स्वतन्त्र चिंतन की सी ताजगी मिलती है।

○ ●

३—कबीर का समाज-दर्शन

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमने देखा कि कबीर-दर्शन की आधार-शिला अनेकत्व में एकत्व की स्थापना करने वाला अद्वैतवाद है। अज्ञान के कारण अनेकत्व हमारे जीवन के चारों ओर ऐसा फैल जाता है कि एकत्व की भावना का दम घुटने लगता है और हम पारस्परिक विरोध, घृणा आदि की अग्नि में निरन्तर जलते रहते हैं। जहाँ भेद-बुद्धि है, अनेकत्व की भावना है, 'मैं मेरी' की लक्ष्मण-रेखाएँ हैं, वहाँ अन्ततोगत्वा दुःख है और विनाश है। इस अग्नि को शीतल करता है प्रेम और एकत्व की भावना का जल। कबीर भी यह मानते हैं और संसार के अन्य अधिकांश विचारक भी; किन्तु कबीर जिस समय हुए थे उस समय भारतीय समाज के संचालकों में 'कथनी' और 'करनी' में बड़ा व्यवधान उपस्थित हो गया था। हिन्दू समाज का नियमन करने वाला ब्राह्मण वर्ग जहाँ सैद्धांतिक दृष्टि से एकता तथा समानता का हामी था वहाँ व्यवहार पक्ष में वह गुणकर्मानुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को मानता था जो कबीर के समय तक आते-आते गुणकर्मानुसार न होकर वस्तुतः कुल-जन्मानुसार हो गई थी। ब्राह्मण केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से अपने को उच्च मानता था, चाहे उसकी दिनचर्या वैश्य या शूद्र की ही क्यों न हो। दूसरी ओर शूद्र कुल में जन्म लेने वाला शूद्र की ही छाप लिए भरता था, चाहे उसके गुण-कर्म कितने भी श्रेष्ठ हों। यह स्थिति अब भी है, और केवल हिन्दू समाज में ही नहीं, दुनियाँ की सभी जातियों में और सभी देशों में किसी न किसी रूप में है—साम्यवादी कहे जाने वाले देशों तक में भी है। किन्तु जिस समय कबीर हुए थे उस समय कुल मर्यादा के झूठे अभिमान तथा बाह्याचार के थोथे जंजाल के कारण हिन्दू समाज का पतन हो रहा था।

बाह्याचार का विरोध

कबीरदास अनुभूतिमार्गी थे। शास्त्रीय आतंक जाल का भंडाफोड़ कर लोकाचार के निविड जंजाल को छिन्न-भिन्न कर निरावरण सत्य तक सहज ही पहुँचने की उनमें प्रतिभा थी। उन्होंने हिन्दू समाज की इन दो सबसे बड़ी कमजोरियों—कुल अभिमान और बाह्याचार—पर निर्मम आघात किया। वे कहते हैं "पण्डित वेदों को पढ़ गुन कर भी भ्रम में पड़ा हुआ है—अपना भेद आप ही नहीं जानता। अपने गुणों पर बड़ा गर्व करता है, लेकिन अधिक गर्व से किसी की भलाई नहीं होती। जो परमात्मा (उन्हीं ब्राह्मणों के अनुसार) गर्वप्रहारी है, वह गर्व कैसे सह सकता है ? इसलिए, ऐ पण्डित, कुल अभिमान का भाव छोड़ कर मुक्ति खोजो; क्योंकि निष्काम कर्म करने से ही मोक्ष मिलता है—ऐसा तुम्हारा ही कहना है। जब बीज अंकुर सहित विनष्ट हो जाता है तभी विदेही मुक्ति मिलती है। (जिस प्रकार भूना हुआ बीज बोने से अँखुए नहीं फूटते उसी प्रकार निष्काम कर्म करने से ही जन्म-मरण के बंधन से मोक्ष मिलता है—ऐसा शास्त्रों में बताया गया है)—

पंडित भूले पढ़ि गुनि वेदा। आपु अपनपौ जांन न भेदा।
अति गुन गरब करैं अधिकाई। अधिकै गरबि न होइ भलाई।
जासु नांम है गरब प्रहारी। सो कस गरबहिं सकै सहारी।
कुल अभिमांन बिचार तजि, खोजौ पद निरवांन।
अंकुर बीज नसाइगा, तब मिले बिदेही थांन॥

—क० ग्रं० रमैनी ७।

ब्राह्मण कर्मकांड को ही प्रधानता देता है जिससे तत्त्व ओझल हो जाता है। कबीर के अनुसार राम नाम ही समस्त तत्त्ववाद का सार है। उसे भुलाकर जितने भी आचार किए जाते हैं, सब बन्धन के कारण होते हैं। कबीर कहते हैं, "तुम ब्राह्मण हो, मैं काशी का (क्षुद्र) जुलाहा हूँ, लेकिन तुम्हें मेरे ज्ञान की परख नहीं है। तुम छोटे-मोटे राजाओं के

यहाँ याचना करते हो, मेरा ध्यान राम पर लगा है। ओछे कर्मों के कारण और तप विहीन होने के कारण मैं भी पूर्व जन्म मे ब्राह्मण बना, लेकिन राम की सेवा में चूक पड़ी, इसलिए उसने मुझे सजा दी और पकड़ कर जुलाहा बना दिया! (व्यंजना यह है कि अगले जन्म में कहीं तुम भी निकृष्ट जुलाहा न बना दिए जाओ!) हमको गोरु (पशु) बताते हो, खुद हमे चराने वाले ग्वाला बनते हो और जन्म-जन्म के रखवाले बनते हो, लेकिन रोज-रोज एक ही खेत मे बासी चारा चराते हो; कभी पार उतार कर चराते नहीं—कैसे मालिक हो? (तात्पर्य यह कि ब्राह्मण कर्मजाल में लोगों को उलझाता है जिससे न अज्ञान का नाश होता है, न भवबन्धन से मुक्ति मिलती है)। इसलिए कबीर जुलाहा ब्राह्मण को यह उपदेश देता है कि भवसागर तरने की युक्ति करो, और वह युक्ति यही है कि राम नाम का बेड़ा बाँधो।"

तू वांम्हन मैं कासी क जोलहा चीन्हि न मोर गियांनां।
तैं सब मांगे भूपति राजा मोरैं रांम धियांनां।
पूरब जनम हंम वांम्हन होते ओछे करम तप हीनां।
रांमदेव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीन्हां॥
हंम गोरू तुम गुआर गोसांईं जनम जनम रखवारे।
कबहूं न पारि उतारि चराएहु कैसे खसम हमारे।
भौ बूड़त कछु उपाइ करीजे ज्यौं तिरि लंघे तीरा।
रांम नांम जपि भेरा बांधो कहै उपदेस कबीरा॥

—क० ग्रं०, पद १८८।

इस पद में सन्निविष्ट व्यंजनाओं को न समझ सकने के कारण कुछ लोग कबीर के सम्बन्ध मे अनेक भ्रांत धारणाएँ बना लेते हैं। उनकी समझ से ब्राह्मण कुल में जन्म लेने की साध कबीर के मन में धरी ही रह गई। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। उनकी गूढ़ व्यंजना को स्पष्ट करने का प्रयास मैंने इस पद की व्याख्या में किया है (जिसे व्याख्या-भाग मे देखा जा सकता है)।

इस प्रकार 'कबीर-ग्रन्थावली' के अन्य पदों में भी हम देखते हैं कि कभी तो वे पंडित से कहते हैं कि "वेद पुराण पढ़ने से क्या लाभ, यदि उनका तत्त्व नहीं समझा ? यह तो वैसा ही है जैसे गधे की पीठ पर चंदन का बोझा लाद दिया। राम नाम का वास्तविक रहस्य नही समझा, तो पार कैसे लगोगे ? जीव हिंसा करते हो और उसको भी देवता की बलि कह कर शास्त्रविहित धर्म बताते हो तो कहो भाई, फिर अधर्म क्या है ? ऐसा करने पर भी आपस में मुनिवर बन बैठते हो तो फिर कसाई की क्या परिभाषा होगी ?" (क० ग्रं०, पद १९१)। कभी वे कहते हैं 'संसार जिसका पांव छूता है वही पंडित जीवघात करता है। स्वतः उच्च बनता है, नीचों के घर भोजन करता है।" आदि-आदि।

मुसलमानों के बाह्याचार का खंडन

इसी प्रकार उन्होंने मुसलमानो के भी बाह्याचार का खण्डन किया है। उनके वज़ू, नमाज़, सुन्नत आदि के विरोध में उनकी अनेक उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। उन्होंने मुसलमानों की हिंसा और ज़ुल्म का खंडन किया है। ख़ून बहाना और साथ ही मिसकीन (निरीह) कहलाना कबीर की समझ में नही आता—

खून करैं मिसकीन कहावैं गुनही रहै छिपाए।

—क० ग्रं०, पद १७७।

उनका कहना है कि दिल ही में खाजो, यही राम अथवा रहीम मिलेगा—

दिल महिं खोजि दिलै दिलि खोजहु इहई रहीमां रांमां। (वही)

वे सुन्नत और जनेऊ दोनों को कृत्रिम मानते हैं (रमैनी ६)।

कबरा और हिन्दू तत्त्ववाद

ऊपर कबीर की कुछ उक्तियाँ उद्धृत करने का मेरा एक विशिष्ट प्रयोजन है। कबीर का अत्यधिक सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने वाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "पौराणिक हिन्दू

मत को दूर पर बैठे हुए दर्शक की ही भाँति उन्होंने (कबीर ने) देखा था।" (कबीर, पृ० १३२) अथवा "वे यह जानते ही नहीं कि पंडित के पास भी तत्त्वज्ञान है, मोक्ष और अपवर्ग की व्याख्या है।" (वही, पृ० १३२)। मेरा विनम्र निवेदन है कि कबीर की बातों पर ध्यान देने से ऐसा लगता है कि हिन्दू मत की केवल ऊपरी जानकारी ही नहीं बल्कि उसके अधिकांश तत्त्ववाद की भी जानकारी उनको थी। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शास्त्रीय परिपाटी से उन्होंने उसका मनन-अनुशीलन नहीं किया था और न उसमें उनकी निष्ठा ही थी। मुसलमान धर्म के तत्त्वज्ञान की गहरी जानकारी भले ही कबीर को नहीं थी और इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी की स्थापना पूर्ण रूप से मान्य है कि "ऐसा नहीं जान पड़ता कि उन्होंने मुसलमान धर्म के बाह्याचारों के सिवाय उसके किसी अंग की गहरी जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की हो।" (कबीर, पृ० १३५)। किन्तु उनकी जितनी गहरी पैठ मुस्लिम धर्म में थी उतनी ही हिन्दू धर्म में भी थी; यह स्थापना पूर्ण रूप से मान्य नहीं प्रतीत होती। उदाहरण के लिए द्विवेदी जी कहते हैं कि "गलत हो या सही 'पंडित' यह विश्वास करता है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं है बल्कि एक अनादि कर्म प्रवाह का फल है। अगर उसे सचमुच निरुत्तर करना है तो उसे उस अनादि कर्म प्रवाह की युक्ति से भीतर से समझाना चाहिए या फिर जन्म-कर्म-प्रवाह के इस विश्वास को ही निर्मूल सिद्ध कर देना चाहिए।" (वही, पृ० १३१)। पहली बात तो यह है कि छूआछूत को अकेले कर्म प्रवाह का फल नहीं माना जा सकता; क्योंकि कर्मवाद मानने वाले और भी अनेक धर्म हैं किन्तु उनमें छूआछूत उस रूप में नहीं जिस रूप में कि हिन्दू धर्म में है। यदि मान भी लिया जाय तो कबीर ने उसे तात्त्विक दृष्टि से 'भीतर से' समझाने का प्रयास भी किया है—

कौन मरै कौन जनमैं आई।
सरग नरक कौनैं गति पाई॥

पंच तत्त अविगत तैं उतपनां एकै किया निवासा।
बिछरें तत फिर सहिज समांनां रेख रही नहि आसा।...
आदै गगनां अंतै गगनां मद्धे गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लागैं झूठी संक उपाई॥

—क० ग्रं०, पद १६४।

अब इसे छान्दोग्य उपनिषद् के इस वचन से मिलाइए—

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यानाकाशः परायणम् (१।९।१)।

अर्थात् इस लोक की गति क्या है? आकाश (ऐसा प्रवाहण ने कहा), क्योंकि ये सब प्राणी आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही अस्त होते हैं। आकाश ही महत्तम है, आकाश ही उनका परायण है।

डॉ० आनन्द कुमारस्वामी ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में प्रतिपादित किया है कि वस्तुतः आकाश वह वस्तु है जिसे वेदान्त सूत्रों में ब्रह्म और गणित में विन्दु या शून्य माना गया है। विश्व का मूल अव्यक्त अवस्था से व्यक्त में आता है, यह सृष्टि है—जैसे केन्द्रविन्दु का व्यक्त रूप परिधि है। फिर निवृत्ति की ओर गति होती है तो व्यक्त अव्यक्त में समा जाता है—वृत्त केन्द्र मे समा जाता है। इसी भाव को भास्कराचार्य ने बीजगणित मे अनन्त की परिभाषा करते हुए व्यक्त किया है—

अयमनन्तो राशिः खहर इत्युच्यते।
अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।

अर्थात् वह राशि अनन्त कहलाती है जिसमें हर भाग शून्य या विंदु हो। इस राशि में चाहे कितना ही जोड़ या घटा दें, कोई विकार नहीं उत्पन्न होता (दे० 'ख' आदि शून्यवाची शब्द एवं आकाश के साथ उनका दार्शनिक सम्बन्ध, विश्वभारती पत्रिका, खंड १, अंक १ जनवरी,

१९४२ ई०)। कबीर का तात्पर्य है कि समस्त नामरूपात्मक जगत् विघटित होने पर उसी एक अव्यक्त सत्ता में समाहित हो जाता है जिससे उसकी उत्पत्ति हुई, फिर कर्म किसे लगता है? उसकी पारमार्थिक सत्ता क्या है?

इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण भी दिए जा सकते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि हिन्दू तत्त्ववाद में कबीर की पैठ काफी गहरी है, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि उसकी पर्याप्त जानकारी से ही कबीर की अनेक उक्तियों का वास्तविक महत्त्व उद्घाटित हो सकता है।

कबीर का मानवतावाद

सच्ची बात यह है कि हिन्दी साहित्य में कबीर से बड़ा मानवतावादी कोई नहीं हुआ। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित समस्त अन्धविश्वासों, रूढ़ियों तथा मिथ्या सिद्धान्तों द्वारा प्रचारित सामाजिक विषमताओं का मूलोच्छेद करने का बीड़ा उठाया और निर्ममतापूर्वक सभी पाखंडों पर प्रहार किया। उन्होंने तत्कालीन सामन्तों तथा शासकों को लक्ष्य कर ऐसी अनेक बातें कही हैं जिनसे भौतिक ऐश्वर्यों पर आधारित उनके झूठे अभिमान का मूलोच्छेद हो। "सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में आज भी कबीर का काव्य एक तीखा अस्त्र है। कबीर से हम रूढ़िगत सामन्ती दुराचार और अन्यायी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध डट कर लड़ना सीखते हैं और यह भी सीखते हैं कि विद्रोही कवि किस प्रकार अन्त तक शोषण के दुर्ग के सामने अपना माथा ऊँचा रखता है।" (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा, डॉ० रामजी लाल सहायक द्वारा कबीर-दर्शन, पृ० ४३५ पर उद्धृत)।

वाह्याचार-खंडन की पूर्व-परंपरा

कबीर ने वाह्याचार-प्रधान धर्म की जो आलोचना की है उसकी बड़ी पुरानी परपरा है। एक ओर जब वेदों के कर्मकांड का बोलबाला था

तो दूसरी ओर व्रात्य लोग भी थे जो वेदों की तिल बराबर भी परवाह नहीं करते थे और अपना सहज स्वतन्त्र जीवन बिताते थे, अतः प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय संस्कृति के दो स्थूल विभाजन हो गए थे—वेदविहित तथा वेदबाह्य। आगे चल कर जैन तथा बौद्ध धर्म में वेदविरोधी स्वर स्पष्ट रूप से ओर पकड़ने लगा। बौद्धों की ही महायान शाखा में सिद्धों का आविर्भाव हुआ जिनमें से प्रथम और प्रभावशाली सिद्ध सरहपा ने आठवीं शताब्दी में अर्थात् कबीर से लगभग छः सौ वर्ष पूर्व ही कहा था कि "ब्राह्मण भेद की बात जानता नहीं, यों ही चारों वेद पढ़ा करता है। मिट्टी, पानी और कुश ले कर मन्त्र पढ़ा करता है और घर बैठ कर यज्ञ किया करता है। बिना काज ही होम कर कर उसके कड़ुवे धुएँ से अपनी आँखों को जलाता है या कष्ट देता है।" (दोहाकोश, राहुल सांकृत्यायन संपादित, दोहा १)। सरहपा कहते हैं, न घर में रहो न वन में, क्योंकि परम ज्ञान सब जगह बराबर स्थित है—

घरहि म थक्कु म जाहि वणें जहि तहि मण परिआण।

—डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, दो० को० १०३।

चित्त का निर्मल होना असली बात है, उसी का बराबर सेवन करो—

णिम्मल चित्त सहावता, करहु अविकल सेउ।

—बागची, दो० को० १०४।

अब इसे 'कबीर-ग्रन्थावली' की निम्नलिखित पंक्तियों से मिलाइए—

बनहि बस का कीजिअै जो मन नहि तजै विकार।
घर वन समसरि जिनि किया ते बिरला संसार॥
का जटा भसम लेपन किए कहा गुफा मैं वास॥
मन जीतें जग जीतिअै जौ बिखिया तैं रहै उदास॥

—क० ग्रं०, पद १७३।

जैन धर्म में भी इसी प्रकार बाह्याचार का खंडन मिलता है और जैनियों का भी लक्ष्य विशेष रूप से ब्राह्मणों का खंडन करना है; क्योंकि *बौद्ध अथवा जैन सिद्ध वेदविरोधी अथवा ब्राह्मणविरोधी विचारधारा के* हैं। कबीर भी परंपरा की दृष्टि से वेदविरोधी विचारधारा के हैं, यद्यपि वे बौद्धों अथवा जैनियों की तरह निरीश्वरवादी नहीं हैं। जैन मुनि रामसिंह के 'पाहुड़ दोहा' में अनेक दोहे ऐसे मिलते हैं जिनमें इसी प्रकार बाह्याचार का खंडन है। मुनि रामसिंह का समय दसवीं शताब्दी के आसपास बताया जाता है।

कबीर इन विचारों से परिचित तथा प्रभावित थे। यह परिचय उन्होंने सीधे उपर्युक्त संप्रदायों के ग्रन्थों या प्रचारकों से प्राप्त किया हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी विचार नाथ-संप्रदाय में अंतर्भुक्त हो गए थे और कबीर जिस वातावरण में पोषित हुए थे उससे सहज संस्कार के रूप में ये उन्हें प्राप्त हुए। कबीर नाम मात्र को ही मुसलमान परिवार में पोषित हुए थे, संस्कार उनके अधिकांश हिन्दू मत के हैं। वैष्णवों के प्रति उन्होंने बार-बार ममता दिखलाई है। बाह्याचारों के सम्बन्ध में उन्होंने जो अनेक टेढ़े-मेढ़े सवाल किए हैं उनका यदि विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि हिन्दुओं के बाह्याचार-खंडन में यद्यपि उन्होंने कोई नरमी नहीं दिखलाई है; फिर भी उसमें बेगानापन नहीं प्रतीत होता—ब्राह्मणों के प्रति वे अवश्य अपेक्षाकृत अधिक कठोर हैं। किन्तु मुसलमानों के बाह्याचार का खंडन तो उन्होंने ऐसी उद्दण्डता से किया है जिसकी कोई तुलना नहीं। सुन्नत के विरोध में वे जिस युक्ति का आश्रय लेते हैं वह समस्त खण्डनात्मक साहित्य में अपना सानी नहीं रखती (दे० क० ग्रं० प्रयाग, पद १७८)। आधुनिक विचारकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वसी ही अक्खड़ता से बाह्याचार और आडम्बर का विरोध किया है, किन्तु इस प्रकार की सीधी मार करने वाली चुभती कटूक्ति उनके 'सत्यप्रकाश' में भी नहीं मिलती। और यह उन्होंने तब किया जब कि लोदी

वंश के मुस्लिम शासकों की तूती बोलती थी और इस्लाम के खिलाफ कुछ कहना आसान काम नहीं था।

सहज धर्म

कबीर ने धर्म के सहज रूप पर बल दिया अर्थात् मनुष्य की सहज दिनचर्या में और धार्मिक दिनचर्या में कोई विभाजक रेखा न मानने पर बल दिया। उनके सहज धर्म का आचरण कभी भी किसी भी देश का कोई भी व्यक्ति कर सकता है। समदृष्टि इसका मूल मन्त्र है। एक महत्त्वपूर्ण पद में उन्होंने बताया है—

आपा पर सम चीन्हिए तब दीसे सरब समान।
इहिं पद नरहरि भेटिए तू छांड़ि कपट अभिमान रे।

—क० ग्र०, पद १०।

यही वह स्थिति है जहाँ सभी झगड़े और विवाद तथा विषमताएँ अपने आप समाप्त हो जाती हैं। इसी को कबीर मृत्यु पर जीवन की विजय मानते हैं।

समदर्शिता के साथ ही साथ उन्होंने अन्य नैतिक संयमों पर बल दिया है जिनमें सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, परोपकार, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, सत्संग आदि प्रधान हैं। उनकी रचनाओं में यद्यपि व्यक्तिगत साधना पर ही अधिक बल दिया गया है; किन्तु व्यक्ति समाज की इकाई है, अतः उसके उन्नयन पर व्यापक रूप से सारे समाज का उन्नयन अपने आप हो जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कबीर समष्टि-वादी हैं।

आर्थिक दृष्टि

समाज के आर्थिक पहलू में भी कबीर समरसता के पोषक हैं। जीवन-यापन के लिए धन आवश्यक है, किन्तु संचय वृत्ति आर्थिक विषमता को जन्म देती है जिससे वितंडावाद उपस्थित होता है। अतः उन्होंने इसका विरोध किया है। कई स्थलों पर 'मेरी मेरी' —

भावना का उन्होंने विरोध किया है। वे कहते हैं—"मेरी मेरी झूठ है, क्योंकि जब मरने के बाद कटिवस्त्र तथा कटिसूत्र तक तोड़ कर निकाल लिये जाते हैं तो यहाँ अपना क्या है?" (क० ग्रं० प्रयाग, पद ६५): इसी तरह एक अन्य पद में वे कहते हैं कि जैसे मधुमक्खी जोड़-जोड़ कर शहद इकट्ठा करती है उसी तरह आदमी धन जोड़ते-जोड़ते जब मर जाता है तब घर के ही लोग उसे तुरन्त बाहर निकालने की सोचते हैं (क० ग्रं०, पद ६८)। वे कहते हैं, जब 'मेरी मेरी' की भावना मिट जाती है तब प्रभु स्वयं आ कर काम सँवार देता है (वही, पद ७१)। वे 'पेट समाता' लेने को तो बुरा नहीं मानते, किन्तु 'गाठरी' बाँधने के विरोधी हैं—

संत न बांधै गाठरी, पेट समाता लेइ।

—क० ग्रं०, साखी ३२-६।

वे खिचड़ी से ही तुष्ट रहने का उपदेश देते हैं, क्योंकि गोश्त रोटी के सुस्वादु भोजन में किसी का गला अवश्य कटता है—

खूब खांन है खीचरी, जे टुक वाहे लौंन।
हेरा रोटी कारनं, गला कटावै कौंन॥

—क० ग्रं०, साखी २१-३।

धन की चिन्ता वे बेकार समझते हैं, क्योंकि स्वामी सर्वसमर्थ है। पशु-पक्षी तथा जीव-जन्तु की गाँठ में कहाँ की पूंजी है जिससे उनका जीवन-यापन होता है?—

चिंता छांड़ि अचित रहु, सांई है समरत्थ।
पसु पंखेरू जीव जतु, तिनकी गांठी किसा गरत्थ॥

—क० ग्रं०, साखी ३२-५।

लेकिन वे बिना उद्यम किए केवल पेट भरने को साधुवृत्ति अपनाने वालों को भी कस कर खबर लेते हैं।

मध्यम मार्ग

उन्होंने निवृत्ति को बुरा नहीं माना है, किन्तु उसके [illegible] आडम्बर को बुरा माना है। वस्त्र गेरुवा रंग में रँग कर अथवा मस्तक के बाल घुटा कर संन्यासी बनने की अपेक्षा वे मन को रँगना और मुड़ना अधिक पसंद करते हैं। इसीलिए उन्होंने ऐसे मध्यम मार्ग का उपदेश दिया जिसमें मुक्ति और भुक्ति दोनों हैं। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी निष्काम भक्ति भावना से निरासक्त आचरण करना उनके मध्यम मार्ग का मूल मन्त्र है, क्योंकि वे यह मानते हैं कि एक गृही भी बैरागी हो सकता है। गृही और बैरागी का अन्तर उनकी दृष्टि में बड़ा नाजुक है। बिरले ही इसे समझ पाते हैं—

> गावन ही मैं रोज है, रोवन ही मैं राग।
> इक बैरागी ग्रिह करै, एक ग्रिही बैराग॥
>
> —क० ग्रं०, साखी ३२-१३।

कबीर कोरे समाजसुधारक नहीं

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने केवल खण्डन के लिए खण्डन नहीं किया बल्कि जिस समाज में उन्होंने जन्म लिया था उसका पतन उनसे देखा नहीं जाता था और सारी विकृतियों के जो मूल कारण थे उनको सरे आम कहने की उनमें निर्भीकता थी, इसलिए उन्होंने खण्डन किया; और फिर उनके पास इन सारे रोगों की समर्थ औषधि थी—सहज भक्ति की संजीवनी। इसलिए उनके खण्डन में पूर्ण आत्मविश्वास का स्वर है।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि सहज भक्ति ही वस्तुतः उनका साध्य है, उसी की सिद्ध के लिए उन्होंने खण्डन को साधन रूप में अपनाया है, कबीरपंथ के विद्वानों के अतिरिक्त इसाई मिशनरियों ने सबसे पहले कबीर का अध्ययन किया और उन्होंने कबीर-

बीजक को ही अपना मुख्य आधार-ग्रन्थ बनाया, क्योंकि उस समय तक कबीर की रचनाओं का यही संकलन प्रकाश में आया था और इसी को सम्प्रदाय में सर्वाधिक मान्यता दी जाती है। बीजक में खण्डन पक्ष की उक्तियाँ बहुत अधिक हैं अतः पहले लोग उनके समाज-सुधारक रूप को ही पकड़े और इसी रूप में कबीर की ख्याति भी विदेशों में फैली। उन्हीं से प्रभावित होकर अनेक भारतीय विद्वान् भी कबीर को सर्व-धर्मसमन्वयकारी सुधारक मानने लगे। उनका विचार है कि हिन्दू, मुस्लिम धर्मों की कुरीतियाँ दिखा कर वे एक समझौते का मार्ग दिखाना चाहते थे जिससे देश की एकता सुरक्षित रह सके। समाजसुधारक होना कोई बुरी बात नहीं, किन्तु कबीर समाजसुधारक से भी बड़े भक्त हैं और उन्हें कोरा समाजसुधारक मानना उनके साथ अन्याय करना है। उन्होंने मनुष्य को मनुष्य मान कर उसका मूल्यांकन करना बताया। जातिगत, कुलगत तथा सम्प्रदायगत विशेषताएँ उनकी दृष्टि में गौण हैं। वस्तुतः वे उस ऊँचे धरातल पर खड़े थे जहाँ न मनुष्य हिन्दू है न मुसलमान—वह केवल मनुष्य है। निस्सदेह यह वैचारिक धरातल इतना ऊँचा है कि न केवल हिन्दू-मुसलमानों को बल्कि समस्त संसार को एकता के सूत्र से बाँध सकता है। फिर भी उनकी एकता की बात वैसी ही नहीं है जैसी किसी समाजसुधारक की होती है। सुधारक की दृष्टि में एकता साधन है और शांति उसका साध्य है। कबीर मानव एकता का प्रतिपादन इस-लिए नहीं करते कि उसके द्वारा उन्हें किसी इतर उद्देश्य की पूर्ति करना है। राजनीतिक दृष्टिकोण कबीर के सामने था ही नहीं। वे एकता का प्रतिपादन इसलिए करते हैं कि यही ठीक रास्ता है। इसके आधार पर हम यह भले ही कह सकते हैं कि उनके दिखलाए हुए मार्ग पर चलने से ही सुधार हो सकता है; किन्तु केवल इतने से ही हम उन्हें समाजसुधारक नहीं मान सकते। उनकी भक्ति का क्षेत्र वस्तुतः इतना विशाल और व्यापक है कि हम उन्हें सहज ही समाज-सुधारक भी मान सकते हैं; किन्तु सुधारवाद उनका साध्य नहीं; यह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के

शब्दों में केवल फोकट का माल (बाइ प्राडक्ट) है जो भक्ति के सिरते पर उन्हें मिल गया है।

आगे चल कर जब कबीर की वाणियों का पूर्ण और वास्तविक रूप सामने आया और आचार्य क्षितिमोहन सेन से प्रेरणा प्राप्त कर कवि-वर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी भूमिका के साथ उनके सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद छपवाया तथा अन्य समर्थ विद्वानों ने भी कबीर का अन्य अनेक दृष्टियों से अध्ययन करना आरम्भ किया तब कबीर के वास्तविक महत्त्व का उद्घाटन हुआ।

० ०

४—कबीर की भक्ति

जैसा पहले संकेत किया गया, पाश्चात्य शैली के शिक्षित समुदाय के सम्मुख सर्वप्रथम कबीर का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले ईसाई मिशनरी थे और आरंभ में कबीर की प्रामाणिक रचनाओं के नाम पर उनके हाथ 'बीजक' का ही संकलन लगा जिसमें खण्डनात्मक उक्तियों की प्रधानता होने के कारण लोग कबीर के समाजसुधारक रूप को ही ले उड़े और बहुत समय तक उनके सम्बन्ध में यह भ्रांतिपूर्ण धारणा चलती रही। किन्तु कालांतर में प्रकाशित उनकी अन्य वाणियों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि कबीर सबसे पहले वस्तुतः भक्त हैं—बाद में वे चाहे जो कुछ भी हों। परंपरा से भक्ति-साहित्य में एक दोहा प्रचलित रहा है, जो इस प्रकार है—

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानंद।
प्रगट करी कबीर ने, सप्त दीप नौ खण्ड ।।

इससे यह ज्ञात होता है कि साधारण जनता में कबीर उसी भक्ति के प्रचारक माने जाते रहे हैं जिसका आंदोलन द्रविड़ देश (दक्षिण भारत) में उभाड़ पर आया और जिसे दूसरे शब्दों में 'वैष्णव भक्ति' कह सकते हैं। 'गुरुग्रन्थसाहब' आदि प्राचीन संतवाणी-संग्रहों में भी कबीर के नाम के साथ 'भगत' विशेषण जुड़ा हुआ मिलता है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि मध्याकल से ही कबीर की ख्याति भक्त के रूप में अधिक थी, समाजसुधारक या योगी के रूप में नहीं।

हिन्दी भक्ति-साहित्य का कालक्रमानुसार अवलोकन करने पर हमें यह जानने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि तुलसी ने राममक्ति का जो विराट और आकर्षक वितान ताना उसके लिए सूत और ताना-बाना प्रस्तुत करने वाला यह जुलाहा ही था—यद्यपि ऊपर से देखने में दोनों

की निर्गुण तथा सगुण भक्ति में पर्याप्त अंतर दीख पड़ता है। तुलसी ने गोरखनाथ के ऊपर 'जोग जगा कर' भक्ति भगा देने का जो आरोप लगाया है (गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग) और भक्ति के पुनरुद्धार के लिए जो भगीरथ प्रयत्न किया उसकी बहुत कुछ पृष्ठभूमि कबीर ने पहले ही तैयार कर दी थी। हिन्दी भक्त कवियों में कालक्रम की दृष्टि से केवल नामदेव ही कबीर के पूर्ववर्ती हैं जिनका स्मरण यत्र-तत्र उन्होंने बड़ी श्रद्धा से किया है। नामदेव का जन्मकाल सन् १२७० और निधनकाल सन् १३५० ई० प्रसिद्ध है। कबीर का निधनकाल अधिकतर लोग सन् १५१८ (सं० १५७५) मानते थे, किन्तु अब उसे कुछ समय पूर्व मानने की ओर प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और सन् १४४८ (सं० १५०५ वि०) उनका निधनकाल माना जाने लगा है (दे० उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० ११५ तथा १३१)। प्रत्येक दृष्टि से नामदेव कबीर से लगभग सौ वर्ष पूर्व के सिद्ध होते हैं। उन्होंने हिन्दी में भी कुछ रचनाएँ की हैं जिनमें निर्गुण भक्तिपरक अनेक उक्तियाँ मिलती हैं। अतः हिन्दी में निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक वस्तुतः नामदेव को ही मानना चाहिए (दे० डॉ० विनयमोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० १२७ तथा डॉ० राजनारायण मौर्य, जर्नल आफ दि यूनिवर्सिटी ऑफ पूना, पृ० १२७-४० 'हिन्दी में संतमत के आदि प्रवर्तक संत नामदेव')। इस प्रकार कालक्रम की दृष्टि से हिन्दी के समस्त भक्त कवियों में कबीर का द्वितीय स्थान तथा हिन्दी प्रदेश के कवियों में उनका प्रथम स्थान पड़ता है। वैसे निर्गुण भक्ति की स्पष्ट रूपरेखा हिन्दी में कबीर के ही योगदान से निर्मित होती है अतः उनका विशिष्ट महत्त्व है। साधना की दृष्टि से भी नामदेव में संतमत की समस्त अनिवार्य विशेषताएँ नहीं मिलती।

भक्ति भावना का विकास

कुछ अनुसंधानकर्ताओं ने भक्तिभावना का आभास वेदों तक में दिखलाया है, किन्तु वैदिक देवभक्ति और परवर्ती भगवद्भक्ति में तत्त्वतः कुछ

मौलिक अंतर है। वैदिक भक्ति कर्मकाण्ड से ऊपर नहीं उठ पाई थी। वह साधनरूपा है, साध्यरूपा नहीं। उसके लिए भक्ति के आचार्यों द्वारा उपस्थापित सर्वाधिक प्रधान तत्त्व परम प्रेम आवश्यक नहीं था। दूसरी बात यह है कि उसका द्वार नारी, शूद्र आदि सब के लिए समान रूप से उन्मुक्त नहीं था।

भक्तिमार्ग का प्रमुख संप्रदाय भागवत धर्म है जिसके सबसे बड़े उपस्थापक श्री कृष्ण जो कहे जा सकते हैं जिनका आविर्भाव काल १४०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। सर्वप्रथम महाभारत के शांतिपर्व में ऐकांतिक अथवा भागवत धर्म की उत्पत्ति की कथा मिलती है। नर और नारायण नामक दो ऋषियों ने इसका सूत्रपात किया, इसलिए इसे नारायणी धर्म भी कहा जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि उत्तर भारत में पल्लवित होती हुई इस विचारधारा में बौद्धों तथा उनसे विकसित वज्रयान, सहजयान आदि के द्वारा जब अवरोध उत्पन्न हुआ तो भागवत धर्म के प्रचारक दक्षिण भारत के राजाओं के आश्रय में चले गए। दक्षिण के अलवार भक्तों के गीतों में इसी भावना की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। इनके भावपूर्ण गीत 'प्रबंधम्' में संगृहीत हैं। नवीं-दसवीं शताब्दी से तमिल प्रदेश में ही भक्ति का शास्त्रीय प्रतिपादन करने वाले आचार्यों का भी उदय होने लगा। कारण यह था कि आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद का उपस्थापन ऐसे तर्कों के आधार पर किया जिनसे भक्ति का पूर्ण सामंजस्य नहीं हो पाता था। आचार्यों की इसी परंपरा में यामुनाचार्य (आलबंदार) हुए जिन्होंने शंकर के मायावाद का खण्डन कर विशिष्टाद्वैत सिद्धांत और विष्णु की श्रेष्ठता का समर्थन किया और भागवत धर्म की प्रामाणिकता की स्थापना की, किन्तु इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास श्री रामानुजाचार्य (ग्यारहवीं शताब्दी) का है जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य की रचना कर भक्ति तथा प्रपत्ति (शरणागति) भावना को दृढ़ शास्त्रीय आधार दिया।

भक्ति के मूल प्रेरक तत्त्व दक्षिण भारत में कहाँ से आए, इस सम्बन्ध

में विद्वानों के अनेक मत है। डॉ० ग्रियर्सन आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भक्ति भावना पर इसाई धर्म का प्रभाव है। डॉ० तारा-चन्द तथा डॉ० कु० सीएच० यौदवील आदि मानते हैं कि भक्ति का प्रेम तत्त्व सातवीं-आठवी शताब्दी में दक्षिण भारत में आए अरब व्यापारियों के माध्यम से इस्लाम की देन है। किन्तु अब इन विचारों की कोई भी मान्यता नहीं रह गई है, कारण यह है कि भागवत धर्म में प्रेम तत्त्व का प्रादुर्भाव इसाइयों तथा मुसलमानों से उसके सपर्क के बहुत पहले ही हो चुका था। बल्कि इसी बात की संभावना अधिक है कि इसाई तथा इस्लाम धर्म ही कदाचित् भागवत धर्म से प्रभावित हों।

जो भी हो, बारहवी-तेरहवी शताब्दी तक भक्ति-आन्दोलन दक्षिण में पूर्ण प्रौढ होकर पुनः उत्तर की ओर अग्रसर हुआ। महाराष्ट्र में आ कर ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि के माध्यम से इसका संघटन गोरखनाथी योग धारा से हुआ जिसको इसने आत्मसात कर लिया। उत्तर भारत में आकर स्वामी रामानन्द के प्रभाव से बड़े प्रबल वेग से बगाल, असम से लेकर पश्चिम में पंजाब, गुजरात तक यह आन्दोलन छा गया। इस समय तक साहित्य की भी गतिविधि परिवर्तित हो रही थी और अपभ्रंश से पृथक् हिन्दी अपना स्वतन्त्र विकास कर चुकी थी। हिन्दी में इस भावना की अभिव्यक्ति निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों में हुई। पहली के सर्वप्रथम समर्थक कवि कबीर और दूसरी के तुलसी हुए। आगे चलकर कृष्ण भक्तों ने ब्रजमंडल में प्रचुर साहित्य-रचना कर इस आंदोलन को और भी पुष्ट किया। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में इसी क्रम-विकास को रूपक शैली मे इस प्रकार बताया गया है—

"मैं (भक्ति) द्रविड देश में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बढी, महाराष्ट्र में भी यत्किंचित् मेरा पालन-पोषण हुआ, किन्तु गुर्जर में जीर्ण हो गई (कदाचित् मुसलमानों के आक्रमण की ओर संकेत)। दुर्बलता को प्राप्त हो पुत्रों सहित धीरे-धीरे वृन्दावन में आई जहाँ मैं सुन्दर रूप प्राप्त कर युवती हो गई (श्लोक ४८-५०)।

भक्ति क्या है ?

व्युत्पत्ति की दृष्टि से कोशकारों ने भक्ति के अनेक अर्थ किए हैं—सेवा, आराधना, श्रद्धा, अनुराग, विभाग आदि। किन्तु भक्ति के शास्त्रीय ग्रंथों तथा पुराणों में इसका ग्रहण एक विशिष्ट अर्थ में होता है। भक्ति के प्राचीन ग्रंथों में *श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत शांति पर्व*, पांचरात्र संहिता, शाण्डिल्य सूत्र, नारद भक्तिसूत्र, भागवत पुराण, हरिवंश पुराण तथा रामानुजाचार्य आदि के ग्रन्थ प्रमुख हैं। इनमें भी श्रीमद्भागवत पुराण का स्थान बहुत ऊँचा है, क्योंकि अधिकांश आचार्यों ने प्रमाण रूप से इसका बार-बार उल्लेख किया है। भागवत में एक स्थान पर *व्यास ने कपिल के मुख से भक्ति की सारगर्भित व्याख्या कराई है।* उनके अनुसार वेदविहित कार्य में लगे हुए जनों की भगवान् के प्रति अनन्य भावपूर्वक स्वाभाविक सात्विक प्रवृत्ति का नाम भक्ति है। जिस प्रकार गंगा की धारा अखंड रूप से समुद्र की ओर बहती है उसी प्रकार सर्वांतर्यामी भगवान् के गुणश्रवण मात्र से प्रादुर्भूत उनके प्रति अविच्छिन्न मनोगति को भक्ति कहते हैं (भागवत ३।२५।३२ तथा ३।२६।११-१२)।

शांडिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में भक्ति का शास्त्रीय और संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। वे ईश्वरविषयक परानुरक्ति को भक्ति मानते हैं—सा परानुरक्तिरीश्वरे। उनके टीकाकार नारायणतीर्थ ने बतलाया है कि *प्रीति और भक्ति में कोई भेद नहीं।* परानाष्ठा पर पहुँची हुई भगवत् प्रीति ही भक्ति है (डॉ० उदयभानु सिंह, तुलसीदर्शन मीमांसा, पृ० २६१)। नारद के अनुसार भी ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है—सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। उपनिषदों और महाभारत का प्रमाण देते हुए *श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति के स्वरूप* की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है जिसके अनुसार स्नेहपूर्वक किया गया अनवरत ध्यान भक्ति है—स्नेहपूर्वं अनुध्यान भक्तिरित्युच्यते बुधैः। उन्होंने भक्ति को ज्ञान से उच्चतर प्रतिष्ठित किया। उपनिषद्, गीता आदि में जिस भक्ति को *ज्ञान का हेतु कहा गया है, वह सामान्या भक्ति है, प्रेमरूपा नहीं।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी ने भक्ति की प्रेमस्वरूपता तथा शरणागति या प्रपत्ति पर विशेष बल दिया है। अतः पूर्ण निष्ठा के साथ भगवान् की शरणागति, बिना शर्त भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण का भाव—यही भक्ति की पहली और अंतिम शर्त है।

कबीर के विचार

हम देखते है कि वही कबीरदास जो आडम्बरों का खंडन करने में अत्यन्त कठोर और कही-कही अशिष्ट तक लगने लगते है, भगवान् के प्रति 'आत्मसमर्पण' के प्रसंग में आश्चर्यजनक रूप से कोमल हो जाते हैं। जिस प्रकार कुत्ता अपने स्वामी के हाथों में पूर्ण समर्पण कर देता है उसी प्रकार कबीर अपने गले की डोर राम को सौंप देते हैं—

कबीर कूता रांम का, मुतिया मेरा नांउं।
गले रांम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउं॥
—क० ग्रं०, साखी ६-१।

उनका मत है कि जो 'भाव भक्ति' से हरि की आराधना नही करता वह जन्म-मरण के चक्र से छूट्टी नही पाता। भाव भक्ति तथा विश्वास के बिना संशय का निराकरण नही होता और न मुक्ति ही मिलती है—

भाव भगति सौ हरि न अराधा।
जनम मरन की मिटी न साधा॥
भाव भगति विसवास बिनु, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिनु, मुकुति नहीं रे मूल॥
—क० ग्रं०, रमैनी १।

उनकी दृष्टि से भक्ति इतनी आवश्यक है कि जो आदमी जन्म ले कर भक्ति नही करता वह महान् अपराधी है। उसे जन्म लेते ही मर जाना चाहिए—

जिहि नर रांम भगति नहिं साधी।
सो जनमत कस न मुवो अपराधी॥
—क० ग्रं०, पद ६४।

कबीर और वैष्णव भक्ति

उन्होंने वैष्णव भक्त का स्मरण बड़े स्नेह से किया है। अपना पक्का साथी वे दो को ही मानते हैं—पहले वैष्णव को और फिर राम को—

मेरे संगी दोइ जनां, एक वैस्नौ एक रांम।
वो है दाता मुकुति का, वो सुमिरावै नांम॥

—क० ग्रं०, साखी ४-५।

उस सुन्दरी को वे धन्य मानते हैं जिसका पुत्र वैष्णव भक्त हो। उसी का पुत्र जनमाना सार्थक है। शेष संसार को वे निपूता ही समझते हैं (कबीर धनि सो सुंदरी, जिनि जाया वैस्नौं पूत।)।

इतना ही नहीं, वे अपनी भक्ति को 'नारदी भक्ति' बताते हैं और कहते हैं कि अगर 'नारदी भक्ति' नहीं मिलती तो व्यर्थ की कृच्छ्र साधना से क्या?

भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछि तनु दीनां।

—क० ग्रं०, पद ७६।

नारद, शांडिल्य आदि भक्ति के प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं और उनके भक्तिसूत्रों का बड़ा महत्त्व है। नारद ने अपने भक्तिसूत्र में भक्तिलक्षणविषयक तीन पूर्ववर्ती मतों की चर्चा की है। पहला मत व्यास का है जिनके अनुसार भगवान् की पूजा आदि में अनुराग भक्ति है। दूसरा मत आचार्य गर्ग का है जो भगवान् की कथा आदि के प्रति उत्पन्न अनुराग को भक्ति मानते हैं। तीसरा मत शांडिल्य का है। नारद के कथनानुसार शांडिल्य आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना भक्ति मानते (यद्यपि शांडिल्य भक्तिसूत्र १।१।२ में उसे स्पष्ट रूप से 'परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर के प्रति पराकाष्ठा पर पहुँची हुई अनुरक्ति या प्रेम ही बताया गया है)। चौथा मत स्वतः नारद का है जिसके अनुसार भगवान् के प्रति अपने समस्त कर्मों को अर्पित करना और उनका विस्मरण होने पर परम व्याकुल होना ही भक्ति है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे व्याकुलतेति (भ० सू० १६; डॉ० उदयभानु सिंह, तुलसी दर्शन मीमांसा, पृ० २७६ के आधार पर)।

कबीर-वाणी में ऐसी अनेक उक्तियां मिलती हैं जिनसे ज्ञात होता है कि नारद का उल्लेख उन्होंने निष्प्रयोजन नहीं किया है। नारद द्वारा बताए हुए दोनों ही लक्षण कबीर में अपनी पराकाष्ठा में मिलते हैं। दूसरा अर्थात् व्याकुलता का तत्त्व तो कदाचित् अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा उनमें प्रगाढ़तर रूप में वर्तमान है। वैसे तो इन दोनों भावनाओं के अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में मिल जायेंगे, किन्तु यहाँ उनके क्रमशः एक-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।

तदर्पिताखिलाचारिता का भाव—

मेरा मुझमें कछु नहीं, जो कछु है सो तेरा॥
तेरा तुझकों सौंपतां, क्या लागै मेरा॥

—क० ग्रं०, साखी ६-२।

व्याकुलता का भाव—

है कोई अैसा पर उपकारी हरि सौं कहै सुनाइ रे।
अब तौ बेहाल कबीर भए हैं बिहै देखे जिउ जाइ रे॥

—क० ग्रं०, पद १३।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने 'कबीर की विचारधारा' (पृ० ३०८—१०) में कबीर और नारद के एक अन्य विचार-साम्य की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। नारद ने प्रेमा भक्ति की ग्यारह आसक्तियाँ बतलाई हैं (ना भ० सू० ८२) जो इस प्रकार हैं—गुण-माहात्म्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति तथा परमविरहासक्ति। कबीर में इन सभी आसक्तियों के उदाहरण ढूंढ़े जा सकते हैं। उदाहरण के लिए जब वे कहते हैं कि सातों समुद्रों का जल मसि के रूप में प्रयुक्त किया जाए और समस्त वनराजी को लेखनी तथा पृथ्वी को कागद बना

लिया जाय तब भी हरि के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता तो वे गुणमाहात्म्यासक्ति की अभिव्यक्ति करते हैं। इसी प्रकार यद्यपि वे अरूप ब्रह्म के उपासक थे, किंतु भक्तिभाव से यत्र-तत्र उन्होंने उसके सोपाधिक रूप का वर्णन भी किया है, इसलिए रूपासक्ति के उदाहरण भी उनकी रचनाओं में मिल जायँगे। अन्य आसक्तियों के उदाहरण भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। किन्तु इन आसक्तियों की अभिव्यक्ति केवल कबीर में नहीं, सभी भक्त कवियों में स्वाभाविक रूप में मिलती है। डॉ० उदयभानु सिंह ने तुलसी की रचनाओं में भी ग्यारहों आसक्तियों के उदाहरणों का संकेत किया है (दे० तुलसी-दर्शन-मीमांसा, पृ० २७८-७९)। सूर आदि की रचनाओं में भी इस प्रकार के उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं।

भक्ति के भेद

वस्तुतः विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से भक्ति के भेदोपभेद किए हैं। वह कभी द्विधा बताई गई, कभी त्रिधा, कभी चतुर्धा, कभी षड्विधा, कभी नवधा, कभी एकादशधा और कभी चतुर्दशधा। इनका यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि प्रकारांतर से सभी में एक ही प्रकार की विशेषताओं का संख्याभेद अथवा क्रमभेद के साथ विवेचन किया गया है। उदाहरणस्वरूप श्रीमद्भागवत में श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नौ भेद भक्ति के बताए गए हैं। नारद की स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति एवं सख्यासक्ति श्रीमद्भागवत के स्मरण, दास्य एवं सख्य से अभिन्न हैं। इनकी पूजासक्ति में उसके पादसेवन, अर्चन, वंदन का अंतर्भाव माना जा सकता है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर नारद द्वारा उल्लिखित आसक्तियों में से केवल दो-एक ऐसी बचती हैं जिनका अन्तर्भाव यद्यपि भागवत की नवधा भक्ति में है किन्तु वहाँ उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं प्रदान किया गया है, जैसे कांतासक्ति और वात्सल्यासक्ति। इस प्रसंग में एक विशेष बात लक्ष्य करने की यह है कि इन अनेक भेदोपभेदों में प्रायः वैधी भक्ति का समावेश रहता है

और कबीर की आस्था शास्त्रविधि से की जाने वाली नवधा आदि भक्तियों में नहीं थी। फिर भी उनकी वाणियों में इनके मानसिक या आध्यात्मिक रूप अवश्य मिल जाते हैं। वे भी सतगुरु द्वारा कहे हुए प्रसंग को सुन कर प्रेम के बादल की वर्षा से सर्वांग भीग जाते हैं (क० ग्रं० साखी १-३४)। राम-राम पुकारते-पुकारते उनकी भी जीभ में छाले पड़ जाते हैं और पपीहे के समान वे पी-पी की रट लगाते हैं (वही, साखी २-३६, २-४८)। स्मरण उनकी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ करती हैं और छठाँ मन भी उनका साथ देता है (वही, साखी ३-१५)। यद्यपि उनका उपास्य स्थूल शरीरधारी नहीं है किन्तु भावविह्वलता में 'चरन कंवल चित लाइए' (वही, पद १०) द्वारा पादसेवन का भी उल्लेख उन्होंने किया है। इसी प्रकार अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन भी कबीर की रचनाओं मे मिल जा ेगे।

प्रपत्ति के विभिन्न अंग भी कबीर की रचनाओं में मिल जाते हैं। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' मे कहा गया है—

आनुकूल्यस्य सकल्पः प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरण तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

अर्थात आराध्य की इच्छा के अनुकूल कार्य करना, उसके प्रतिकूल कार्य न करना, उसके रक्षक रूप मे पूर्ण प्रतीत रखना, एकात में उसके गुणों का वर्णन करना, आत्मसमर्पण तथा कार्पण्य या दैन्य भाव की अभिव्यक्ति—प्रपत्ति के ये छह अग हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से ज्ञात हो जायगा कि कबीर की भक्ति मे ये सभी अंग वर्तमान हैं—

(१) आनुकूल्यस्य संकल्पः —

प्रीति रीति तो तुज्झ सौं, मेरे बहु गुनियाले कंत।
जौ हंसि बोलूं और सौं, तौ नील रंगाऊं दंत।

—क० ग्रं०, साखी ११-७।

(२) प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्—

मूरिख संग न कीजिअै, लोहा जल न तिराइ।
—क० ग्रं०, साखी २४-११।

(३) रक्षिष्यतीति विश्वासः —
चिंता छांड़ि अचिंत रहु, सांई है समरत्थ।
—क० ग्रं०, साखी ३२-५।

मोहि भरोसा इस्ट का, बन्दा नरकि न जाइ।
—साखी ३२-७।

(४) गोप्तृत्वे वरणम्—
बहु विचारि करि देखिया, कोइ न सारिख रांम।
—रमैनी २।

(५) आत्मनिक्षेप—
कहा करउं कैसे तिरउं भव जलनिधि भारी।
राखि राखि मेरे बीठुला जनु सरनि तुम्हारी॥
—क० ग्रं०, पद ३६

(६) कार्पण्य—
तुम्ह समसरि नांहीं दयालु मोहि समसरि पापी।
—क० ग्रं०, पद ३६।

उपर जिन विशेषताओ की चर्चा हुई वे वस्तुतः प्रेमा भक्ति की विभिन्न मानसिक अथवा परिस्थितिजन्य अभिव्यक्तियां हैं। इनके लिए पृथक्-पृथक् 'भक्ति' शब्द का प्रयोग उपचार मात्र है। भगवत्प्रेम ही वस्तुतः भक्ति का प्राण है। इसीलिए प्रीति तत्त्व पर शाडिल्य, नारद आदि आचार्यों, भागवत, विष्णु आदि पुराणों तथा नारायणतीर्थ आदि भक्तिसूत्र-टीकाकारों ने सब से अधिक बल दिया है। तुलसी, कबीर, सूर आदि ने भी इस सहज आसक्ति के मर्म को भलीभांति समझा था, इसीलिए उनकी रचनाओ मे भक्ति के प्राण अर्थात् प्रेम की रक्षा करने की सामर्थ्य है। विष्णुपुराण मे कहा गया है कि जिस प्रकार अविवेकी जनों

की प्रीति विषयों में होती है उसी प्रकार की आसक्तिपूर्ण किन्तु अनपायिनी प्रीति तुम्हारा (भगवान् का) स्मरण करते हुए मेरे हृदय मे हो। अथवा जैसे युवतियों की प्रीति युवकों में और युवकों की युवतियो में होती है वैसे ही तुझमें रमण करते हुए मन अनुरक्त हो—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।
युवतीनां यथा यूनि यूनाञ्च युवतीष्वपि॥
मनोभिरमन्ते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि॥

'रामचरितमानस' का अन्तिम दोहा इन उक्तियों से तुलनीय है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

कबीर की भी निम्न पंक्तियो को इन्हीं के साथ रख लीजिए—

अन्न न भावै नीद न आवै ग्रिह बन धरै ना धीर रे।
ज्यों कांमी कौ कांमिनि प्यारी ज्यों प्यासे कौं नीर रे।

—क० ग्रं०, पद १३।

अथवा

सहजैं-सहजैं सब गए, सुत बित कांमिनि कांम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दास कबीरा रांम॥

—क० ग्रं०, साखी ३४-३।

यही वस्तुतः भक्ति का रहस्य है। इस तत्त्व के अभाव में अन्य सारे लक्षण-उपलक्षण मिल कर भी भक्ति को 'अमृतस्वरूपा' नहीं बना सकते।

निर्गुण भक्ति

उपर्युक्त समान विशेषताओं के बावजूद कबीर और तुलसी अथवा सूर आदि की भक्ति में एक मुख्य अन्तर निर्गुण और सगुण भाव का है।

भजनीय के स्वरूप-भेद से भक्ति के मुख्यतया दो भेद हो जाते

हैं—निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति। इसलिए शांडिल्यभक्तिसूत्र की टीका 'भक्तिचन्द्रिका' में नारायणतीर्थ ने सगुणशरणता और निर्गुण-शरणता की चर्चा की है। निर्गुण भक्ति केवलाद्वैती आत्मज्ञानी की निराकारब्रह्मविषयक भक्ति है। सगुण भक्ति साकार भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम आदि से सम्बद्ध है। आचार्य बादरायण के अनुसार निर्गुण भक्ति का पर्यवसान 'सोऽहं' बुद्धि में होता है और सगुण भक्ति का पर्यवसान 'दासोऽहं' बुद्धि में। इसलिए इन्हें क्रमशः 'अभेद भक्ति' और 'भेद भक्ति' भी कहा गया है। आचार्य शांडिल्य को अभेद (निर्गुण) और भेद (सगुण) दोनों ही रूप मान्य हैं।

कबीर और तुलसी की भक्ति में अन्तर

शांडिल्य की भाँति तुलसीदास भी समन्वयवादी हैं, अतः उन्हें निर्गुण मत की अभेद भक्ति यद्यपि अमान्य नहीं, किन्तु उनकी दृष्टि में भेद भक्ति ही श्रेष्ठ और मान्य है—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।
अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ।
फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥

—मानस ३।१३ ६-७

उन्होंने सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि के द्वारा भी निर्गुण की अपेक्षा सगुण भक्ति की श्रेष्ठता पर अधिक बल दिया है। यहाँ तक कि उनके उपास्य राम स्वयं कहते हैं—

सगुन उपासक पर हित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिन्हके द्विज पद प्रेम।

—मानस ५।४८।

उनके दशरथ, शरभंग आदि 'भेद भक्ति' का ही वरदान माँगते हैं—

दसरथ भेद भगति मन लावा (६।११२।३)।

भेदभक्ति की मर्यादा तुलसी को इतनी मान्य एवं प्रीतिकर है कि

वे दास्य भक्ति को ही आदर्श भक्ति मानते हैं, क्योंकि उसमें भेद बुद्धि अनिवार्य है जब कि माधुर्य भाव (जो सूर आदि को इष्ट है) में भेद की अनिवार्यता नहीं दीख पड़ती। इसीलिए वे स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

—मानस, उ० कांड।

तुलसी की इन उक्तियों के पीछे श्री रामानुजाचार्य का सिद्धान्त बोल रहा है। विशिष्टाद्वैत में परमात्मा अंशी माना जाता है और जीव उसका अंश। अंश अंशी कभी नहीं हो सकता। उसके अनुसार मुक्तियाँ चार प्रकार की होती हैं। उनमें से चौथी अर्थात् सायुज्य मुक्ति ही विशिष्टाद्वैतवादियों की चरम प्राप्तव्य स्थिति है। इसे कैवल्य मुक्ति भी कहते हैं। किन्तु इस मुक्ति में भी जीव और ईश्वर के व्यक्तित्व भिन्न बने रहते हैं। इसलिए तुलसी के आदर्श पात्र मुक्ति में भी भेद भक्ति का वरदान माँगते हैं।

कबीर रामानुज के प्रपत्ति मार्ग (शरणागति) से प्रभावित हैं किन्तु उनका लक्ष्य अन्त में राम से मिल कर एकमेक हो जाना है—

एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दास कबीरा रांम।

—क० ग्रं०, साखी ३४-३।

जो जन भाउ भगति कछु जांनैं ताकौ अचरजु काहा।
जैसे जल जलहीं ढुरि मिलियौ त्यौं ढुरि मिला जुलाहा॥

—क० ग्रं०, पद २००।

क्या निर्गुण भक्ति संभव है ?

प्रायः यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि मूर्त आधार के अभाव में क्या निर्गुण भक्ति संभव है ? भक्ति के लिए तो भक्त और भजनीय का द्वैत अपेक्षित है। कबीर अपने और भगवान् के बीच जब अभेद मानते हैं तो फिर भक्ति किसकी ? इस शंका का उत्कृष्ट समाधान डॉ० दासगुप्ता ने इस प्रकार किया है कि भक्ति के स्वरूप को दृढ़ता प्रदान

करने के लिए हो भक्त और भगवान् के दार्शनिक अभेद का निरूपण किया गया है । इससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि अनुरक्ति के द्वारा अनुभूत एकत्व दर्शन द्वारा समर्थित है—

The assertion of the philosophic identity of the self and the Brahman is only for the purpose of strengthening the nature of Bhakti. It merely shows that the oneness that is felt through attachment can also be philosophically supported.

A History of Indian Philosophy, Vol. IV P.353.

कबीर के दार्शनिक विवेचन के प्रसंग मे मैंने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि कबीर का निर्गुण ब्रह्म वस्तुतः अभाव का सूचक नहीं है । उसमें भी सगुणता वर्तमान है, क्योंकि जहाँ कबीर उसकी सार्वकालिक सत्ता स्वीकार करते हैं वहीं से उसकी सगुण कल्पना का आरंभ हो जाता है । जिसका अस्तित्व है उसमें गुणो का भी आरोप किया जा सकता है । लक्ष्य करने की बात केवल यह है कि उसमे जड़तादिक धर्मों का आरोप करना (जैसे जन्म, मृत्यु आदि) कबीर को मान्य नहीं है । निराकार ब्रह्म जब अनुभवगम्य माना जा सकता है तो क्या वह उपासनीय नहीं माना जा सकता ? संत ज्ञानेश्वर ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि परा भक्ति का अनुभव भक्त को उसी समय पूर्ण रूप से हो सकता है जब वह परमात्मा के निर्गुण रूप से तादात्म्य प्राप्त कर ले (डॉ० केदार नाथ द्विवेदी, कबीर और कबीरपंथ, पृ० १२६ पर डॉ० मालती श्रीखंडे के विचार) ।

यहाँ एक अन्य तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक है कि शंकराचार्य आदि ने भी भक्ति के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है, किन्तु उसे ज्ञान के साधन रूप में ही माना है । 'विवेकचूडामणि' में उन्होंने भक्ति का ज्ञानात्मक लक्षण दिया है—स्वरूपानुसंधान को भक्ति कहते हैं । कबीर शंकर के अद्वैतवाद के समर्थक हैं, किन्तु भक्ति को वे रामानुज के समान साध्यरूपा ही मानते हैं, यद्यपि ज्ञान का तिरस्कार उतनी

मात्रा में करते हुए वे नहीं जान पड़ते जितनी मात्रा में हिन्दी के कुछ सगुण भक्तों ने किया है। उन्होंने ज्ञान को भक्ति के साधन रूप में स्वीकार किया है।

भक्ति के अन्य साधन

ज्ञान के अतिरिक्त योग में भी कबीर की आस्था प्रतीत होती है, किंतु उसको भी वे चरम प्राप्तव्य नहीं मानते, प्रत्युत भक्ति के साधन रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट प्रकार का योग 'सुरतिशब्दयोग' माना जा सकता है, किन्तु इसका प्रयोजन केवल चंचल मन को निश्चंचल बनाना ही ज्ञात होता है। अन्यत्र इस पर अधिक विस्तार से विचार किया जायगा।

भक्ति के प्रेरक तत्वों में सर्वाधिक महत्त्व उन्होंने गुरु और संत्संग को दिया है। लोक-वेद से प्राप्त हुआ ज्ञान सीमित होता है, कबीर ने सतगुरु को अनन्त दृष्टि प्रदान करने वाला बताया है (क० ग्रं० साखी १-१३)। आध्यात्मिक क्षेत्र में वस्तुतः गुरु के अभाव में केवल पुस्तक ज्ञान पूर्ण मार्गप्रदर्शन नहीं कर सकता। गुरु परमात्मा तथा आत्मा को मिलाने का माध्यम होता है। भक्ति के लिए सत्सग भी आवश्यक है। कबीर ने बार-बार वैष्णव भक्त की प्रशंसा की है और शाक्तों की निन्दा की है। कुसंगति में वैसी ही दारुण वेदना होती है जैसी केलि को बेर के साथ पड़ जाने से भोगनी पड़ती है (क० ग्रं० साखी २४-२)। बैकुण्ठ उनकी दृष्टि में साधुसंगति ही है (वही, पद २९ : साधु संगति बैकुंठहि आहि)। किन्तु सद्गुरु और सज्जन सदा सर्वत्र नहीं मिलते। सच्चा गुरु वही है जो भृङ्ग के समान भक्त को भी अपने ही सदृश कर ले और चचल मनसा को अचल कर दे (वही, पद १)। सच्चे साधक भी दुर्लभ ही होते हैं। जो काम-क्रोध-लोभ-मोह-विवर्जित हो वही सच्चा भक्त हो सकता है (पद ३२)। सच्चे साधु जमात बना कर नहीं चलते (सा० ४-१८)। इंद्रिय-निग्रह निरहंकारिता, नामस्मरण, स्वस्थ मानव शरीर आदि भी कबीर की दृष्टि से भक्ति के साधन माने जा सकते हैं।

निष्कर्ष

अंत में निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कबीर का वास्तविक व्यक्तित्व भक्त रूप में ही निखरा है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से उनका अध्ययन कर कभी उनके दार्शनिक रूप को प्राधान्य दिया (उदाहरणया डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, कबीर की विचारधारा; डॉ० रामजी लाल सहायक, कबीर-दर्शन), कभी उनके कवि रूप अथवा योगी रूप को। किन्तु मेरे विचार से उन्हें प्रधान रूप से भक्त ही मानना चाहिए। अन्य सभी रूप वस्तुतः उनके इसी रूप के अन्तर्गत हैं। दार्शनिक वे उसी सीमा तक हैं जिस सीमा तक तुलसी या सूर। दूसरी ओर यदि मूल रूप में वे योगी होते तो भक्ति आन्दोलन के सूत्रधार कभी नहीं बन सकते थे। यह भी लक्ष्य करने की बात है कि भक्ति के क्षेत्र में तो उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भारतवर्ष भर के जितने भी संत-सम्प्रदाय हैं सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन्हीं को अपना मूल प्रेरक मानते हैं जबकि योग के क्षेत्र में उनको महत्त्व प्रदान करने वाला कोई सम्प्रदाय नहीं दीख पड़ता। इसके विपरीत उनके कुछ समय पश्चात् ही होने वाले पृथ्वीनाथ योगी (अकबर के समकालीन) का उस क्षेत्र में कबीर से अधिक महत्त्व है।

● ●

५—कबीर की साधना

कबीर की रचनाओं में योग साधना की चर्चा प्रायः मिल जाती है, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र में मन का स्थिरीकरण आवश्यक है और योग का मूल उद्देश्य ही मन को निश्चित दिशा में नियोजित करना है। महर्षि पतंजलि, जो योग के प्राचीन व्याख्याता माने गए हैं, चित्तवृत्ति-निरोध को ही योग मानते हैं—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। शास्त्रों में इसके अनेक अंगों तथा उनसे संबद्ध अनेक क्रियाओं की चर्चा है।

मन उलटना

कबीर ने मन की चंचलता की ओर अनेक स्थलों पर संकेत किया है। वस्तुतः उसी की अनस्थिरता के कारण हमारे नित्य प्रति के जीवन में कभी एकतानता नहीं आने पाती। वह पंच ज्ञानेन्द्रियों को वाहन बना कर पवन वेग से समस्त कल्पना जगत् का भ्रमण करना चाहता है। उसकी बहुरंगिनी वृत्तियाँ जब तक उसके सम्मुख पलपलपरिवर्तित दृश्यावली उपस्थित किया करती हैं और विषय वासनाओं की सतरंगी मेघमाला घिरी रहती है तब तक वह स्थिर नहीं होता और उन्हीं के रसास्वादन में निमग्न रहता है। किन्तु वही समस्त इंद्रियों का राजा है-स्वयं कर्त्ता स्वयं हर्त्ता स्वयं राजा स्वयं विभुः। अतएव कबीर यह मानते हैं कि अगर 'जतन' कर के इस मन को उपयुक्त मार्ग पर नियोजित कर लिया जाय तो वह स्वयं विधाता हो जाय—जो मन राखै जतन करि, तो आपै करता सोइ (क० ग्रं० २९-६)। मन का संतुलन ठीक बनाए रखने के लिए ही कबीर ने 'सहज समाधि' का आदर्श प्रस्तुत किया है। यह स्थिति तभी प्राप्त होती है जब मन की गति उलट दी जाती है। कबीर का मत है कि भागते हुए मन का अनुसरण नहीं

करना चाहिए। वास्तव में उसकी इस आदत को ही समाप्त करना चाहिए। उसे तकुए के सूत की तरह लपेटना चाहिए—

मन के मतै न चालिए, छांडि जीव की बांनि।
ताकू केरा तार ज्यौं, उलटि अपूठा आंनि॥

—क० ग्रं०, साखी २९-२३।

इस प्रकार का अभ्यास करते-करते उसका चंचल स्वभाव क्रमशः नष्ट हो जाता है। स्थिर होते ही उसका रूप नितांत भिन्न हो जाता है और वही मन जो पहले बहुरंगी जाल बिछाया करता था, अब निर्मल और निर्विकार होकर हमारी सहायता करने लगता है। इस रहस्य को जान लेने पर वही मन हमारे लिए 'गोरख', 'गोविंद', 'मधुसूदन' और 'त्रिभुवन देव' तक बन जाता है। उलट जाने पर मन सनातन हो जाता है। फिर तो सर्वत्र कुशल ही कुशल दिखाई देता है—व्याधियाँ उलट कर समाधि बन जाती हैं, दुःख सुख में परिवर्तित हो जाता है और दुश्मन दोस्त में—

अब हंम सकल कुसल करि मांनां।
सांति भई जब गोविंद जांनां॥
तन मैं होती कोटि उपाधि।
उलटि भई सुख सहज समाधि॥
जंम तैं उलटि भया है रांम।
दुख बिनसे सुख किया बिसरांम॥
बैरी उलटि भए हैं मीता।
साकत उलटि सुजन भए चीता॥
अब मन उलटि सनातन हूवा।
तब जांनां जब जीवत मूवा॥
कहै॥

सिद्धों की चंद्र-सूर्य साधना

मन:साधना का यह रहस्य कबीर को वस्तुत: अपनी पूर्व परम्परा से प्राप्त हुआ है। वैसे तो भारतीय धर्म साधना में चित्त के स्थिरीकरण का प्रसंग बहुचर्चित है, किन्तु बौद्ध सिद्धों की साधना का तो यह प्राण ही है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने सरहपा (८वीं शताब्दी) को ही सहज साधना का मूल आविष्कारक माना है (सरहकृत 'दोहाकोश', पृ० २७)। सरह का कथन है कि जब इंद्रियाँ अपने कार्यव्यापार से विराम ले लें और अपना स्वभाव नष्ट कर दें तब समझना चाहिए कि सहजानंद की स्थिति प्राप्त हो गई (दोहाकोश, दो० २६)। यह स्थिति तब आती है जब, सिद्धों की ही भाषा में, चंद्र और सूर्य अथवा प्रज्ञा और उपाय दोनों को घिस घोट कर उनका अस्तित्व मिटा दिया जाय—

चंद सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ।
सो आणुत्तर एत्थु पअट्ठइ॥

—सरह, दो० ३५।

यहाँ चन्द्र और सूर्य पार्थिव चन्द्र-सूर्य नहीं हैं प्रत्युत सिद्धों के पारिभाषिक शब्द हैं जिनका मतलब क्रमशः ललना-रसना अथवा इड़ा-पिंगला नाड़ियों से है। बाएँ नासापुट में चन्द्र स्वभाव वाली इड़ा या ललना नाड़ी है और दाहिने नासापुट में सूर्य स्वभाव की पिंगला है। यह दोनों शरीर की नाड़ियाँ हैं, लेकिन सिद्ध लोग इन्हें भाव-अभाव, अस्तित्व-अनस्तित्व अथवा दिन-रात, विद्या-अविद्या आदि समस्त द्वैत का प्रतीक मानते थे। मन की सहज दशा तभी हो सकती है जब कि वह इस द्वैत से परे हो जाता है। सीधी सादी भाषा में मन की सहज दशा तब आती है जब कि वह अपनी चंचलता छोड़ कर निश्चंचल अथवा सुस्थिर हो जाता है। इसी को सिद्ध लोग पारिभाषिक शब्दावली में 'अमनसिकार' या 'मन' को 'अमन' बनाना कहते थे। वे लोग इस स्थिति को साधना की चरमावस्था मानते थे और यह भी मानते थे कि ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति अजर अमर हो जाता है।

सिद्धों के अनुसार भी चूंकि मन पवन के तुरंग पर सवार होकर चौकड़ी लगाता है, इसलिए मन को स्थिर करने के लिए पवन अर्थात् प्राणवायु को भी नियंत्रित करना चाहिए। इस प्रकार की मनःसाधना करने वाले सिद्धों का सम्प्रदाय 'सहजयान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे चल कर मत्स्येंद्रपा नामक सिद्ध ने अपना एक पृथक् सम्प्रदाय 'योगिनी कौल मार्ग' के नाम से चलाया (१०वीं शताब्दी) जिसमें स्त्री सहवास को प्रधानता दी गई थी, किन्तु उसमें भी मन को स्थिर करने की चन्द्र-सूर्य साधना सरह आदि की साधना के समान ही रही। अब चन्द्र-सूर्य अथवा प्रज्ञा-उपाय का प्रयोग और भी व्यापक अर्थों में होने लगा। उनके लिए क्रमशः इडा, पिंगला नये नाम मिलने लगे और वे गंगा-यमुना, प्राण-अपान, विंदु-नाद, अधः-ऊर्ध्व, पर-अपर, शिव-शक्ति सत्-असत् आदि की प्रतीक हुई।

नाथपंथी साधना

नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ इन्हीं मत्स्येंद्रपा के शिष्य माने जाते हैं और उनसे पर्याप्त रूप में प्रभावित भी हैं। अतः मन.साधना की यह प्रक्रिया थोड़े बहुत अंतरों के साथ नाथ-सम्प्रदाय में भी आई। प्रधान अन्तर केवल यह रहा है कि गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय को पूर्ण-तया सदाचारप्रधान बना दिया। इसके लिए उन्होंने शैव विचारधारा से अनेक तत्त्व लेकर सिद्धों की साधना को नया रूप प्रदान किया। उनके द्वारा प्रवर्तित योग हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है; किन्तु इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों से पता चलता है कि 'ह' और 'ठ' क्रमशः चन्द्र और सूर्य के ही बोधक हैं अतः चन्द्र-सूर्य का योग ही वस्तुतः 'हठयोग' है। सहज दशा के लिए इस सम्प्रदाय में 'उन्मनी' तथा 'मनोन्मनी' शब्द अधिक प्रचलित हुए। मन का 'सुस्थिरी भाव' ही मनोन्मनी है—यो मनः सुस्थिरी-भावः सैवावस्था मनोन्मनी। पवन का निरोध कर मन को उन्मना-वस्था में स्थापित करने की प्रक्रिया के नाथपन्थी वर्णन शब्दांतर से सिद्धों की सहजावस्था के ही वर्णन हैं—

उलटंत नादं पलटंत ब्यंद।
वाई के घरि चीन्हसि ज्यंद।
सुंनि मंडल तहां नीझर झरिया।
चंद सुरुज ले उनमन धरिया॥

—गोरखबानी, सबदी ५५।

कुण्डलिनी योग

गोरखनाथ द्वारा चलाया हुआ योग 'कुण्डलिनी योग' के नाम से भी प्रसिद्ध है। उन्होंने पातंजल योग का प्रतिपादन कर उसमें अपना विशिष्ट योगदान दिया; चक्रों आदि की संख्या भी निर्धारित की। योगमतानुसार हमारे शरीर के भीतर रीढ़ की हड्डी की भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों के रूप में नीचे से ऊपर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणि-पूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा नामक छह चक्र होते हैं जिनकी बनावट भिन्न-भिन्न संख्या के दलों वाले कमल पुष्पों की भांति होती है। सबके ऊपर मस्तिष्क में सहस्रार होता है, क्योंकि इसके अनेक दल होते हैं। मूलाधार के नीचे किसी सर्पिणी की भांति साढ़े तीन फेंटों में सिकुड़ी हुई कुण्डलिनी शक्ति सोई रहती है। प्राणायाम से इसको जगा कर छह चक्रों का भेदन करते हुए अंत में सहस्रार में शिव से इसका समागम कराया जाता है। कुण्डलिनी के उन्मुख होते ही मन की बिखरी हुई वृत्तियां भी अन्तर्मुखी हो जाती हैं और उनके केन्द्रीकरण से एक दिव्य ज्योति का आलोक उठता है और मन पूर्ण शांति का अनुभव करने लगता है। मेरुदण्ड का भीतरी भाग जिसमें कुण्डलिनी ऊपर को बढ़ती है, सुषुम्ना नाड़ी कहा जाता है। इसके बाएं-दाहिने इड़ा तथा पिंगला नाड़ियां हैं। इन तीनों का संधिस्थान आज्ञाचक्र के निकट 'त्रिकुटी' कहा जाता है जो प्रयाग की त्रिवेणी के समान पवित्र माना जाता है। योगी इसी त्रिवेणी में स्नान करना अधिक श्रेयस्कर मानता है।

कबीर के विचार

कबीर की रचनाओं से ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्होंने यत्र-तत्र कुण्डलिनी योग या षट्चक्र भेदन को महत्त्व दिया है, किन्तु हठयोग के प्रति उनकी उतनी निष्ठा नहीं है जितनी नाथपंथी योगियों की। उनका प्रधान लक्ष्य मन का स्थिरीकरण है। हठयोग में स्थूल शरीर की स्थूल काया-साधना पर्याप्त नहीं है। इसीलिए वे हठयोग को साध्य रूप में नहीं बल्कि साधन रूप में ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने अनेक स्थलों पर अवधूतों की ही भाषा में उनके योग की त्रुटियों की ओर लक्ष्य करके उनकी खिल्ली उड़ाई है। सहज साधना में योग का सारा खटराग निरर्थक हो जाता है। उस स्थिति में मुद्रा, झोली, कंथा, बटुवा आदि का क्या प्रयोजन? कबीर के अनुसार सच्चा योगी वह है जो मन में मुद्रा धारण करे और मन में ही आसन और जप-तप करे—

सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा।
रैनि दिवस न करई निद्रा॥
मन का आसन मन मैं रहनां।
मन का जप तप मन सूं कहनां
मन मैं खपरा मन मैं सीगी।...आदि

—क० ग्रं०, सभा, पद २०६।

सहज साधना

कबीर का झुकाव सिद्धों की सहज साधना की ओर अपेक्षाकृत अधिक ज्ञात होता है। कहना चाहिए, उसी को उन्होंने और भी अधिक 'सहज' बनाने का प्रयत्न किया है। *गंगा-यमुना (इडा-पिंगला)* के बीच सहज शून्य के घाट पर (स्थितप्रज्ञावस्था में) वे भी अपना मठ बनाते हैं जिसकी कामना मुनि लोग भी करते हैं—

गंग जमुन के अंतरै, सहज सुंनि लौं घाट।
तहां कबीरा मठ रचा, मुनि जन जोवैं बाट॥

—क० ग्रं० प्रयाग, साखी १०-७।

सिद्धों से ही मिलती-जुलती शब्दावली में वे सूर्य (पिंगला) और चन्द्र (इड़ा) को मिला कर एक घर (सुषुम्ना) में कर देने पर अपने को कृत-कृत्य मानते हैं—

सूर समांनां चांद मैं, दुहूं किया घर एक।
मन का चेता तब भया, कछु पूरवला लेख॥

—क० ग्रं०, साखी ६-२०।

पहले ही इस बात का संकेत किया गया है कि इडा-पिंगला सन्त-साहित्य में वस्तुतः समस्त द्वैत की प्रतीक हैं अतः द्वैत नष्ट कर मन को समरस दशा में पहुँचाना ही संतों का सहज योग है। इसे गीता की शब्दावली में स्थितप्रज्ञावस्था या जीवन्मृत दशा कह सकते हैं। वहाँ भी मन को उलटने की ही बात कही गई है—

यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

आधुनिक वैज्ञानिक खोजों द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि संसार के समस्त जड़ चेतन पदार्थों में लहरें होती हैं। जड़ जन्तुओं में ये लहरें छोटी और वक्र होती हैं जब कि चेतन में क्रमशः सरलतर होती जाती हैं। मन का जितना ही उन्नयन होता जाता है, उतनी ही उसकी लहरों की गति सरल या समरस होती जाती है। इस प्रकार क्रमशः उन्नयन होते-होते वक्र रेखाएं तिरोहित होती जाती हैं और अंततोगत्वा परम चेतन तथा समरस सत्ता से साधक का मन मिल जाता है और वह सनातन अथवा अमर हो जाता है। तुलसी के राम की स्थिति ऐसी ही है जो न राज्याभिषेक के समाचार से प्रसन्न होते हैं और न वनवास के दुःख से दुखी—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकवस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा॥

—मानस, अयोध्या०, श्लोक २।

कबीर भी मन का उन्नयन ऐसा ही करना चाहते हैं—

अमिलन मिलन घाम नहिं छांहां।
दिवस न राति कछू है तहां ॥
टार्‌यौ टरै न आवै जाइ।
सहज सुंनि मैं रह्यौ समाइ ॥

—क० ग्रं०, प्रयाग, पद १०३।

कबीर-वाणी की प्राचीनतम टीका मे टीकाकार ने 'सहज' शब्द की जो व्याख्या दी है उससे सन्तों की मान्यता का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाता है—'सहज सुख दुंद रहित पाच इंद्री न पसरै। विषै बासनां मिटि जाइ। गुण का नास। एक ब्रह्म भाव हिरदै ताकूं सहज सुख कहिए।' इस प्रकार हम सहज की भक्तिपरक व्याख्या सन्तों में पाते हैं।

इस सम्बन्ध में कबीर की मौलिकता इस बात में भी है कि वे इस स्थिति को सहज दिनचर्या का अंग बना लेने पर जोर देते हैं। यह ऐसी कोई विलक्षण साधना नहीं जिसके लिए आसन-मुद्रा आदि का खटराग करना पड़े—

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिहिं सहजैं विखिया तजै, सहज कहावै सोइ॥

—क० ग्रं०, प्रयाग, ६४-१।

उपर्युक्त साखी का तृतीय चरण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। जो इस रहस्य को जान लेता है उसके लिए इसमें कोई विलक्षणता नहीं रह जाती, अन्यथा यह नजदीक रहते हुए भी दूर ही लगेगा—

आवै न जाइ मरै नहिं जीवै ताहि खोजि बैरागी।
नियरैं दूरि दूरि फुनि नियरै जिनि जैसा करि मांनां॥
अउलौती का जैसे भया बरेडैं जिन पीया तिन जांनां।
तेरी निरगुन कथा कौन सौं कहिए ऐसा कौन बिबेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता तिन तैसी झल देखी॥

—क० ग्रं०, पद १३४।

मन की वृत्तियां उलट देने को ही कबीर ने ओरी का पानी बंडेर पर चढ़ाने के रूपक द्वारा व्यक्त किया है।

कबीर की सहज साधना बड़ी ऊँची साधना है। इसमें समस्त भौतिक गुणों का विलयन हो जाता है और अन्त में शब्द के साथ एकाकार होकर साधक राममय हो जाता है। इस साधना में कबीर की इतनी निष्ठा है कि इसमें पारंगत होने पर वे फिर संसार में लौटकर आने की आवश्यकता नहीं समझते—

बहुरि हंम काहेकौं आवहिंगे।
बिछुरे पंच तत्त की रचनां तब हंम रांमहिं पावहिंगे।
पिरथी का गुन पांनीं सोखा पांनी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे।
—क० ग्रं० पद, ५७।

कबीर का लययोग ऐसा मार्ग है जो उन्हें राम से मिलाता है।

सुरति-शब्द योग

कबीर ने इस सहज समाधि के साधन रूप में जिस योग विशेष की चर्चा की है उसे 'सुरतिशब्दयोग' नाम दिया जाता है। सुरति वस्तुतः चित्तवृत्ति है और शरीर के भीतर सदा सर्वदा होते रहने वाले अनाहत नाद में चित्तवृत्ति का लय ही 'सुरतिशब्दयोग' है। कबीर की शब्दब्रह्म में पूर्ण आस्था थी। उनके अनुसार राम नाम भी शब्दब्रह्म ही है। इस क्रिया के द्वारा साधक का मन उसमें केन्द्रित हो जाता है और वह शब्दमय हो जाता है।

योग-साधना के क्षेत्र में यही कबीर का मौलिक योगदान है जिससे प्रेरणा प्राप्त कर बाद में अनेक संत-संप्रदायों ने जन्म लिया और प्रत्येक संत-संप्रदाय में यह सुरतिशब्दयोग किसी न किसी रूप में अब तक वर्तमान है। किन्तु साथ ही इस बात का विस्मरण नहीं करना चाहिए कि कबीर ने सुरतिशब्दयोग को भी साधन रूप में ही स्वीकार किया है, साध्यरूप में नहीं। चरम साध्य तो उनकी दृष्टि में वस्तुतः भक्ति ही ज्ञात होती है।

● ●

६—कबीर का काव्य

कबीर के अन्य पहलू जिस प्रकार विवादास्पद हैं उसी प्रकार उनका कविकर्म भी विवाद का विषय बना हुआ है। असल में इन फक्कड़ राम का व्यक्तित्व ही ऐसा विलक्षण है कि उसके किसी भी पक्ष को पूर्व-निश्चित चौखटे में ढालना टेढी खीर हो जाता है। इसीलिए हिन्दी आलोचकों का वह वर्ग जो काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर काव्य को परख करना चाहता है, कबीर को उत्कृष्ट कवि मानने के लिए तैयार नहीं है। यह वर्ग रीतिकालीन कवियों की 'कविताई' का कायल है जिसमें कोमल भावभंगिमा है, शब्दों का मनोयोगपूर्ण स्थापन-कौशल है, और उनके चित्र गुण तथा संगीत गुण को उनकी व्यंजना शक्ति से कम महत्त्व नहीं दिया जाता, जिसमें छन्दों और अलंकारों का 'सिर चालन' है, भाषा की लुनाई है और तदनुसार वर्ण्य विषय में भी पर्याप्त मसृणता है। तुलसी, सूर आदि सगुण भक्तों के काव्य में शास्त्रीय धारा के अधिकांश गुण समाविष्ट हैं, अतः उनकी काव्यकला की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में प्रश्नचिन्ह लगाना कठिन है। किन्तु कबीर ने न तो काव्यशास्त्र का अभ्यास किया था और न शास्त्रीय पद्धति में उनकी कोई आस्था थी। इसीलिए विद्वानों का दूसरा वर्ग ऐसा है जो यह मानता है कि "कबीर साहब की रचनाओं को शुद्ध साहित्यिक नियमों की परम्परा से परखना उचित नहीं कहा जा सकता। कबीर-साहित्य उन रंग बिरंगे पुष्पों में नहीं जो सजे सजाए उद्यानों की क्यारियों में किसी क्रम विशेष के अनुसार उगाए गए रहते हैं और जिनकी छटा तथा सौन्दर्य का अधिकांश योग्य मालियों के कला-नैपुण्य पर भी आश्रित रहा करता है। यह एक वन्य कुसुम है जो अपने स्थल पर आप उगा है और जिसका विकास केवल प्राकृतिक नियमों पर ही निर्भर रहा है।" (पं० परशु-

राम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, प्रस्तावना, पृ० ४)

अंतर्मुखी काव्य का बेहद्दी मैदान

इस देश में प्राचीन काल से ही दो प्रधान काव्य-धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं : एक की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी रही है और लक्ष्य रहा है आनन्द, दूसरी की प्रवृत्ति बहिर्मुखी रही है तथा लक्ष्य रहा है लोक-कल्याण। एक का चिन्तन स्वभावतः व्यष्टिवादी हो गया और दूसरे का समष्टिवादी। एक में सम्पूर्ण बाह्य जगत् को आत्मा में देखने और भोगने का आग्रह रहा है और दूसरी में जगत् के माध्यम से आत्मा का विस्तार एवं विकास करने का। कबीर स्पष्ट रूप से पहली धारा के कवि हैं जो पिंड में ही समस्त ब्रह्मांड को समाकलित करने में विश्वास करते थे। दृष्टि अन्तर्मुखी होने के कारण समाज के बहिरंग रूपों का संस्पर्श करते हुए भी उनकी काव्यचेतना वहाँ विराम नहीं लेती, उनमें रम नहीं पाती, अतः अंततोगत्वा नितांत सूक्ष्म और आत्माभिमुखी हो जाती है—वह आत्मा के शाश्वत विलास में ही रमती है। यह बात दूसरी है कि उनके श्रद्धालुओं का एक बड़ा समुदाय उन्हें कल्याणवादी अथवा समष्टिवादी सुधारक अथवा धर्मोपदेशक भी मानता आ रहा है। विलक्षणता तो उनके व्यक्तित्व में चतुर्दिक् है। बाह्य विषमता से मुक्ति पाने के लिए वे आभ्यन्तरिक समरसता लाने को कहते हैं। पहले अपने पिंड का शोधन कर उसे 'आवै न जाइ मरै नहिं जीवै' की अमर स्थिति में पहुँचाना चाहिए— फिर तो बाहर की विषमता दूर करने में कितनी देर ? इस प्रकार कबीर का भावक्षेत्र असीम, अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत हो कर सम्मिलन करने का क्षेत्र है—वह आसानी से पकड़ में आने वाली चीज नहीं है, वह 'बेहद्दी मैदान' है। कबीर का कार्य बड़ा कठिन था, क्योंकि उन्हें अरूप और अकथ्य को रूप और अभिव्यक्ति प्रदान करना था। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। महाकवि भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में वाणी या काव्य को

अमृतरूपा कहते हुए 'आत्मा की कला' माना है। रूप के द्वारा अरूप की अभिव्यक्ति, कथन के द्वारा अकथ्य का ध्वनन उत्कृष्ट काव्य में ही हो सकता है। ऐसी ही अमृतरूपा वाणी या कविता की साधना कबीर ने की। उसमें छन्द, गुण, रस, अलंकार आदि काव्य के बाह्य उपादानों की खोज करना व्यर्थ है। उनके काव्य में कहीं-कहीं वे अपने आप आ गए हैं; यदि नहीं आ पाए तो उनकी चिन्ता भी उन्हें न थी। उनके ऊर्ध्व विकास की स्पृहा वस्तुतः इन समस्त बहिरंग उपादनों को भेद कर बहुत आगे निकल गई है।

यह लगभग वैसी ही भावस्थिति है जिसका वर्णन तुलसी ने भरत-राम के मिलन के प्रसंग में करना चाहा है। भरत को तुलसी ने प्रकारांतर से अपना ही प्रतिरूप माना है। भरत और राम का मिलन दूसरे शब्दों में उपासक और उपास्य का मिलन है। उस 'अगम सनेह' का वर्णन करने में तुलसीदास जैसे रससिद्ध कवि भी अपने को असमर्थ पाते हैं—

कहहु सुपेम प्रगट को करई।
केहि छाया कवि मति अनुसरई॥
कविहिं अरथ आखर बलु साँचा।
अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को।
जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती।
बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥

—मानस २।२४१।

यह स्थिति ही ऐसी है जिसमें शब्द और अर्थ का सारा खटराग 'गाँडर ताँती' के समान व्यर्थ लगने लगता है और जब ताल और गति ही नहीं तो नट बिचारा क्या नाचेगा? उस समय तो कबीर के शब्दों में—

जे थे सचल अचल ह्वै थाके चूके बाद बिबादा।

—क० ग्रं०, पद ५०।

उन्होंने कविता के लिए कविता नहीं की। वह अपने आप हो गई है। हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का कथन इस प्रसंग में शब्दशः उपयुक्त है कि 'यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस नहीं इकट्ठा हुआ है' (कबीर, पृ० २१७)। कबीर के पदों में जो काव्यत्व है उसको द्विवेदी जी फोकट का माल (बाईप्राडक्ट) मानते हैं जो किसी अन्य वस्तु की सिद्धि में अपने आप हो जाता है—'वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते समय अपने आप बन गया' (वही, पृ० २२०)।

कबीर द्वारा काव्य की परिभाषा

'कबीर-ग्रन्थावली' की साखी २८-७ से यह ज्ञात होता है कि कबीर भी शब्द और अर्थ के लावण्य के प्रति जागरूक हैं। वे कहते हैं—

सोई आखर सोइ बैन, जन जू जुवा चवंत।
कोई एक मेलै लवनि, अमीं रसाइन हुंत॥

अर्थात् वही आखर (बोल या शब्द) और वही वचन अर्थात् वाक्य, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति उन्हें जुदा-जुदा ढंग से बोलता है। कोई उन्हीं में लावण्य मिला देता है तो वही अमृत रसायन बन जाता है। इस साखी का तात्पर्य यह है कि जिन शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग साधारण लोग करते हैं उन्हीं में कोई रससिद्ध कवीश्वर उक्तियों का लावण्य मिला देता है तो वह अमृतमय काव्य बन जाता है। वैसे कबीर ने बहुत सचेष्ट होकर काव्य के सम्बन्ध में अपनी विवेचना नहीं प्रस्तुत की है, किन्तु सहज रूप में ही उन्होंने जो कह दिया उस पर यदि हम गंभीरतापूर्वक विचार करें तो उसमें काव्य की परिभाषा भी मिल जायगी।

दूसरी पंक्ति में 'लवनि' तथा 'रसाइन' शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। जिस प्रकार लवण के मिश्रण से भोजन रसायन तुल्य

सुस्वादु बन जाता है उसी प्रकार 'आखर' और 'बैन' में लावण्य मिला देने पर अमृतमय काव्य बन जाता है। किंचित् सूक्ष्मता से देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि इसमें काव्य की दो प्रसिद्ध परिभाषाओं—(१) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (पंडितराज जगन्नाथ) तथा (२) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (पं० विश्वनाथ)—का समन्वय है। प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र' ने 'कबीर-साखी-सुधा' में यह मान्यता उपस्थित की है कि हिन्दी में यह काव्य की प्राचीनतम परिभाषा है। जिसे कवि मानने में लोगों को संकोच हो रहा था, उसकी वाणी पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने से उसमें काव्य की परिभाषा निकल आई और जब तक हिन्दी में काव्य की प्राचीनतर परिभाषा नहीं मिल जाती तब तक इच्छा अथवा अनिच्छा-पूर्वक इसे उसकी 'प्राचीनतम' परिभाषा मानना ही पड़ेगा।

कबीर-काव्य की विधा तथा भाव-भूमि

कबीर ने प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की, उनका सारा काव्य मुक्तक शैली का है—अर्थात् उनका प्रत्येक छन्द अथवा गीत अपने में ही स्वतन्त्र तथा पूर्ण है। छंद की दृष्टि से उनके काव्य की मुख्य तीन विधाएँ हैं—साखी, पद और रमैनी। बौद्ध सिद्धों का 'दोहा' छन्द नाथयोगियों में 'सबदी' के रूप में ग्रहण किया गया और वही यत्किंचित् अन्तर के साथ कबीर में 'साखी' हुआ। कहीं-कहीं सोरठा भी 'साखी' नाम से ही उनकी रचनाओं में अनुस्यूत है। पदों में कई प्रकार के छन्द मिलते हैं किन्तु उनमें लोक-प्रचलित छन्दों या विधाओं (जैसे कहरा, चाचर, बसंत गारी आदि) की प्रधानता है। रमैनियों में कुछ चौपाइयों के पश्चात्, *जिनकी संख्या निश्चित नहीं है*, एक दोहा छन्द मिल जाता है और इस प्रकार के पूरे समुच्चय को 'रमनी' नाम दिया गया है। इसकी भी पूर्व-प्रचलित परंपरा है। रमैनियों में काव्य बिलकुल नहीं है, सिद्धान्तों का विश्लेषण भी अधिक प्रभावशाली ढंग से नहीं हुआ है। ये उनकी प्रारं-

मिक रचनाएँ जान पड़ती हैं। उनकी साखियों तथा पदों में भी अकविता का अंश है, किन्तु अधिकांश उसी प्रकार का है, ऐसा कहना अविवेक-पूर्ण होगा। हिन्दी के भक्त कवियों में ऐसा कोई भी नहीं है जो इस आरोप से मुक्त हो सके। तुलसी के 'रामचरितमानस' मे भी, जिसे मुक्त कंठ से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ स्वीकार किया जा सकता है, उत्तर काण्ड के अधिकांश में और अन्य काडों में भी आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र सिद्धान्तों के ऐसे विवेचन मिलते हैं जो विशुद्ध काव्यात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट नही माने जा सकते। भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में वस्तुतः अपने-अपने ढंग से नवीन जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है। वह आज भले ही पुराना पड़ गया हो और 'मध्यकालीन' कह कर उदासीनतापूर्ण मुद्रा मे भले ही उससे पीछा छुड़ा लिया जाय, किन्तु उस समय समाज को उससे सजीवनी शक्ति प्राप्त हुई थी और आज भी किसी न किसी रूप में उसकी उपयोगिता है। जैसे प्रत्येक युगांतरकारी काव्य में अपनी नवीन दृष्टि की विवेचना समाविष्ट रहती है उसी प्रकार मध्यकालीन भक्ति-काव्य में भी वह मिलती है। इतना अवश्य है कि तुलसी, सूर आदि में वह अंश कम है, किन्तु उनसे लगभग सौ वर्ष पूर्व हिन्दी में भक्ति का प्रचार करने वाले कबीर के काव्य में स्वाभाविक रूप से उसका अधिक परिमाण अपेक्षित था। सगुणोपासक भक्त कवियों को, विशेष रूप से तुलसी को एक अन्य परिस्थितिजन्य लाभ यह था कि उन्होंने प्रबन्ध कल्पना का आश्रय लिया जिसमें अपने उपास्य को जीवन के तमाम उतार-चढावो मे से ले जाते हुए 'भावभेद रस भेद अपारा' की उत्कृष्ट भूमिका के साथ अपने सिद्धांतो को भी उन्ही के जीवन में चरितार्थ करने की पूरी गुंजाइश थी (यद्यपि तुलसी को छोड़ कर ऐसा अन्य किसी भी सगुणोपासक भक्त ने नहीं किया)। कला-विलास की दृष्टि से भी संस्कृत का उत्कृष्ट साहित्य उनके सामने वर्तमान था। तुलसी ने तो उसका भरपूर उपयोग किया। कबीर की जैसी भाव धारा थी उसमें प्रबन्ध काव्य बन ही नहीं सकता था। पूर्व परंपरा के नाम पर

उनके समक्ष सिद्धों तथा नाथों का साहित्य था जिनमें से पहले में तो यत्र-तत्र कुछ कविता है भी, किन्तु नाथों का साहित्य—जिससे कबीर का निकटतम सम्बन्ध था—साधना तथा आचार-विचार सम्बन्धी कोरे आध्यात्मिक उपदेशों से पूर्ण था। उसमें प्रेम तथा भक्ति भावना के अभाव में सरस काव्य की झांकी कदाचित् ही कहीं मिल पाये। कबीर ने मुक्तक परम्परा की इस सूखी सरिता को प्रेम के जल के आपूरित किया। इस दृष्टि से उनका योगदान वैसा ही महनीय है जैसा कि प्रबन्ध-धारा को शीर्ष बिंदु पर पहुँचाने वाले तुलसीदास जी का है। कबीर के काफी समय बाद रीतिकालीन कवियों ने मुक्तक धारा को अनेक रसमयी उक्तियों से पूर्णरूपेण आप्लावित किया, किन्तु इनका भी उपजीव्य संस्कृत का विशाल वाङ्मय है और इन कवियों का योगदान केवल पूर्व प्रचलित उक्तियों में और अधिक परिष्कार लाने तक सीमित है। जिन्होंने आर्यासप्तशती, अमरुकशतक तथा विकटनितम्बा, भोज, कालिदास, बाण आदि की रचनाओं के साथ इन कवियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है, उनसे यह बात छिपी नहीं है।

इस प्रकार यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हमें ज्ञात हो जायगा कि मौलिक योगदान की दृष्टि से कबीर का उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत अधिक कठिन था, किन्तु इस उत्तरदायित्व को उन्होंने जिस प्रकार से निभाया है उससे उनकी प्रतिभा का कायल होना पड़ता है।

उत्कृष्ट भाव-प्रकाशन

व्याख्या-भाग में मैंने प्रसंगानुसार ऐसे स्थलों की ओर संकेत किया है जो काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ अत्यधिक संक्षेप में उनका संकेत मात्र किया जा रहा है।

प्रस्तुत संकलन के दूसरे पद की कतिपय आरम्भिक पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में विशेष रूप से विचारणीय हैं, जो इस प्रकार हैं—

गोकुल नाइक बिठुला मेरा मन लागा तोहिं रे।
बहुतक दिन बिछुरें भए तेरी औसेरि आवै मोहिं रे॥

करम कोटि को ग्रेह रच्यौ रे नेह गए की आस रे।
आपहिं आप बंधाइया दोह लोचन मरहिं पियास रे॥
आपा पर सम चीन्हिए तब दीसै सरब समान रे।
इहिं पद नरहरि भेटिए तू छांड़ि कपट अभिमान रे॥

प्रथम दो पंक्तियों में 'औसेरि' का प्रसंग है इसलिए 'बीठुला' (=प्रिय) का संबोधन है। 'गोकुल नाइक' से पृथिवी या इन्द्रियों के स्वामी का भी अर्थ लिया जा सकता है, अतः उसके वियोग में इन्द्रियों का विकल हो कर बार-बार उसी का स्मरण करना स्वाभाविक है। निर्मोही माया से अपने आपको बँधा लेने पर दोनों नेत्र स्वामी के दर्शन की पिपासा में तड़प रहे हैं। अंतिम दो पंक्तियों में भी प्रसंगगर्भत्व है जिसको बिना दृष्टिगत किए उनका भाव पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं होता। इनमें वस्तुतः प्रह्लाद का प्रसंग निहित है जो 'आपा' और 'पर' में भेद नहीं रखते थे अर्थात् समदर्शी थे और इसीलिए नृसिंह को उनकी रक्षा के लिए आना पड़ा।

इसी प्रकार साखियों में प्रेम-विरह के प्रसंग में अनेक अनूठी उक्तियाँ हैं। सतगुरु से प्रेमाभक्ति का रहस्य जान लेने पर भक्त की क्या स्थिति होती है, उनका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

गूंगा हूवा बावरा, बहरा हूवा कांन।
पावां तें पंगुल भया, सतगुरु मारा बांन॥

—क० ग्रं०, साखी १-१२।

वे परवत-परवत फिरते हैं, रोते-रोते नेत्रों की ज्योति गँवा देते हैं लेकिन वह बूटी नहीं मिलती जो संजीवनी प्रदान करती है। प्रिय का पंथ देखते-देखते आँखों में झांई पड़ जाती है, उसका नाम पुकारते-पुकारते जीभ में छाला पड़ जाता है। इसलिए विरहिणी को या तो मृत्यु मिल जाय या उसे प्रियतम का मुखड़ा दिख जाय, क्योंकि आठों पहर विरह की भट्ठी में कौन सुलगे? नेत्रों से आँसू ढुलक-ढुलक कर रात-दिन रहट की तरह बह रहे हैं। पपीहा की तरह 'पी-पी' की रट लगी है कि

जब वे मिल जायँ। (और आँसू भी कैसे?) आँसू तो वहीं सज्जनों के होते हैं, वही दुर्जनों के भी। सच्चा प्रेम तो तब समझा जाय जब कोई 'रक्त के आँसू' रोये—

परवति परवति मैं फिरा, नैन गंवाया रोइ।
सो बूंटी पाऊं नहीं, जातैं जीवन होइ॥
आंखड़ियां झांई परी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला परा, रांम पुकारि पुकारि॥
कै बिरहिन कों मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझनां, मोपैं सहा न जाइ॥
नैनां नीझर लाइया, रहट वहै निस यांम।
पपिहा ज्यौं पिउ पिउ करौं, कब रे मिलहुगे रांम॥
सोई आंसू साजनां, सोई लोग बिड़ाहं।
जो लोइन लोही चुवै, तौ जांनौं हेतु हियांहिं॥

—क० ग्र० सा० २-२४, ३६, ४०, ४८, ४९।

इन उक्तियों को हिन्दी विरह-वर्णन की उत्कृष्टतम पंक्तियों में स्थान दिया जा सकता है। प्रस्तुत संकलन की पन्द्रहवीं साखी ('तूं तूं करता तू भया' इत्यादि) भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है जिसके काव्यसौंदर्य के संबंध में टिप्पणी दी गई है।

कबीर की अभिव्यंजना शैली इतनी मौलिक और आकर्षक है कि कोरे आध्यात्मिक अथवा नैतिक उपदेश भी नीरस नहीं होने पाए हैं, उदाहरणतया—

कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरं लालि।
दिवस चारि का पेखनां, बिनसि जाइगा काल्हि॥
उजड़ खड़े ठीकरी, गढ़ि गढ़ि गए कुम्हार।
रांवन सरिखा चलि गया, लंका का सिकदार॥
आजि कि काल्हि कि पचै दिन, जंगल होइगा बास।
ऊपरि ऊपरि फिरहिंगे; ढोर चरंते घास॥

—क० ग्रं०, साखी १५-१५, ६४, ६७।

जीवन तैं मरिबौ भलौ, जौ मरि जांनै कोइ।
मरनै पहलैं जो मरै, तौ कलि अजरावर होइ ॥
—क० ग्रं०, साखी १९-१३ ।

इन पंक्तियों में इतनी मर्मभेदी शक्ति है कि वे पाठक के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं। यही कारण है कि इस प्रकार की अनेक साखियों का साधारण जनता में अत्यधिक प्रचार है।

कबीर ने अलंकारों का साग्रह प्रयोग नहीं किया है, किन्तु कुछ अलंकार सहज रूप से उनकी रचनाओं में आ गये हैं। उनमें से रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति, विशेषोक्ति, उत्प्रेक्षा, उपमा, विभावना आदि प्रमुख हैं। इनमें भी उनके रूपकों की छटा निराली है।

अलंकार

उनके रूपकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी अप्रस्तुत-योजना में ग्राम्य जीवन का जीता-जागता रूप है जिसमें प्रयुक्त ठेठ शब्दावली का आधार लेकर उन्होंने बड़े ही सहज रूप में अपने अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तों को साधारण जनता के लिए सुगम बनाया। क० ग्रं० के एक पद (४१) में चित्त को कायस्थ (जिसके लिए नाम चुना है 'चेतू'), आत्मा को 'महतो' (=मुखिया) और पंच ज्ञानेन्द्रियों को किसान बताया गया है जिनके नाम नैनू, नकटू, श्रवनूं, रसनूं आदि हैं। ५० वें पद में नृत्य का रूपक है जिसमें मंदला, घर्गर बाजों तथा चोलना, चेहरा आदि 'सौंज' द्वारा उन्मनावस्था का वर्णन है। पद ५१ में कल्पपालों की शब्दावली में सन्तों की गूढ़ साधना (रामरस की प्राप्ति) का 'वांका ज्ञान' नितान्त सहज रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसमें लाहन मेलने से लेकर गुड डालने, कसु देने, भाठी पूरने, नल भभके के मुँह पर ढक्कन लगाने, पुचाड़ा देने और फिर शराब चुवाने तक की प्रक्रिया का वर्णन कर आध्यात्मिक मदिरा बनाने का रहस्य बताया गया है। मध्य-काल में स्थान-स्थान पर मदिरालय थे जिनमें नित्य यही कार्य हुआ करता था। कबीर ने उसी शब्दावली में अपनी आध्यात्मिक मदिरा का

परिचय लोगों को दिया जिससे उनको इस श्रेष्ठतर मदिरा का रहस्य समझने में कोई कठिनाई न हो। इसी प्रकार पद ५२ में आंधी का रूपक है, किन्तु यह आंधी गाँव की ही है जहाँ फूस के छप्पर रहते हैं—शहर की नहीं जहाँ पक्के मकान रहते हैं। पद ६१ में कृषि का रूपक है जिसके माध्यम से रामभक्ति की उपयोगिता समझाई गई है। पद १११ में जुलाहों के व्यवसाय में प्रयुक्त शब्दावली के माध्यम से शरीर और मन का रहस्यमय ताना-बाना समझाया गया है और पद १३६ में चरखे के विभिन्न उपकरणों का सादृश्य मन और उसकी साधना से दिया गया है। अंतिम दोनों कबीर के निजी व्यवसाय थे, इसलिए उनकी रचनाओं में इनसे सम्बद्ध अन्य रूपक भी मिल जायँगे। इसी प्रकार के कुछ रूपक कबीर की साखियों में भी मिलते हैं। उनमें एक विशेष प्रकार का आकर्षण है।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि कबीर के पूर्व यद्यपि 'गोरख-बानी' में अथवा सिद्धों की वाणियों में इस शैली के कुछ रूपक मिल जाते हैं जिनमें जनपदीय जीवन की झांकी प्राप्त होती है, किन्तु इस दिशा में कबीर का विशिष्ट योगदान है। जो संजीदगी उनके रूपकों में है वह उनके पूर्ववर्ती किसी भी हिन्दी कवि की रचना में नहीं दिखलाई पड़ती। आगे चल कर जायसी, सूर तथा कुछ रीतिकालीन कवियों ने भी इस प्रकार के रूपकों की सृष्टि की, किन्तु जैसे-जैसे जन-जीवन में साहित्यिकों का सम्पर्क छूटता गया, इस प्रकार के हँसते-बोलते रूपकों की परम्परा भी समाप्त होती गई।

कबीर को अलंकारों की एक अन्य विधा (अन्योक्ति) भी बहुत प्रिय है जिसमें अप्रस्तुत वर्णन के सहारे प्रस्तुत का वर्णन किया जाता है। उदाहरणतया—

सूखन लागे केवड़ा, टूटी अरहट माल।
पांनीं की कल जांनता, गया सो सींचनहार॥

कबीर पांच पखेरुवा, राखे पोख लगाइ।
एक जु आयौ पारधी, लै गयौ सबै उड़ाइ॥
—क० ग्रं० साखी १६-३३ तथा १६-३७

साखियों में इस प्रकार की उक्तियों के अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। यहाँ इनके अभिधेयार्थ तो उत्तम हैं ही, इनका लक्ष्यार्थ और भी अधिक मनोरम है और कवि का मूल मन्तव्य भी वही है। 'केवड़ा' साध्यवसाना लक्षणा के अनुसार शरीर है, 'अरहट माल' रक्त संचार है, 'सींचनहार' वस्तुतः आत्मा है। इसी प्रकार 'पांच पखेरुवा' तथा 'पारधी' के लक्ष्यार्थ क्रमशः पंचेन्द्रियाँ तथा काल अथवा मृत्यु है। इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि का मूल मंतव्य हमारी चेतना पर अपना एक शक्तिशाली एवं अमिट प्रभाव छोड़ जाता है, क्योंकि उनका सादृश्य-विधान नित्य प्रति के जीवन की चिरपरिचित घटनाओं पर आधारित है, काव्यशास्त्र के ग्रन्थों से ढूंढ-ढूंढ कर लाए गए उपमानों पर नहीं।

विपर्यय या उल्टवांसियाँ

विपर्यय या उल्टवांसियों के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनमें काव्य नही है। कबीर जिस परम्परा में पड़ते हैं उसमें बहुत पहले से ही इस प्रकार की रचनाओं का चलन था और कबीर ने भी कुछ उल्टवांसियों की रचना की है किन्तु यह एक रोचक विडम्बना है कि उनकी प्रामाणिक वाणियों में यद्यपि उल्टवांसियाँ बहुत कम मिलती हैं और इस विधा की ओर उनका बहुत आग्रह भी नहीं प्रतीत होता, किन्तु उनके नाम पर प्रक्षेपों का जो जंजाल बाद में उनके श्रद्धालुओं ने खड़ा किया उससे वे साधारण जनता में 'बरसे कंवल भीजै पानी' जैसी 'उल्टी बानी' के वक्ता घोषित कर दिए गए। उल्टवांसियों के मूल में वस्तुतः दो भावनाएं कार्य करती हैं—एक तो जिज्ञासा जगाने की भावना और दूसरी किसी गोपनीय आध्यात्मिक तथ्य को गोपनीय

शैली में ही बताने की भावना। इनमें कुछ ऐसी घटनाओं या तथ्यों का संग्रथन रहता है जो लोक में उस रूप में घटित न होते हों। अतः इस प्रकार की उक्तियाँ सुन कर लोग अचकचा जाते थे और उनमे निहित तथ्यों के प्रति उनकी जिज्ञासा बढ़ती थी। उनके उपयुक्त अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रायः उसी प्रकार की माथापच्ची करनी पड़ती है जैसी उनके परवर्ती सूर के कूट-काव्य को समझने के लिए। काव्य न तो सभी कूट पदों में है और न सभी उल्टबाँसियों में। किन्तु कबीर की उल्टबाँसियों में हम यत्किंचित् सरसता भी पाते हैं।

वस्तुतः कबीर या अन्य प्राचीन संतों की उल्टबाँसियों में प्रतीकों की एक निश्चित परंपरा मिलती है जो विशेष प्रकार के सादृश्य पर आधारित है, साथ ही उनकी योजना केवल कौतुक के लिए नहीं ज्ञात होती। आगे चलकर खंजड़ी बजाने वाले लाल बुझक्कड़ों ने इस पर पूरी जोर आजमाइश की और इस कौतुक-जाल का सारा उत्तरदायित्व कबीर साहब के मत्थे मढ़ दिया गया।

अप्रतिम व्यंग्यकार

कबीर के काव्य का सबसे प्रबल पक्ष जो उन्हें संपूर्ण हिन्दी साहित्य में अनन्य-साधारण व्यक्तित्व प्रदान करता है, उसका व्यंग्य पक्ष है। कबीर वस्तुतः इसी विशेषता के कारण कबीर हैं—यदि उनके काव्य से यह विशेषता निकाल दी जाय तो उसमें ऐसा कुछ नहीं रह जाता जिससे उनको उच्च गौरव प्रदान किया जा सके। उनके पूर्ववर्ती सिद्धों तथा योगियों में भी ऐसी उक्तियाँ हैं, किन्तु उनमें तीव्रता और मृदुता का वैसा विलक्षण समन्वय नहीं है जैसा कि कबीर की व्यंग्योक्तियों में है। डॉ० हजारी प्रसाद जी के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'आज तक हिन्दी मे ऐसा जबरदस्त व्यग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ। इस क़दर सहज और सरस ढंग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखाई देती है। व्यंग्य वह है जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने

वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे।' (कबीर, पृ० १६४)

आगे हम उनकी अभिव्यंजना शैली के प्रसंग में इस विशेषता पर विस्तार से विचार करेंगे, अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

शब्द-शक्तियों का संश्लिष्ट रूप

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों की स्थापना की है। अर्थगर्भत्व की दृष्टि से अभिधयार्थ तथा लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को कहीं अधिक व्यापक, गूढ़ और चारु माना गया है। संस्कृत के महान् आचार्यों ने व्यंग्यार्थचारुता को, जिसका पर्याय 'ध्वनि' शब्द है, काव्य का प्राण माना है। आचार्य मम्मट के अनुसार व्यंग्यार्थ की सच्ची सहानुभूति उसी को हो सकती है जिसमें प्रतिभा की विमलता हो, जो चतुर व्यक्तियों के सम्पर्क में रहा हो और जो प्रकरण की वास्तविकता से परिचित हो। कबीर के काव्य में अभिधा, लक्षणा के उत्कृष्ट उदाहरण तो मिलते ही हैं, उनका व्यंजना पक्ष और भी अधिक सबल तथा उत्कृष्ट है। वही वस्तुतः उनके काव्य का प्राण है। उनकी व्यंजना कहीं-कहीं तो इतनी सूक्ष्म है कि बड़े-बड़े काव्य-पारखियों तक को भ्रम में डाल देती है। प्रस्तुत संकलन के अंतिम कुछ पद इस दृष्टि से विशेष रूप से अवलोकनीय हैं (व्याख्या-भाग में तत्सम्बन्धी टिप्पणियाँ द्रष्टव्य)। सच्ची बात तो यह है कि कबीर का काव्य ऐसे सोपान पर पहुँच गया है जिसमें लक्षणा और व्यंजना अभिधा में ही अंतर्मुक्त हो जाती हैं और उनके बीच की विभाजक रेखाएँ समाप्त हो जाती हैं अर्थात् तीनों शब्द-शक्तियों का एक ऐसा संश्लिष्ट रूप मिलता है जिसमें तीनों की स्थिति अविभाज्य-सी रहती है। भावाभिव्यक्ति की प्रौढ़ता की यह सबसे बड़ी परख है और कबीर का काव्य इस कसौटी पर कसने से बारह बानी सोना सिद्ध होता है।

● ●

७—कबीर की भाषा

विद्वानों का मत-वैभिन्य

कबीर की भाषा के सम्बन्ध में अब तक विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में कबीर की साखियों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम दिया है जिसका तात्पर्य राजस्थानी, पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली है; किन्तु रमैनियों और पदों में उन्होंने पूर्वी बोली के मेल के साथ मुख्यतः ब्रजभाषा माना है। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने 'अवधी का विकास' शीर्षक अपने शोधप्रबन्ध में कबीर को अवधी का प्रथम सत कवि माना है। 'कबीर-ग्रन्थावली' (सभा संस्करण) की भूमिका में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कबीर की भाषा का निर्णय करना 'टेढ़ी खीर' बताया है। शुक्ल जी के समान वे भी उनकी भाषा को 'खिचड़ी' कहते हैं और कबीर द्वारा निर्दिष्ट 'मेरी बोली पूरबी' के अनुसार वे 'पूरब' का तात्पर्य अवधी मानने के पक्ष में हैं, किन्तु साथ ही बिहारी भाषा का पुट भी वे अस्वीकार नहीं करते। इसके अतिरिक्त वे उस पर खड़ी बोली, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं का रंग चढ़ा हुआ मानते हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार कबीर की सामान्य भाषा ब्रज है जिसमें भोजपुरी का पुट है। उनका विचार है कि कबीर यद्यपि भोजपुरी क्षेत्र के निवासी थे किन्तु तत्कालीन हिन्दी कवियों की तरह उन्होंने भी प्रायः ब्रज और अवधी का प्रयोग किया। किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में रचना करते थे तो ब्रजभाषा तथा अन्य पश्चिमी बोलियों के तत्त्व भी उसमें समाविष्ट हो जाते थे। राजस्थानी विद्वानों को कबीर की भाषा पूर्णतया राजस्थानी प्रतीत होती है। सूर्यकरण पारीख ने 'ढोलामारूरा दूहा' की भूमिका में

यह संकेत किया है कि कबीर को वैसा ही राजस्थानी कवि कहा जा सकता है जैसा कि 'ढोलामारू' काव्य के रचयिता को। डॉ० उदयनारायण तिवारी कबीर-काव्य की मूल भाषा भोजपुरी मानते हैं और अपना यह अभिमत प्रकट करते हैं कि जैसे कालान्तर में बुद्ध-वचनों की मूल भाषा पालि में अनेक परिवर्तन कर दिये गये थे उसी प्रकार कबीर की वाणी का भी जब प्रचार-प्रसार बढ़ गया तो विभिन्न क्षेत्रों में उस पर विभिन्न रंग चढ़ाए गए। इसीलिए उसमें इतनी विविधता मिलती है। डॉ० रामकुमार वर्मा उसको 'अपरिष्कृत' मानते हुए मुख्यतया तीन भाषाओं से प्रभावित मानते हैं—पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी। वे भी डॉ० उदयनारायण तिवारी की भांति यह स्वीकार करते हैं कि कबीर की भाषा मूलतः भोजपुरी रही होगी, उस पर पछाँही रंग बाद में उनके भक्तों द्वारा चढ़ाया गया होगा—जैसे बुद्ध-वचनों की मूल भाषा बाद में परिवर्तित की गई। बिहार के कुछ विद्वान् कबीर को मैथिल मानते हैं। डॉ० सुभद्र झा ने 'सत कबीर की जन्मभूमि तथा उनके कुछ मैथिली पद' शीर्षक निबन्ध में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कबीर का जन्म वस्तुतः मिथिला में हुआ था और यहीं उन्होंने अपना प्रारम्भिक जीवन भी व्यतीत किया था—मैथिली में उन्होंने रचना भी की थी। पं० परशुराम चतुर्वेदी तथा डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत यह तो मानते हैं कि कबीर ने एकाधिक बोलियों का प्रयोग किया, किन्तु उनकी भाषा में प्रमुखता किस बोली को मिली इसके सम्बन्ध में वे अपना स्पष्ट मत नहीं दे सके।

कुछ विद्वानों ने कबीर की भाषा का किंचित् गम्भीरता से अध्ययन किया, किन्तु वे भी किसी उपयुक्त निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाए। डॉ० शिवप्रसाद सिंह सन्तों की भाषा के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त मतों की आलोचना करते हुए सन्तों की भाषा को खिचड़ी, सधुक्कड़ी, पंचमेल आदि विशेषण देकर ही भाषा विषयक अध्ययन की इयत्ता नहीं मानते। उन्होंने अपने 'ब्रजभाषा' ग्रन्थ में यह स्थापना

रखी कि कबीर ने भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों को भिन्न-भिन्न काव्य-शैलियों में व्यक्त किया और विभिन्न शैलियों में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग किया। उनके अनुसार कबीर की खंडनात्मक रचनाओं में प्रायः खड़ी बोली या रेख़्ता है, इसके विपरीत भक्तिपरक रचनाओं में ब्रजभाषा है और रमैनियों में प्रधानतया अवधी है।

कुछ विद्वानों ने कबीर की भाषा में प्रयुक्त कुछ व्याकरणिक रूपों का वस्तुपरक अध्ययन कर यह स्थापना की है कि कबीर ने अपने युग की परिनिष्ठित काव्यभाषा अथवा ब्रजभाषा में ही कविता की थी। अतः उसमें पूर्वी बोली की प्रधानता नहीं है।

मतवैभिन्य का कारण

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की भाषा के सम्बन्ध में कभी-कभी तो परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं और यदि किसी तथ्य के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् एकमत हैं भी (जैसे कबीर द्वारा एकाधिक बोलियों के प्रयोग में) तो यह अभी निश्चयपूर्वक सिद्ध नहीं किया जा सका कि कबीर-वाणी की आधारभूत बोली कौन सी है। परस्पर विरोधी विचार मिलने का मुख्य कारण यह है कि कबीर की रचनाओं के अनेक संस्करण अथवा रूपान्तर मिलते हैं और प्रत्येक में स्थान-भेद तथा काल-भेद के अनुसार भाषा-भेद भी है। पहले इस बात का निश्चय नहीं हो पाया था कि इसमें कौन-सा रूपान्तर अधिक प्रामाणिक है। कबीर पुस्तक-ज्ञान में विश्वास नहीं करते थे; अत: स्वत. पुस्तक-लेखन की बात तो दूर रही, कदाचित् अपनी वाणियों को सुव्यवस्थित रूप देकर पुस्तकबद्ध कराने की चिन्ता भी उनको न रही होगी। उनकी रचनाओं की पुरानी से पुरानी प्रतियाँ सत्रहवीं शताब्दी ई० की हैं जब कि उनका तिरोधान १४४८ ई० या अधिक से अधिक १५१८-१९ ई० में माना जाता है। अत. प्रामाणिक रूपान्तर के अभाव में उनकी भाषा का वैसा गम्भीर अध्ययन न हो सका जैसा कि अपेक्षित था। इसलिए उसकी आधारभूत बोली के निर्णय की समस्या भी उलझी ही रही।

रचनाओं का प्रामाणिक पाठ

मैंने इसी समस्या को अपने शोधप्रबन्ध का विषय बनाया था। इस उपक्रम में कबीर-वाणी की समस्त उपलब्ध हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों के पाठ का तुलनात्मक अध्ययन कर उसके प्राचीनतम तथा प्रामाणिकतम रूप तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। यह शोध-प्रबंध १९५६ ई० में प्रस्तुत किया गया था और १९६१ में *'कबीर-ग्रन्थावली'* नाम से हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित भी किया गया। इसमें २०० पद, २० रमैनियाँ तथा ७४४ साखियाँ कबीर की प्रमाणिक रचनाएँ मानी गई हैं; अतः इतने अंश का प्रामणिक पाठ भी सम्पादित किया गया है।

श्री जायसवाल का मत

कुछ वर्ष पूर्व प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री माताबदल जायसवाल का 'कबीर की भाषा' (प्रकाशक : कैलाश ब्रदर्स, इलाहाबाद) नाम का ग्रन्थ प्रकाश में आया जो इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। उन्होंने हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' को आधार बना कर उसके व्याकरणिक रूपों की सापेक्षिक प्रयोगावृत्ति का विवेचन कर यह देखने का प्रयास किया है कि उसमें कौन सी बोली मूलाधार के रूप में है और किनका मिश्रण मात्र है। किसी कवि की भाषा का वस्तुपरक अध्ययन वस्तुतः इसी विधि से निरापद रूप में संपन्न किया जा सकता है और सर्वप्रथम इस प्रकार का अध्ययन प्रकाशित करने का श्रेय जायसवाल जी को है। यहाँ उन्ही के आधार पर 'कबीर-ग्रन्थावली' में प्रयुक्त व्याकरणिक रूपों का संक्षिप्त परिचय देते हुए कबीर की भाषा के सम्बन्ध में उनकी स्थापनाएँ दी जा रही हैं।

पश्चिमी हिन्दी की खड़ी बोली में जो शब्द रूप आकारान्त होते हैं, अधिकांशतः वे ब्रज और राजस्थानी में ओकारान्त या औकारान्त और अवधी तथा भोजपुरी में प्रायः स्वरांत या व्यंजनांत होते हैं।

संज्ञा, विशेषण की स्थिति

क० ग्रं० में संज्ञा तथा विशेषण रूपों में प्रायः आकारान्त रूपों की प्रधानता है जैसे 'पियारा' (खड़ी बोली) का तीन बार प्रयोग मिलता है, 'पियारो' (ब्रज०) का एक बार, 'पियार' (अवधी, भोज०) का एक बार भी नहीं। इसी प्रकार 'अकेला' (खड़ी बोली रूप) की चार-आवृत्तियाँ हैं तो 'अकेल' (अवधी, भोज०) की एक आवृत्ति; 'अकेलो' (ब्रज०) की एक भी नहीं। 'झूठा' की चार आवृत्तियाँ हैं, 'झूठ' की एक आवृत्ति और 'झूठो' की एक भी नहीं। 'भला' की तेरह आवृत्तियाँ हैं, 'भलो' की केवल दो और 'भल' की पाँच; 'ऐसा' की चौंतीस आवृत्तियाँ हैं, 'ऐसो' की केवल एक आवृत्ति, 'ऐस' की एक भी नहीं। इनके अतिरिक्त उनकी भाषा में संज्ञा तथा विशेषणों के अनेक आकारांत रूप ऐसे मिलते हैं जिनके ब्रज तथा अवधी वैकल्पिक रूप उसमें मिलते ही नहीं।

सम्बन्धकारक के परसर्गों की स्थिति

सम्बन्ध कारक के परसर्गों के सम्बन्ध में यही स्थिति और भी अधिक स्पष्ट रूप में सामने आती है। उदाहरणस्वरूप 'का' (खड़ी बोली) की आवृत्ति यदि १३५ बार मिलती है तो 'कौ' (ब्रज) की आवृत्ति केवल २५ बार, 'क' (अवधी) की भी २५ बार, 'केर', 'केरा' (अवधी) की क्रमशः २१ और ८ बार। इसी प्रकार 'मेरा' २१ बार आया है तो 'मेरो' १० बार तथा 'मोर' १० बार और 'मोरा' १० बार। 'तेरा' यदि १५ बार आया है तो 'तेरो' ३ बार और 'तोर', 'तोरा' तथा 'तुम्हरा' तीनों मिलाकर ११ बार आए हैं।

सहायक क्रिया की स्थिति

'अस्', 'भू' तथा 'स्ट्' धातु से विकसित सहायक क्रिया से सम्बद्ध भूत निश्चयार्थ के रूप खड़ी बोली, ब्रज तथा अवधी में भिन्न रूप से बनते हैं। 'कबीर-ग्रन्थावली' में इनकी स्थिति इस प्रकार है—'था', 'थे'

(खड़ी) दोनों की ११ आवृत्तियां हैं, 'हवे' (व्रज०) की केवल १ आवृत्ति, 'हुआ', 'हूआ', 'भया' (खड़ी०) की ८१ आवृत्तियां हैं, 'भयौ' (व्रज०) की १७ आवृत्तियां तथा 'भएउ', 'भवा' (अवधी) की केवल २ आवृत्तियां हैं। यदि व्रजभाषा रूप 'भयो' को अवधी 'भएउ' के रूप में मान लिया जाय (क्योंकि केवल थोड़ा सा उच्चारण-भेद है) तो भी पूर्वी हिन्दी सहायक क्रियाओं की कुल १९ आवृत्तियां होती हैं जब कि पश्चिमी सहायक क्रियाओं के ८१ अर्थात् चार गुने से अधिक रूप हैं।

भूत तथा भविष्य निश्चयार्थ की स्थिति

भूत तथा भविष्यकालिक क्रियाओं के सम्बन्ध में भी ठीक यही स्थिति मिलती है। भूत काल में खड़ी की –इया अथवा –आ प्रत्ययांत क्रियाएँ (जैसे मिलिया, पाया आदि) यदि १५० बार मिलती हैं तो व्रज की –इयौ, –यौ –औ प्रत्ययांत क्रियाएँ ३० बार मिलती हैं और –वा तथा –एउ, –एहु प्रत्ययांत अवधी क्रियाएँ १३ बार तथा –ला, –ल प्रत्ययांत भोजपुरी क्रियाएँ केवल ५ बार मिलती हैं। भोजपुरी क्रियारूपों के सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है (यद्यपि जायसवाल जी ने इसका संकेत नहीं किया है) कि इनके अधिकांश रूप एक ऐसे पद में मिलते हैं जो कहरा छंद में है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य का यह विशिष्ट छंद है जिसमें जान बूझ कर भोजपुरी रूप रखे जाते थे और यह ऐसी आकर्षक विधा रही है कि तत्कालीन अधिकांश कवियों ने इस छन्द विशेष में रचना की है। उदाहरण के लिए 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास ने 'राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे' आदि पद इसी छन्द में रचा है जिसमें 'दिहल मोहि कुटिल करमचंद' जैसी पूर्वी शब्दावली की योजना हुई है। जायसी का भी 'कहरानामा' हिन्दुस्तानी एकेडेमी से अमर बहादुर सिंह 'अमरेश' ने प्रकाशित कराया है। कहरा की लोकप्रियता का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि पंजाब के सिक्ख गुरुओं तक ने इस छन्द में काव्य-रचना की है। कहने का तात्पर्य यह कि भोजपुरी

क्रियारूपों की जो पाँच-छह आवृत्तियाँ क० ग्रं० में मिलती भी हैं उनका विशिष्ट कारण है, अतः इसे कबीर की भाषा की सामान्य विशेषताओं में सम्मिलित नहीं करना चाहिए।

—है लगा कर भविष्य निश्चयार्थ क्रिया की रचना खड़ी, व्रज और अवधी तीनों में मिलती है। क० ग्रं० मे भी ये रूप पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। —स लगा कर भविष्यकालिक क्रिया का निर्माण अपभ्रंश-कालीन पद्धति की ओर संकेत करता है, यद्यपि आजकल उसे पजाबी की विशेषता माना जाता है। क० ग्रं० में इस प्रकार के भी अनेक रूप मिलते हैं, जैसे होसी, करसी, लाजसी आदि। किन्तु —ग् भविष्यत् स्पष्ट रूप से खड़ी तथा व्रज की विशेषता है। इनमें भी —गा रूप खड़ी बोली के हैं और —गो —गौ रूप व्रज के। क० ग्रं० में —गा रूप (जैसे आइगा, होइगा आदि) २५ बार मिलते हैं, जब कि —गो, —गौ रूप केवल चार बार और —ब भविष्य रूप, जो पूर्वी हिन्दी का है (सं० 'तव्यम्' का अवशेषांश), केवल एक बार मिलता है।

क्रिया किसी बोली या भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्णायक तत्त्व है, इसीलिए क्रिया पद वाक्य का कलश या शीर्ष माना जाता है। क्रियापदों में भी भूत निश्चयार्थ एकवचन रूप किसी भी रचना की बोली-गत विशेषता को पहचानने में सबसे अधिक सहायक होते हैं। ऊपर हमने देखा कि इस दृष्टि से क० ग्रं० में खड़ी, व्रज, अवधी तथा भोजपुरी के क्रियारूपों का अनुपात १५० : ३० : १३ : ५ है। अतः उसमें खड़ी बोली रूपों की प्रधानता स्वतः सिद्ध है।

कर्मणि प्रयोग

कर्मणि प्रयोग क्रिया का वह रूप है जिससे यह जाना जाता है कि क्रिया का अन्वय कर्म के अनुसार है। जैसे 'मया पुस्तकं पठितम्' में 'पठितम्' का अन्वय कर्म 'पुस्तकम्' के अनुसार है। हिन्दी 'मैंने पुस्तक पढ़ी' में 'पढ़ी' क्रिया भी 'पुस्तक' के अनुसार स्त्रीलिंग में है। यदि

'पुस्तक' के स्थान पर 'ग्रंथ' प्रयुक्त किया जाय तो क्रिया का भी पुल्लिंग रूप 'पढ़ा' हो जायगा। कर्मणि प्रयोग पश्चिमी हिन्दी की विशेषता है। अवधी तथा भोजपुरी में आजकल कर्मणि प्रयोग नहीं मिलते। क० ग्रं० में कर्त्तरि प्रयोग की अपेक्षा कर्मणि प्रयोग अधिक मिलते हैं—जैसे, थापनि पाई थिति भई, जब गोबिंद किरपा करी, भगति बिगाड़ी कांमियां, आदि। जायसवाल जी ने कर्मणि प्रयोग के २३ उदाहरण क० ग्रं० से उद्धृत किये हैं। इस दृष्टि से भी क० ग्रं० की भाषा पश्चिमी हिन्दी की ओर उन्मुख ज्ञात होती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर जायसवाल जी के मतानुसार खड़ी बोली ही क० ग्रं० की मूलाधार बोली है—व्रज, अवधी भोजपुरी या पंजाबी नहीं। किन्तु कबीर की खड़ी बोली में अंतःसहयोगिनी की भाँति व्रजभाषा भी मिली हुई है। उनकी भाषा में खड़ी बोली सर्वनाम के साथ व्रजभाषा की क्रिया और व्रजभाषा सर्वनाम के साथ खड़ी बोली क्रिया का सहज रूप में प्रयोग मिलता है, अतः इन रूपों को ऊपर से लाया हुआ मिश्रण नहीं माना जा सकता। वस्तुतः तत्कालीन 'हिंदुई' या 'हिंदवी' की यही प्रकृति थी जिसका विकास शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश से हो रहा था। कबीर से पूर्व अमीर खुसरो ने अपनी फ़ारसी पुस्तक 'नूह सिपहर' में मध्य देश की दो प्रधान भाषाओं का उल्लेख 'देहलवी' और 'पूरबी' के रूप में किया है। तत्कालीन देहलवी या हिंदुई ही ऐसी भाषा थी जिसको अन्तर्प्रान्तीय या राष्ट्रीय दर्जा प्राप्त था। इसी भाषा को नाथ योगियों ने भी अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए अपनाया था। गोरखनाथ और अमीर खुसरो की भाषा कबीर की हिंदुई की पूर्ववर्ती कड़ी तथा दक्खिनी कवियों की हिंदुई उसकी समसामयिक कड़ी मानी जा सकती है। इसके परवर्ती विकास-क्रम में प्राणनाथ की भाषा को कबीर की हिंदुई का सत्रहवीं शताब्दी का रूप माना जा सकता है।

किन्तु इतने पर भी कबीर की भाषा का विवेचन पूर्ण नहीं हो पाता। कबीर का अधिकांश जीवन बनारस और उसके आस-पास बीता था। यद्यपि वे पर्यटनशील थे और उन्होंने अपनी काव्यरचना के लिए अंतर्प्रान्तीय भाषा हिंदुई को अपनाया था, किन्तु बनारस के आसपास प्रचलित अपनी मातृभाषा को भी वे छोड़ नहीं सकते थे। खुसरो ने इसी बोली को 'पूरबी' कहा था—इसी को प्राचीन काल में कोसली तथा वर्तमान युग में अवधी की संज्ञा दी जाती है। बनारस वस्तुतः अवधी तथा भोजपुरी भाषा-क्षेत्रों का संधिस्थल है, किन्तु काव्य में अवधी का प्रयोग उस समय अधिक होता था। इसीलिए कबीर की भाषा में भोजपुरी की अपेक्षा अवधी रूप अधिक मिलते हैं। कुछ ठेठ शब्द ऐसे अवश्य उनकी भाषा में मिलते हैं जिनका प्रयोग विशिष्ट रूप से भोजपुरी में ही प्रचलित है (जैसे 'मूका', 'चुहाड़ा', 'भंगार', 'चिलकाई', आदि)। यह वैसा ही है जैसे आज कोई अशिक्षित किन्तु पर्यटनशील व्यक्ति राष्ट्रभाषा हिन्दी अपनाए तो उसकी मातृभाषा के ठेठ शब्द यत्र-तत्र सहज रूप से उसमें मिल जायँगे। इस प्रकार कबीर की काव्यभाषा हिंदुई ठीक वैसे ही पूर्वी शैली को अपनाए हुए है जैसे दक्खिनी कवियों की भाषा उसकी दक्षिणी शैली को। अतः कबीर की भाषा को तत्कालीन हिंदुई का ऐसा रूप मानना चाहिए जो पूर्व में प्रचलित था। उसकी अपनी एक विशिष्ट प्रकृति है। अतः उसे खिचड़ी या पंचमेल अथवा सधुक्कड़ी कहना न्यायसंगत नहीं। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में ये तथ्य कुछ विद्वानों के मन में अनुमान के रूप में पहले से रहे होंगे, किन्तु सम्यक् रूप से प्रमाणित करने का श्रेय श्री माताबदल जायसवाल को ही है।

डॉ० दुबे का मत

डॉ० भगवत प्रसाद दुबे ने भी मेरी क० ग्रं० की व्याकरणिक प्रयोगावृत्तियों के आधार पर कबीर की भाषा समस्या पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किया है जिस पर १९६६ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल्० उपाधि प्रदान की गई और जो तीन वर्ष बाद (१९६९ ई० में) नेशनल

पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली द्वारा 'कबीर-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' नाम से प्रकाशित किया गया। डॉ० दुबे के अनुसार क० ग्रं० में प्रयुक्त विभिन्न बोलियों के दो प्रकार के रूप प्राप्त होते हैं— (१) मिश्रित रूप जो दो या दो से अधिक बोलियों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं; (२) विशिष्ट या अमिश्रित रूप जो बोली विशेष में ही प्रयुक्त होते हैं। इन दोनों प्रकार के बोलीगत रूपों और उनकी प्रयोगावृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन डॉ० दुबे ने पन्द्रह सारणियों (टेबुल) में प्रस्तुत किया है। किन्तु इस अध्ययन में उन्होंने केवल खड़ी, ब्रज, राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी के ही रूपों पर विचार किया है, अन्य बोलियों के रूपों पर अत्यन्त सीमित प्रयोग मिलने के कारण विचार नहीं किया गया—जैसे पंजाबी की 'जासी' आदि क्रियाओं के कुछ रूप अवश्य मिलते हैं, किन्तु इतने अधिक नहीं कि उनके लिए पृथक् सारणी बनाई जाय। सारणियाँ भी तीन प्रकार की दी गई है। उसमे से तीसरे प्रकार की सारणी (नं० १५) में पाँचों बोलियों की सम्पूर्ण आवृत्तियाँ दी गई हैं; अतः उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

	खड़ी		ब्रज		राज०		अवधी		भोज०	
	मि०	अमि०	मि०	अमि०	मि०	अमि०	मि०	अमि०	मि०	अमि०
संज्ञा	२०२		५८३	१६८	१७२	३१	३६७	७०	३३२	
विशे०	२४	४०	६३	७९	२७		२६	२७		१
परसर्ग	१००१		१०२०	५९	६२८	१४	८७५	५८	१०२	
सर्वं०	७४९	१६१	१५७१	१३८	३५७	१	१४७४	१५९	१४९	१
क्रिया	३९०७	३११	१६१०	५९२	१३५६	'	३८१६	२१७	१०५०	२३
कुल	५८९३	५१२	६८४७	१०-३६	२५४३	४६६	-५९१	५३१	१८२३	२५

इस सारणी से स्पष्टतया ब्रजभाषा के अमिश्रित रूपों का प्रयोग सर्वाधिक सिद्ध होता है। ब्रजभाषा के ये रूप सभी बोलियों के अमिश्रित रूपों (खड़ी ५१२, राज० ४६, अवधी ५३१, भोज० २५) की सम्मिलित आवृत्तियों (१,११४) के लगभग समान (१,०६६) प्राप्त होते हैं, पृथक्-पृथक् तुलना करने पर भी केवल सर्वनाम की दृष्टि से ब्रजभाषा के प्रयोग कुछ कम हैं। सर्वनाम में खड़ीबोली की १६१, अवधी की १५६ की तुलना में ब्रज की केवल १३८ आवृत्तियां मिलती है, किन्तु इतना कम अन्तर विशेष महत्वपूर्ण नहीं है।

अमिश्रित रूपों के अतिरिक्त मिश्रित रूपों की दृष्टि से भी ब्रजभाषा की प्रयोगावृत्तियाँ अधिक निकलती हैं। इस प्रकार डॉ० दुबे के अनुसार "क० ग्रं० मे अमिश्रित तथा मिश्रित दोनों रूपों में ब्रज के रूपों का स्पष्ट रूप से सर्वाधिक प्रयोग देखकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसकी मूलाधार बोली ब्रज है।" (पृ० २५७) किन्तु मूलाधार बोली के रूप में यद्यपि कबीर ने ब्रज को स्वीकार किया फिर भी मध्यदेश में उस समय विकसित हो रही अन्य बोलियों को भी उन्होंने सहायक रूप में अपने काव्य में स्थान दिया जिनमें दो प्रधान हैं। एक तो दिल्ली मेरठ के आसपास की हिंदुई या खड़ीबोली, दूसरी अपनी मातृभाषा अवधी जिसे अमीर खुसरो ने पूर्वी कहा है। अवधी क्षेत्र से मिला हुआ भोजपुरी क्षेत्र भी है, अतः भोजपुरी रूपों का भी प्रयोग यत्र-तत्र उनके काव्य में मिल जाता है, किन्तु अत्यल्प मात्रा मे। खड़ी, ब्रज, अवधी आदि में जो मिश्रित रूप मिलते हैं वे पश्चिमी शौरसेनी से हिन्दी को प्राप्त हुए थे। दूसरे पन्द्रहवी शती में यद्यपि इन बोलियों का अलग-अलग निर्माण हो रहा था फिर भी एक-दूसरे से बहुत निकट का संपर्क भी था, इसलिए भी बहुत से रूपों का मिश्रण हो गया। क० ग्रं० में यह मिश्रण बहुत अधिक मिलता है।

डॉ० दुबे की स्थापना कबीर की भाषा के सम्बन्ध में डॉ० सुनीति

कुमार चटर्जी का अभिमत (ओ० डे० वे० लैं० पृ० ९९) प्रतिपादित होता है।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों के मतों में यद्यपि हम कुछ वैभिन्य पाते हैं, किन्तु उनसे इतना तो अवश्य ही निर्धारित हो गया है कि क० ग्रं० की मूलाधार बोली खड़ी अथवा ब्रज में से ही कोई एक है। प्रसन्नता इस बात की है कि कबीर का भाषाशास्त्रीय अध्ययन भी उक्त दोनों विद्वानों के प्रयास से पर्याप्त दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित हो चुका है। अब आवश्यकता इस बात की है कि कोई तीसरा व्यक्ति जो इस विषय में निष्णात हो, सूक्ष्मता से इन मतों की निष्पक्ष जाँच करे। सम्भव है, निकट भविष्य में इस प्रकार का भी कोई प्रयास हो जाय।

डॉ० महेन्द्र का मत

अभी हाल ही में दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ० महेन्द्र ने मेरी ही क० ग्रं० के आधार पर कबीर की भाषा के सम्बन्ध में तीसरा शोधग्रन्थ (कबीर की भाषा) प्रस्तुत किया। उनके भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का निष्कर्ष इस प्रकार है—

"संज्ञा, परसर्ग, सर्वनाम, क्रिया और अव्ययों में अवधी, ब्रज तथा खड़ी बोली—इन तीनों के रूपों का अत्यधिक मिश्रण है। प्रयोगावृत्ति की दृष्टि से संज्ञा तथा क्रिया में ब्रज के रूप अधिक हैं, परसर्ग और अव्यय अवधी के अधिक हैं तथा सर्वनाम खड़ी बोली के। वैसे रूपों के वैविध्य की दृष्टि से अवधी के रूप अपेक्षतया अधिक पाये जाते हैं। भाषा-निर्णय करते समय इस तथ्य की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती।... फिर भी केवल अवधी को कबीर की भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली के रूपों का इतना अधिक मिश्रण है कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कारण कबीर को किसी एक भाषा का कवि अथवा क० ग्रं० की भाषा कोई एक बोली स्वीकार करना वैज्ञानिक नहीं। कबीर की भाषा में अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली इन तीन भाषाओं का मिश्रण मानना ही अधिक न्याय-संगत तथा

वैज्ञानिक होगा। इन तीनों के मिश्रित रूप के साथ राजस्थानी, भोजपुरी तथा पंजाबी के रूपों का सहायक रूप में प्रयोग हुआ है।" (पृ० २१६–१८)

सन् १६२८ ई० में ना० प्र० सभा की 'कबीर-ग्रन्थावली' का सम्पादन करते समय डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कहा था कि कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है। हम देखते हैं कि लगभग पचास वर्षों के बाद भी यह समस्या ज्यों की त्यों टेढ़ी खीर बनी हुई है।

भाषा सम्बन्धी कुछ अन्य भ्रम

कुछ लोग कबीर पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होंने शब्दों को बुरी तरह तोड़ा-मरोड़ा है और व्याकरण के नियमों का भी ध्यान नहीं रखा है। कबीर की भाषा में वस्तुतः अपभ्रंश के तत्त्व बहुत हैं, साथ ही जनपदीय तत्त्व भी मिल कर उसको किंचित् गूढ़ और अनगढ़ अथवा अटपटी अवश्य बना देते हैं, किन्तु शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने का आरोप पूर्णतया निराधार है। उस समय शब्दों के जैसे रूप प्रचलित थे उन्हीं का प्रयोग उन्होंने किया है। जहाँ तक व्याकरण का प्रश्न है, वह भाषा का अनुगामी होता है। कबीर की भाषा का भी अपना पृथक व्याकरण है, किन्तु जैसा भी वह है, उसमें सर्वत्र एकरूपता है। उदाहरण के लिए 'दिल' शब्द का प्रयोग सर्वत्र स्त्रीलिंग में है (यद्यपि आजकल यह पुल्लिंगवाची है); ऐसा नहीं है कि कहीं पुल्लिंग रूप में प्रयुक्त हो और कहीं स्त्रीलिंग में। किसी प्रतिलिपिकार की भूल के कारण उनकी रचनाओं के किसी रूपांतर में यदि कहीं व्याकरण सम्बन्धी असंगति मिलती हो तो इसके लिए कबीर दोषी नहीं माने जा सकते। किन्तु 'दिल' का प्रयोग स्त्रीलिंग में करना व्याकरणिक असंगति नहीं मानी जायगी। इस प्रकार के कुछ विशिष्ट प्रयोग किसी काल विशेष अथवा कवि विशेष की रचनाओं में प्रचलित हो जाते हैं। इसी प्रकार तुलसी में भी 'प्रान' शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है, किन्तु इससे उन पर व्याकरण की शिथिलता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। अन्य भक्त कवियों की तरह कबीर

ने भी अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग उन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल बना कर किया है।

अभिव्यंजना शैली

कबीर की भाषा यद्यपि सादी, अलंकारविहीन और कहीं-कहीं अनगढ़ अथवा अपरिष्कृत भी है, किन्तु उसमें अभिव्यक्ति की आश्चर्यजनक क्षमता है। उनका वर्ण्य विषय आध्यात्मिक है, किन्तु उनके चिंतन में बासीपन बिलकुल नहीं है, बल्कि उसमें स्वानुभूति की प्रधानता है। यदि उन्होंने दूसरों की विचार शैली अपनाई भी है तो उसमें उनका निजी चिंतन भी बोलता रहता है। उनकी सरलता तथा प्रभावोत्पादकता का मूल कारण यही ज्ञात होता है। प्रस्तुत संकलन के एक पद में उन्हें हरि भक्त को तीर्थ से भी बड़ा बताना है। वे नितान्त भोलेपन से इस प्रकार कहते हैं—"ऐ मेरे राम, एक झगड़े का निपटारा करो, अगर तुम्हें अपने सेवक से कुछ भी सरोकार है। ब्रह्मा बड़ा है कि वह जिसने ब्रह्मा को बनाया ? वेद बड़ा है या वह जहाँ से वेद आया ? यह मन बड़ा है कि वह जिसे मन मान जाय ? राम बड़ा है या वह जो राम को जान जाय ? कबीर कहता है, यह सोच कर मैं उदास हुआ जा रहा हूँ कि तीर्थ बड़ा है या हरि का भक्त (जो तीर्थ को बनाने वाला है) ?" इस कथन में ऊपर से देखने में तो सरलता है, किन्तु तर्कों की शैली और विवेचनापद्धति यह बता रही है कि इस कथन के पीछे एक आत्मविश्वासी गम्भीर चिंतक का स्वर छिपा हुआ है जो हमें सोचने के लिए मजबूर कर देता है। ऐसी विशिष्ट सादगी में ऊँची से ऊँची बात कह देने में कबीर माहिर हैं। कभी अपनी परमानुभूति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

सो जीवन भला कहाही। बिनु मूएं जीवन नांहीं।

—क० ग्रं०, पद ११८

कभी सहजावस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जहां नहीं तहां कछु जांनि। जहां नहीं तहां लेहु पिछांनि

—[illegible] १२३

कहीं गृहस्थ और वैरागी का सूक्ष्म अन्तर बताते हुए कहते हैं—

गावन ही रोज है, रोवन ही में राग।

—क० ग्रं०, साखी ३२-१३

इन पंक्तियों में एक भी विलष्ट शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु मात्र अन्वय कर देने से इन उक्तियों की गम्भीरता नहीं आँकी जा सकती। वस्तुतः बिना सत्य का आमने-सामने साक्षात्कार किए इस प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य आ ही नहीं सकता। कबीर का साक्षात्कार ऐसा ही था। इतने गूढ विषयों को इतनी अधिकारपूर्ण सरलता से सुस्पष्ट करने की क्षमता उनमें इसीलिए है कि उनकी अभिव्यक्ति में शास्त्रज्ञान की तोतारटंत शैली का प्रभाव एकदम नहीं है। उसमें नख से शिख तक ताजगी है। इसी विशेषता पर मुग्ध होकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "अकह कहानी को रूप दे कर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।" (कबीर, पृ० २१६)।

कबीर की भाषा की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि उसकी मार बड़ी तेज है और वह इतनी जोवंत है कि पाठक या श्रोता को झकझोर देती है। जहाँ पर उन्होंने बाह्याचार आदि का खंडन किया है वहाँ उनकी भाषा का यह गुण और भी अधिक निखर गया है। शास्त्रीय (Academic) पद्धति पर परिष्कृत और परिमार्जित ढंग से अपने विचार व्यक्त करने वालों की भाषा में तेज धार एकदम नहीं होती। वह तथा-कथित शिष्टता तथा परिष्कार में ही कुंठित हो जाती है। जो जितना ही अधिक शिक्षित तथा शास्त्रीय होता जायगा उसकी भाषा की धार-कोर उतनी ही अधिक समाप्त होती जायगी। कभी-कभी तो लोग ऐसी परिष्कृत और परिमार्जित भाषा लिख देते हैं कि वह निष्प्राण हो जाती है। अत्यधिक शिष्ट (!) माने जाने वाले अंग्रेजों के वाक्य ऐसे भारी-भरकम और उनका शब्दजाल ऐसा जटिल होता है कि मजाल क्या, कोई उनका एक निश्चित निष्कर्ष (यदि उसमें सचमुच कुछ हो) निकाल

पाए। कबीर के संस्कार ऐसे थे कि उनकी भाषा की धार-कोर बिलकुल दुरुस्त थी, उसके कुण्ठित होने का कोई प्रश्न ही नहीं था। इसके साथ ही वे तत्कालीन समाज में दृढ़तापूर्वक जड़ जमाने वाली विषमता के स्वयं भुक्तभोगी थे। इस संस्कार ने उस धार पर सान चढ़ाने का काम किया। उनके शब्द सामाजिक विषमता का गरल पान करने वाले और भक्ति-गंगा को मस्तक पर धारण करने वाले नीलकंठ भूतनाथ के डमरू के शब्द थे जिनके श्रवण मात्र से प्रपंचबुद्धि लोग मौन धारण लेते थे।

उपर्युक्त विशेषता की दृष्टि से कबीर की अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं, किन्तु यहाँ दो स्थलों की ओर विशेष रूप से पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

तूं बाम्हन मैं कासी क जोलहा चीन्हि न मोर गियांनां।
तैं सब मांगे भूपति राजा मोरैं रांम धियांनां॥
पूरब जनम हंम बांम्हन होते ओछे करम तप हींनां।
रांम देव की सेवा चूका पकरि जुलाह कीनां॥
हंम गोरू तुम गुआर गुसांई जनम जनम रखवारे।
कबहूं न पारि उतारि चराएहु कैसे खसम हंमारे॥

—क० ग्रं०, पद १८८।

(इन पंक्तियों में निहित व्यंजनाओं के लिए पाठक कृपया व्याख्या-भाग देख लें)। अन्यत्र वे कहते हैं—

जीअ बधहु सु धरम करि थापहु अधरम कहहु कत भाई।
आपस कउ मुनिवर करि थापहु कार्कों कहौं कसाई॥

—क० ग्रं०, पद १९१।

"जीव-वध करते हो और शास्त्रों का प्रमाण देकर उसे धर्म बताते हो तो कहो भाई फिर अधर्म कहाँ है? (ऐसा अधर्म करते हुए भी) आपस में मिल बजा कर स्वतः मुनिवर बन बैठते हो तो फिर कसाई की क्या परिभाषा होगी!" इस कटु सत्य से ब्राह्मण-समाज का कौन समझ-

दार व्यक्ति मुकर सकता है—और मुकरना भी चाहे तो किस तर्क का आश्रय लेकर ? इन्हीं उक्तियों को ध्यान में रख कर द्विवेदी जी ने लिखा है कि "अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता ।" (कबीर, पृ० २१६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की भाषा में एक विशेष प्रकार की ऊर्जा अथवा उठान है जिसके पीछे उनकी संस्कारगत ईमानदारी बोलती है । भाषा की इस विशेषता की थोड़ी बहुत झांकी हिन्दी में या तो उनके थोड़े समय बाद होने वाले जायसी में मिलती है या फिर उनके बहुत समय बाद केवल प्रेमचन्द की रचनाओं में देखने को मिलती है । इस ऊर्जा का रहस्य वस्तुतः यह है कि कुछ संस्कारगत अन्तरों के बावजूद भी इन लेखकों ने समान रूप से अपनी अभिव्यक्ति-शैली उसी ग्रामीण समाज से प्राप्त की है जो इस शक्ति का असल्य स्रोत है । कहा जाता है कि गेहूँ आदि की उपज जब कमजोर होने लगती है तब उसे पुष्ट बनाने के लिए उसका मेल जंगली कठिया गेहूँ से कराया जाता है । कबीर की भाषा में वही जनपदीय उर्जस्वित वेग है ।

कबीर की भाषा को देख कर उस ग्रामीण नायिका (उसे वचन-विदग्धा, रूपगर्विता, प्रगल्भा, क्या-क्या कहा जाय ?) का स्मरण हो जाता है जो निहायत सादगी और आत्मविश्वास के साथ कहती है—

ग्रामरुहास्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि ।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ।।

अर्थात् गाँव में पैदा हुई, गाँव में ही रहती हूँ । जानती भी नहीं कि नगर कहाँ होता है ! इतना अवश्य है कि नागरिकाओं के पति आकर यहाँ की खाक छान जाया करते हैं । वैसे कहने को जो भी हूँ सो हूँ !!

कबीर की भाषा भी कहने के लिए उजड्ड, फँवई, गंवारू चाहे जो कुछ भी कह ली जाय, उसकी अभिव्यक्ति के छलकते सौंदर्य पर बड़े-बड़े और परिष्कृत कवियों की भाषा निछावर की जा सकती है । ● ●

८—कबीर का महत्त्व

उत्तर भारतीय साधना तथा साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी के अन्य कवियों की तुलना में कबीर का विशिष्ट योगदान है। भारतीय चिंताधारा के दो मुख्य स्रोत हैं : वैदिक अथवा ब्राह्मण धारा तथा वेद-विरोधी अथवा श्रमणक धारा। जब वेदों की रचना हो रही थी और वैदिक कर्मकाण्ड का आतंक अपनी चरमसीमा पर था तब भी उनका विरोध करने वाले व्रात्य लोग मौजूद थे जो अपनी संस्कृति के किसी पहलू में वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे। आगे चलकर इसी धारा में बौद्ध धर्म तथा जैनधर्म का अभ्युदय हुआ जिनके दर्शन की आधार शिला निरीश्वरवादी है। बौद्ध धर्म की ही एक प्रधान शाखा में सहजिया सिद्ध लोग हुए जो ब्राह्मणों के खोखले शास्त्र-ज्ञान और बाह्याडम्बर की कसकर आलोचना करते थे, वेदों की खिल्ली उड़ाते थे और किसी परमात्मा के प्रभुत्व में विश्वास नहीं करते थे। इसी वेद-विरोधी धारा में कबीर के कुछ पूर्व गोरखनाथ हुए थे जिन्होंने पहली बार शैव तंत्र की विचारधारा के कुछ तत्त्वों का समावेश कर इसमें सदाचार और आस्तिकता लाने का प्रयत्न किया। किन्तु उन पर योग दर्शन का प्रभाव सर्वोपरि था, इसीलिए उनके साहित्य तथा सम्प्रदाय में नीरस हठयोग की ही चर्चा अधिक है। इस प्रकार कर्मकाण्ड के जिन जंजालों की निंदा की जाती थी उसके शिकार वे स्वयं हो गये। कबीर इसी वेद-विरोधी संस्कृति की देन हैं। किन्तु उनका महत्त्व इस बात में है कि बाह्याचार, मूर्तिपूजा, जातिवाद आदि का खण्डन अपने पूर्ववर्ती समस्त विचारकों की तुलना में अधिक उत्साह से करते हुए भी अपने राम के प्रति उन्होंने ऐसी अटूट निष्ठा जगाई जिसके दर्शन उनके पूर्ववर्ती गोरखनाथ में भी नहीं होते जो वेद-विरोधी धारा के सर्वप्रथम आस्तिक हिन्दी कवि थे। बल्कि हम, यहाँ

तक कह सकते हैं कि उनकी एकान्त निष्ठा उनके लगभग सौ वर्ष बाद होने वाले तुलसी तथा सूर जैसे उत्कृष्ट हिन्दी कवियों से भी किसी प्रकार घट कर नहीं हैं जो वेदविहित अथवा ब्राह्मण संस्कृति की अभूतपूर्व देन हैं। साथ ही एक और विलक्षण बात हम यह पाते हैं कि कबीर दास के राम बौद्धों के शून्य हैं या वेद उपनिषद् के प्रतिपाद्य निर्गुण निराकार अद्वैत ब्रह्म हैं या तंत्र के शिव तत्त्व हैं या भक्तों के सोपाधिक सगुण ब्रह्म हैं—इसका भी निर्णय कर लेना आसान काम नहीं है। केवल इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके राम या कृष्ण दशरथ अथवा वसुदेव के पुत्र नहीं हैं। कुछ उदाहरणों से उपर्युक्त कथन का स्पष्टीकरण हो जायगा।

बौद्धों के शून्यवाद का उपयोग कबीर ने कितने सहज ढंग से किया है यह निम्नलिखित उद्धरण से सिद्ध होता है—

जहां नहीं तहां कछु जांनि। जहां नहीं तहां लेहु पिछांनि॥
नांही देखि न जइए भागि। जहां नहीं तहं रहिए लागि॥
कहे कबीर गुर परम गियांन। सुंनि मंडल में धरौ धियांन॥

क० ग्रं०, पद १२३।

इस पद में वे बौद्ध सिद्धों के प्रज्ञोपाय योग तथा नाथ-सम्प्रदाय की नाद-विन्दु साधना का भी अपनी शैली में उल्लेख करते हैं, यथा—

मन मंजन करि दसवें द्वारि। गंगा जमुना संधि विचारि॥
विंदहि नाद कि नादहि विंद। नादहि विंद मिलै गोविंद॥

साथ ही 'भरम जेवरी जग कियौ साप' के द्वारा शंकराचार्य के अध्यास सम्बन्धी प्रसिद्ध दृष्टांत का उल्लेख किया है जिसका संकेत तुलसीदास ने 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' द्वारा किया है।

बौद्धधर्म के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लंकावतार सूत्र' में बताया गया है कि परम सत्य ऐसी वस्तु है जिसकी सत्ता आरम्भ से ही रही है। इसके लिए उस ग्रन्थ में 'पूर्वधर्मस्थितता' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह स्थिति ऐसी है जिसमें न कोई विचार आ सकता है न दर्शन। बौद्ध धर्म के

ग्रन्थों में बताया गया है कि जिस प्रकार खान में सोना रहता है वैसे ही सब बुद्ध यहाँ विद्यमान हैं अर्थात् यह सभी का मूलाधार है। कितना आश्चर्यजनक है कि परिस्थिति और मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी 'पातंजल योगसूत्र' में समाधि की परिभाषा इसी प्रकार बताई गई है। अर्थात् "जब आत्मा निज स्वरूप में स्थित हो जाती है तब उसे समाधि कहते हैं (स्वरूपेऽवस्थानम्)। कबीर भी इसी प्रकार अपने उद्गम-स्थान को वापस पहुँचने की बात कहते हैं—

सुरति समांनीं निरति मैं, अजपा मांहैं जाप।
लेख समांनां अलेख मैं, यौ आपा मांहैं आप॥
—क० ग्रं०, साखी ६-१०।

'उस घर' को कबीर शाश्वत मानते हैं और वहाँ पहुँचने पर आवागमन और भाव-अभाव से मुक्ति मिल जाती है। इसी प्रकार उपनिषदों की अनेक उक्तियों का सादृश्य कबीर की रचनाओं में ढूंढा जा सकता है, उदाहरणतया—

मन लागा उन्मन्न सौं, उनमुनि मनहिं विलंगि।
लौन बिलंगा पांनियां, पांन। लौन विलंगि॥
—क० ग्रं०, साखी ६-४०

इनकी तुलना बृहदारण्यक उपनिषद् की निम्नलिखित पंक्ति से की जा सकती है—

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुलीयते।

इसी प्रकार अद्वैतवाद के दृष्टान्तों का भी उन्होंने ज्यों का त्यों उपयोग किया है। उदाहरणतया—

आंगन बेलि आकास फल, अनब्यावर का दूध।
ससा सींग की धनुहड़ी, रमैं बांझ का पूत॥
—क० ग्रं०, साखी १३-३।

तैत्तरीय उपनिषद् की निम्नलिखित पंक्तियों से उपर्युक्त उद्धरण तुलनीय है—

मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः ।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृंगधनुर्धरः ।

अर्थात् "मृगतृष्णा के जल में स्नान कर और आकाश कुसुम धारण कर यह वन्ध्या का पुत्र खरगोश की सींग का धनुष लिए चला जा रहा है।" दोनों ही स्थानों पर यह उक्तियाँ माया के सम्बन्ध में हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं एक ही पद में अनेक स्रोतों की विचारधाराओं की समानता मिलती है। यथा—

बहुरि हंम काहेको आवहिंगे।
बिछुरें पंच तत्त की रचनां तब हंम रामहि पावहिंगे॥
पिरथी का गुन पांनीं सोखा पांनीं तेज मिलवाहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे॥
जैसे जलहि तरंग तरंगिनीं ऐसे हंम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वांमीं सुखसागर हंसहिं हंस मिलावहिंगे॥
—क० ग्रं०, पद ६७।

इसमें ऊपर की कुछ पंक्तियों में लय योग का प्रतिपादन है और पाँचवीं पंक्ति में अद्वैतवाद का सिद्धान्त ग्रहण कर लिया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय के एक ग्रन्थ 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा गया है—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चाऽपरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥

अर्थात् 'कुछ अद्वैत को चाहते हैं; कुछ द्वैत का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु द्वैताद्वैतविलक्षण समरस तत्व को नहीं जानते।' कबीर भी इसी प्रकार कहते हैं—

एक कहौं तौ है नहीं, दोइ कहौं तौ गारि।
हरि जैसा रहै; कहै कबीर बिचारि॥
भारी कहौं तौ बहु डरौं, हरुआ कहौं तौ झूठ।
मैं क्या जांनौं रांम कौं, नैंनां कबहुं न दीठ॥
—क० ग्रं०, साखी ७-९।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने भारत की आत्मवादी तथा अनात्मवादी दोनों प्रमुख दार्शनिक पद्धतियों से सार-संकलन किया। इसका एक अन्य कारण भी है। बौद्ध दर्शन में गौतम बुद्ध के कुछ समय बाद से ही आत्मवादी विचारधारा प्रवाहित होने लगी। 'लंकावतार-सूत्र' में चित्त का वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानो हम उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म के विषय में पढ़ रहे हैं। इसके पश्चात् योगाचार मत के प्रतिष्ठापक आर्य असंग द्वारा दिये हुए धर्मधातु या परमार्थ के वर्णन में भी हम यही विशेषता पाते हैं। आचार्य वसुबंधु ने भी असंग की भाँति परमार्थ का वर्णन एक परम सत्ता के रूप में किया है और कहा है कि यह परमानन्द सुख-स्वरूप और नित्य है, यही मोक्ष और निर्वाण है। आगे चलकर दिङ्नाग भी 'विज्ञप्तिमात्रता' का वर्णन करने के लिए उसी शैली का अनुसरण करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन विचारकों द्वारा वर्णित 'चित्त', 'धर्मधातु', 'परमार्थ', अथवा 'विज्ञप्तिमात्रता' आदि आत्मतत्त्व के बोधक हैं। बौद्ध विचारधारा से प्रभावित होने के कारण कबीर में भी इस समन्वय का उत्कृष्टतर रूप हमें देखने को मिलता है।

किंतु कबीर की महनीयता इतने तक ही सीमित नहीं कि उन्होंने ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी तत्त्व-दर्शन के एक सर्वव्यापक तंतु को ग्रहण किया, किंतु उनका श्रेय इस बात में है कि उन्होंने इस समन्वय को एक ऐसी रमणीय पृष्ठभूमि पर अवतरित किया जहाँ प्रेम ए" भक्ति का समुद्र उमड़ रहा है। उनकी रचनाओं में माधुर्य की वे समस्त भावनाएँ बीज रूप में वर्तमान हैं जिनका पल्लवन बंगाल के सहजिया वैष्णवों की अथवा वृन्दावन के रसेश्वर सम्प्रदाय की राधा-कृष्ण उपासना में हुआ। महान् वही है जो किसी सीमित चौखटे में बँधा न रहे। कबीर ऐसे ही बेहद्दी मैदान में विचरण करने वाले थे। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि—

हद् चलै सो मानवा, बेहद चलै सो साध।
हद बेहद दोऊ तजै, ताकर मता अगाध ।।

—क० ग्रं०, साखी २०-६१।

हिंदी के इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए पहले हमने देखा है कि जब भक्ति भावना दक्षिण से उत्तर भारत में पुनः आई तभी अपभ्रंश भाषाएँ समाप्त होने लगी थीं और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ अपना विकास करने लगी। हिंदी में इस भावना की अभिव्यक्ति निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों में हुई। पहली के सर्वप्रथम समर्थक हिंदी कवि कबीर और दूसरी के तुलसी हुए। किंतु हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि तुलसी ने राम-भक्ति का जो विराट् और आकर्षक वितान ताना उसके लिए सूत और ताना-बाना प्रस्तुत करने वाला यह जुलाहा ही था—यद्यपि ऊपर से देखने में दोनों की निर्गुण तथा सगुण भक्ति में पर्याप्त अंतर है। तुलसी ने गोरखनाथ पर जोग जगा कर भक्ति भगा देने का जो आरोप लगाया है और भक्ति के पुनरुद्धार के लिए उन्होंने जो भगीरथ प्रयत्न किया उसकी पृष्ठभूमि तैयार करने वाले कबीर ही थे जिनका अविर्भाव तुलसी से लगभग सौ वर्ष पूर्व हुआ था। हिन्दी भक्त कवियों में समय की दृष्टि केवल नामदेव (मृ० सं० १४०५) ही कबीर के पूर्ववर्ती हैं। उन्होंने अपनी मातृभाषा मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी कुछ भक्तिपरक रचनाएँ की हैं, लेकिन उन पर हठयोग की विचार-धारा का प्रभाव कबीर की अपेक्षा अधिक है। हिंदी प्रदेश के कवियों में सर्वप्रथम कबीर की ही रचनाओं में भक्ति का स्पष्ट रूपरेखा उभड़ कर सामने आई है। अतः इस दृष्टि से उनके योगदान का विशिष्ट महत्त्व है। समस्त देश में निर्गुण सम्प्रदायों का जो जाल बिछा हुआ है उन सभी के प्रवर्तक कबीर को ही अपना पथप्रदर्शक मानते हैं; किंतु विचित्रता यह है कि स्वतः कबीर ने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया था।

कबीर की रचनाओं में योग की जो थोड़ी बहुत चर्चा मिलती है अथवा योगपरक शब्दावली का जो प्रयोग मिलता है उससे कुछ लोग यह निष्कर्ष

निकालते हैं कि कबीर वस्तुतः गोरखनाथ के हठयोग से अत्यधिक प्रभावित हैं। किन्तु यह मान्यता निराधार है। कबीर का योग भक्ति का साधन मात्र है, साध्य के रूप में उन्होंने उसका महत्त्व कहीं नहीं बतलाया। योग की उपयोगिता वे केवल मन को स्थिर करने की दृष्टि से मानते हैं और इस दृष्टि से वे हठयोग की ओर उतने अधिक आकृष्ट नहीं दिखलाई पड़ते जितना बौद्ध सिद्धों के सहजयोग की ओर। किन्तु सिद्धों की आचार-भ्रष्टता का उन्होंने तीव्र विरोध किया। यहाँ विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि जिस तरह दर्शन या तत्त्वचिंतन की दृष्टि से वे भारत की दोनों प्रधान चिंताधाराओं की समन्वयात्मक पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं उसी तरह मनःसाधना के क्षेत्र में भी उन्होंने दोनों स्रोतों से सार-संकलन किया है। इस सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ बौद्ध धर्म के प्रमुख ग्रन्थों तथा सिद्धों की विचारधारा के अनुकूल तो हैं ही, उपनिषदों, भगवद्गीता तथा शैव और शाक्त तन्त्रों की साधना-पद्धतियों से भी उनका विलक्षण साम्य दृष्टिगत होता है। जैसे मन को स्थिर करने के प्रसंग में जब वे सूर्य-चन्द्र या गंगा-यमुना को मिलाने की बात करते हैं, तो बिल्कुल बौद्ध सिद्धों से मिलती-जुलती शैली का प्रयोग करते हैं। सिद्ध लोग भी चन्द्र और सूर्य को घिस घोंट कर एक में मिलाने का उपदेश करते हैं जो दिन-रात, ज्ञान-अज्ञान, भाव-अभाव आदि समस्त द्वन्द्वों के बोधक हैं। तीसरी नाड़ी सुषुम्ना में जब मन पहुँच जाता है तब दिन-रात या भाव-अभाव की भावना से वह विनिर्मुक्त हो जाता है। इसी को कबीर सहजावस्था या शून्यावस्था कहते हैं। इसी को उन्मनी तथा चौथी अवस्था भी कहते हैं जो क्रमशः नाथ-सम्प्रदाय तथा गीता की विचार शैली से प्रभावित है। हम देखते हैं कि यहाँ भी उन्होंने ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी दोनों धाराओं की चिन्तन-पद्धतियों और पारिभाषिक शब्दों को एक में समेट लिया है। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि आज लगभग साढ़े पाँच सौ वर्षों के पश्चात् भी मनःसाधना के क्षेत्र में कबीर से सभी प्रेरणा ग्रहण करते हैं—व्यावहारिक दृष्टि से वे

चाहे जिस सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो।

सामाजिक दृष्टि से कबीर का महत्त्व सबसे अधिक इस बात में है कि तत्कालीन समाज में जो विषमता व्याप्त थी उसका उन्होंने प्राणपण से मूलोच्छेद करने का प्रयास किया। वे जिस प्रकार के परिवार में पोषित हुए थे उसको तत्कालीन विषमता और क्रूरता का गरल पीना पड़ा था। इसीलिए भुक्तभोगी होने के नाते उनमें जो निर्भीकता और ताजगी मिलती है वह परवर्ती संत-साहित्य में बहुत कम देखने को मिलती है। मानवतावादी विचारों की दृष्टि से कबीर की तुलना में हिन्दी के इने-गिने कवि ही ठहरते हैं।

धार्मिक दृष्टि से भी उन्होंने धर्म के नाम पर फैले हुए समस्त आडम्बरों का तीव्र विरोध किया—वे चाहे जिस धर्म के हो। साथ ही उन्होंने धर्म के शाश्वत और सार्वभौमिक रूप पर बल दिया। महाभारत में *शाश्वत धर्म की परिभाषा दी गई है कि जिस प्रकार के आचरण की* अपेक्षा औरों से अपने प्रति की जाय वैसा ही आचरण दूसरों के प्रति करना धर्म है। *धर्म की यह परिभाषा संसार के किसी भी व्यक्ति के लिए* मान्य होगी। कबीर भी लगभग ऐसी ही बात कहते हैं—

साँई सेती साँच चलि, औरां सौं सुधभाइ।
भावै लांबे केस करि, भावै घुरडि मुड़ाइ॥

—क० ग्रं०, साखी २४-१।

उनके अनुसार किसी सम्प्रदाय को धर्म समझना भूल है, जिसके कारण दुनिया में न जाने कितने निरपराध व्यक्तियों को मौत के घाट उतरना पड़ा है। वे साम्प्रदायिकता के कट्टर विरोधी हैं।

काव्यात्मकता की दृष्टि से कबीर की रचनाओं की स्थिति विलक्षण है। काव्यशास्त्र का जो कटघरा आचार्यों ने बनाया है वह इस शेर के लिए छोटा पड़ता है। अलंकारवादी लोग तो उनकी रचनाओं में काव्यत्व मानते ही नहीं। आलोचकों का दूसरा वर्ग ऐसा है जो मानता है कि कबीर-वाणी का धरातल इतना उच्च है कि काव्य उसके लिए

फोकट का माल या घलुआ सिद्ध होता है। वस्तुतः शास्त्रीय चश्मे से कबीर-काव्य की परख करना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें लोक-साहित्य की अनेक विशेषताएँ पाई जाती हैं। 'कबीर का काव्य एक वन्य कुसुम है जिसका विकास प्राकृतिक नियमों पर ही निर्भर रहा है।' संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द को काव्य मानते हैं और रमणीयता को वे 'लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता' मानते हैं। इस प्रकार व्यंग्यार्थ-चारुता या ध्वनि ही वस्तुतः काव्य का प्राण है, अलंकारादि बाह्य प्रसाधन नहीं। उल्टबासियों तथा साधना संबंधी कुछ पारिभाषिक जटिलताओं वाले अंशों को छोड़कर कबीर की शेष रचनाओं में हम उत्कृष्ट रमणीयता पाते हैं—विशेषतया अनुभूति की तीव्रता और व्यंग्यात्मकता की दृष्टि से वे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं।

भाषा की दृष्टि से कबीर का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने तत्कालीन हिंदुई के ऐसे रूप को आश्रय दिया जो उस समय नया-नया विकसित हो रहा था। उस समय मध्य देश में हिंदी के कम से कम छः जनपदीय रूपों का प्रयोग हो रहा था किन्तु दिल्ली में शासन सत्ता का केन्द्र होने के कारण उसके आस-पास की बोली को प्रधानता दी जा रही थी। कबीर ने उस भाषा में काव्य रचना की जो आगे चलकर भारत की राष्ट्रभाषा हुई और जिसका आरम्भिक रूप 'राउलवेल' की टक्की और गोरखवाणी तथा 'कुतुबशतक' की हिंदुई में मिलता है। साथ ही उनकी दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इस नयी निर्मित होने वाली भाषा में उन्होंने ऐसी संजीदगी ला दी है जैसी उनके पूर्व इस परंपरा के किसी कवि की भाषा में नहीं दीख पड़ती। शास्त्रीय पद्धति पर परिष्कृत ढंग से अपने विचार व्यक्त करने वालों की भाषा में तेज धार नहीं होती, वह तथाकथित शिष्टता या परिष्कार में ही कुण्ठित हो जाती है। कबीर ने अपनी भावाभिव्यक्ति का साँचा सीधे जनजीवन से ग्रहण किया, इसलिए उनकी भाषा भी

धार-कोर बिल्कुल दुरुस्त थी। आभिजात्य का उन्होंने सर्वतोमुखी विरोध किया। भाषा के क्षेत्र में भी अभिव्यक्ति की देशी अकड़ उनकी रचनाओं में मिलती है। वे दूसरे तत्कालीन सामाजिक विषमता के भुक्तभोगी थे। इस संस्कार ने उनकी भाषा पर सान चढ़ाने का काम किया। इसलिए उनकी शब्दावली में पाठक या श्रोता को झकझोर देने वाली जनपदीय ऊर्जा है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण कबीर का व्यक्तित्व हिंदी के अन्य कवियों की तुलना में ऐसा अनूठा बन गया है कि न केवल हिंदी भाषा-भाषी, प्रत्युत अन्य प्रान्तों के लोग, यहाँ तक कि विदेशी विद्वान् भी कबीर के व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक आकृष्ट होते दीख पड़ते हैं।

● ●

९—कुछ आरोप और उनके समाधान

कबीर एक कल्पचेता थे अतः उनके चिंतन का धरातल ऐसा है जिसमे केवल थोड़े से परम्परावादी विचारों को प्रश्रय दिया गया है, अधिकांश को प्रायः झटका देकर झकझोरा ही गया है। समन्वय उन्होंने भी बहुत सूक्ष्म कोटि का किया है किन्तु उससे भी अधिक उन्होंने तत्कालीन विचारधाराओं का मंथन किया है। यह आलोड़न-विलोड़न अथवा 'महनारंभ' इतनी प्रभूत मात्रा में उन्होंने किया कि भारतीय चिंतनधारा की तलहटी में जितना भी कचड़ा था, ऊपर आ गया। कल्पचेता निर्भीक होता है। कबीर ने भी निर्भीकतापूर्वक भारतीय समाज के नियामकों की एक-एक दुर्बलता का नग्न रूप उद्घाटित करने में ज़रा भी कोर कसर नहीं रखी। परिणामतः धर्म और चिंतन के क्षेत्र में एक आंधी सी आ गई—

संतो भाई आई ग्यांन की आंधी।
भ्रम की टाटी सभै उड़ांनीं माया रहै न बांधी॥

इस आंधी से जो कुछ कच्चा और कमज़ोर था वह झड़ गया, केवल पक्का-पक्का रह गया जिसमें निर्मम आघात को सहने की क्षमता थी—

सांठी-सांठी झड़ि गई, भलका रहा सरीर।

इसका परिणाम यह हुआ कि सबको खरी-खोटी सुनाने वाले कबीरदास को सभी का आक्रोशभाजन भी बनना पड़ा और उनपर अनेक प्रकार के आरोप लगाये गये जिनमें से कुछ तो निराधार है किन्तु कुछ में आंशिक तथ्य है।

कहा जाता है कि कबीर की वाणी में लोकधर्म की अवहेलना छिपी हुई है क्योंकि उन्होंने निरंकुशता का प्रचार किया जिससे सामाजिक मर्यादा विशृंखलित हो गई। बहुत से अनधिकारी और अशिक्षित लोग वे-

के कुछ चलते शब्दों को लेकर बिना उनका तात्पर्य समझे यों ही ज्ञानी बने हुए मूर्ख जनता को लौकिक कर्तव्यों से विचलित करने लगे और मूर्खतामिश्रित अहंकार को प्रोत्साहन देने लगे। यह भी कहा गया है कि कबीर तथा अन्य निर्गुण संतों के लोक विरोधी स्वरूप को तुलसीदास ने भलीभांति पहचाना था, उन्होंने ऐसे ही लोगों को लक्ष्य कर कहा था—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहिनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं वेद पुरान।
बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुमसे कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि।

इसी लपेट में यह भी कह दिया जाता है कि "गम्भीर निर्णय देने की योग्यता तथा दूसरों को परखने की शक्ति इन दोनों का अभाव कबीर के दर्शन तथा व्यक्तित्व का प्रधान दोष है।"

किन्तु यदि हम कबीर की रचनाओं को ध्यान से पढ़ें और उन पर निष्पक्षतापूर्वक विचार करें तो पावेंगे कि कबीर तुलसी से कम लोकधर्मी नहीं थे। भारतीय वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मानुसार आरंभ हुई थी अतः सामाजिक मर्यादा की विशृंखलता बचाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करे। केवल जन्मना ब्राह्मण होने के नाते यदि ब्राह्मण समुदाय अपने को सर्वोच्च मानने का डिंडिम घोष करता रहे और मानव-मात्र की समानता का सिद्धान्त ताख पर रख दे तो समाज में अवश्य विशृंखलता होगी। इसीलिए कबीर ने करनी और कथनी की एकता पर और मनुष्य मात्र की समानता पर बल दिया। तुलसी कहते हैं—

पूजिय विप्र जो वेद विहीना।

दूसरी ओर कबीर कहते हैं—

साकत ब्राह्मण जनि मिलै, वैस्नों मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेंटिए, मानहुं मिले गोपाल।

दोनों में कौन अधिक लोकधर्मी है, यह स्वतः स्पष्ट है।

तुलसी में सारी वरेण्यता के बावजूद ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात की भावना मिलती है—इसे इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर इसे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि कबीर की दृष्टि में ब्राह्मण केवल पोथी पत्रा वाला कर्मकाण्डी ब्राह्मण है जिसे वे समाज में फैले हुए सारे बाह्याडम्बर का आविष्कारक मानते हैं। उसके द्वारा जो ज्ञान का विकास हुआ उसे वे एकदम नकार देते हैं जिसका आश्रय वे स्वतः तत्व-विवेचन अथवा भक्ति-निरूपण के प्रसंग में लेते हैं। वस्तुतः वे सहज भक्ति पर बल देते हैं और कर्मकाण्ड का विरोध करते हैं। वे कहते हैं—

तू ब्राह्मण मैं कासी का जोलहा चीन्हि न मोर गियांनां।
तैं सब मागे भूपति राजा मोरे रांम धियांनां॥
हंम गोरू तुम गुआर गुसांई जनम जनम रखवारे।
कबहु न पार उतारि चराएहु कैसे खसम हमारे॥

अथवा—

वेद पुरांन पढ़े का क्या गुन खर चंदन जस भारा।
रांम नांम की गति नहिं जांनी कैसे उतरसि पारा॥
जीव वधहु सु धरमु करि थापहु अधरम कहहु कत भाई।
आपस कौ मुनिवर करि थापहु काको कहौं कसाई॥

ऐसी उक्तियों का मूल्य हमारे समाज में तब भी था और भविष्य में भी रहेगा। किन्तु जब वे "जौ तूं बाभन बभनीं जाया" वाले स्तर तक उतर आते हैं तब अवश्य कुछ अशोभन लगने लगता है।

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि नाथपंथी योगियों के प्रभाव से जनता अंधी भेड़ बनी हुई तरह-तरह की करामातों को ही साधुता का चिह्न मानने लगी थी और ईश्वरोन्मुख साधना को कुछ विरले रहस्यदर्शी लोगों का ही काम समझने लगी थी। जो हृदय सबके पास होता है वही अपनी स्वाभाविक वृत्तियों द्वारा भगवान की ओर लगाया जा सकता है, इस बात पर परदा सा डाल दिया गया था। यही

कार्य कर्मकाण्डी ब्राह्मण समुदाय भी कर रहा था। इससे हृदय रहते भी भक्ति का सच्चा स्वाभाविक मार्ग लोग देख नहीं पाते थे। नाथपंथ का हठयोग अथवा ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड हृदयपक्षशून्य है। रागात्मिका वृत्ति से उनका कोई लगाव नहीं। अतः इनसे अभिभूत जनता के हृदय में भक्ति की सच्ची भावना दब गई थी। वैष्णव आचार्यों के प्रभाव से पुनः प्रेम और भक्ति की सरिता उमड़ी। कबीर ने इस सरिता में भली-भाँति अवगाहन किया था।

कबीरवाणी के केवल खण्डनात्मक स्थलों को देखकर यह कहना कि उनमें गम्भीर निर्णय देने की क्षमता नहीं है, न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। ऐसे प्रसंगों में कबीर का तीक्ष्ण स्वर उनकी दृढ़ता का परिचायक है, असहिष्णुता का नहीं। जो बात सही है उसे वे डंके की चोट पर कहते हैं। जो सिकन्दर लोदी जैसे आतताथी के शासन में कुरान शरीफ़ की निंदा और मुसलमानों के बाह्याचार का खंडन निर्भीकता से कर सकता है उसे संसार की दूसरी कौन शक्ति सत्य कथन से रोक सकती थी? यदि कबीर के गम्भीर स्वरूप का दर्शन करना हो तो हमें उनकी ऐसी रच-नाओं का अवलोकन करना होगा जहाँ उन्होंने सहज भक्ति या मन की सहज साधना आदि का विश्लेषण किया है। उदाहरण के लिए एक स्थल पर वे कहते हैं कि मन में समसरता का भाव आ जाने पर संसार में दुखदायी कुछ भी नहीं रह जाता—तन की व्याधियाँ समाधि में परि-वर्तित हो जाती हैं। मन उलट कर सनातन हो जाता है। यह रहस्य तब समझ में आता है जब कोई जीते जी मरना जान ले—

अब मन उलटि सनातन हूवा।
तब जांनां जब जीवत मूवा॥

अन्यत्र वे कहते हैं—

जहां नहीं तहां कछु जांनि। जहां नहीं तहं लेहु पिछांनि॥
नाहीं देखि न जइए भागि। जहां नहीं तहं रहिए लागि॥
परिहरि वकला ग्रहि गुन डारि। निरखि देखु निधि वार न पार॥

इसी प्रकार गृही और वैरागी का सूक्ष्म अन्तर समझाने के लिए वे एक स्थान पर कहते हैं कि जिस प्रकार गाने में रोना छिपा रहता है और रोने में राग छिपा रहता है, ऐसे ही गृही के मन में वैराग की भावना छिपी रह सकती है और वैरागी के मन में गृही की सी काम वासनाएँ छिपी रह सकती हैं—

गावन ही मैं रोज है, रोवन ही मैं राग।
इक वैरागी गृह करै, एक गृही वैराग॥

इतने सरल शब्दों में उच्च आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण वस्तुतः उसी के बूते का काम है जो गंभीर चिंतन कर सकता हो और जिसमें गंभीर निर्णय देने की क्षमता हो।

भारतीय चिंतन की दो प्रमुख धाराओं—वैदिक तथा अवैदिक—में से वेदविरोधी शाखा से अधिक नैकट्य होते हुए भी कबीर ने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार जिस मार्ग का चयन किया उससे भी उनके गंभीर निर्णय की पुष्टि होती है। राष्ट्रीय महत्त्व के व्यक्तियों के सम्मुख कभी-कभी ऐसे चौराहे आते हैं कि किस मार्ग का अनुसरण किया जाय इसका निर्णय आसान काम नहीं रह जाता। ऐसे ही अवसरों पर महा-पुरुषों की अग्निपरीक्षा होती है। कबीर ने अपना चरम लक्ष्य भक्ति को चुना और मानवतावाद की प्रकर्षता के लिए सिद्धों की चिंतन-प्रणाली को प्रश्रय दिया। गंभीर निर्णय की क्षमता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या है? जिस कर्मकाण्ड के आडम्बर से देश रसातल को जा रहा था उसका तीव्र विरोध कर कबीर ने वस्तुतः अत्यन्त श्रेयस्कर कार्य किया।

कबीर पर एक अन्य प्रकार का आरोप भी लगाया जाता है कि उनकी वाणी बड़ी अटपटी है। आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है कि "घट के भीतर साक्षात्कार करने की बात कहने वाले प्रायः अपने को गूढ़ रहस्य-दर्शी प्रकट करने के लिए सीधी-सादी बात को भी रूपक बांध कर और टेढ़ी पहेली बना कर कहा करते हैं।" स्पष्ट ही यह आक्षेप कबीर की उल्ट-बाँसियों के सम्बन्ध में है और बहुत कुछ ठीक भी है। व्यक्तिपरक गुह्य

साधना के क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से ऐसी अभिव्यक्ति-शैली प्रचलित थी जिससे गोपनीयता की रक्षा हो सके। उच्च आध्यात्मिक तथ्य कहीं कुपात्रों के हाथ न लग जायें, कदाचित् इसीलिए इस शैली का आविष्कार हुआ था। सिद्ध साधना में कमल, कुलिश आदि इसी प्रकार के गुह्य प्रतीक थे जिनकी जानकारी केवल सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्तियों को ही होती थी। आगे चल कर साधारण जनता को आश्चर्यचकित करने और इस प्रकार उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने में भी इसका प्रयोग होने लगा। उदाहरणतया सिद्ध-साहित्य की एक उक्ति है—

गोमांसं खादयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतराः कुलघातकाः॥

अर्थात् जो नित्य गोमांस खाये और अमर वारुणी का पान करे वही कुलीन है, अन्यथा शेष सभी कुलघातक हैं। भारतीय समाज में जहाँ मांस-मदिरा-सेवन का विरोध किया जाता रहा है, उसका इस प्रकार समर्थन अचकचा देने वाला है, किंतु जब सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति को ज्ञात हो जाता है कि गोमांस-भक्षण वस्तुतः खेचरी मुद्रा (जीभ को उलट कर तालु में लगाना) है और अमरवारुणी वस्तुतः सहस्रदल कमल से प्रस्रवित होने वाला अमृत है तो इन पंक्तियों में उसे आश्चर्य-चकित करने वाला कोई रहस्य नहीं रह जाता। कबीर भी सिद्धों तथा नाथ योगियों के प्रभाव से इस प्रकार की मूर्खमोहिनी विद्या के शिकार हुए हैं। यद्यपि कहीं-कहीं उनके आध्यात्मिक अनुभवपरक पदों में उच्च ज्ञान की भी प्रतिष्ठा की गई है (जैसे क० ग्र०, पद १३१) किंतु अधिकतर उनकी उल्टबाँसियों में मूर्खमोहिनी विद्या ही मिलती है, जैसे—

बाबा मोरा ब्याह करु वर ऊतिम लै आय।
जब लगि वर पावै नहीं तब लगि तू ही ब्याहि॥
प्रथमैं नगर पहुंचते परि गौ सोक संताप।
एक अचंभा देखिया बिटिया ब्याहल बाप॥

(बाबा=गुरु, अच्छा वर=परमात्मा, ब्याहना=शरण में लेना;

नगर—संसार, बिटिया—जीवात्मा, बाप—शरीर; ब्याहना—सम्बन्ध स्थापित करना)

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि दुराव-छिपाव की प्रवृति भक्तिभावना में बाधक होती है। सरलता और सीधापन भक्ति का नित्य लक्षण है। इसीलिए उसे ऐसा गुह्य नहीं बना देना चाहिए कि 'लखै कोइ बिरला'। कबीर की उल्टबाँसियों में जहाँ कहीं भक्ति के गूढ़ तत्व समाविष्ट भी हैं वहाँ उन्हें ढूढ़ निकालने में बड़े बड़े विद्वान् ही समर्थ हो सक्ते हैं। हृदय को स्पर्श करने वाली रागात्मकता जैसी तुलसी में है वैसी न तो कबीर की उल्टबाँसियों में मिलती है और न सूर के दृष्टिकूटों में। अतः कोई भी सहृदय आलोचक न तो उल्टबाँसियों को उत्कृष्ट काव्य मान सकता है और न दृष्टिकूटों को। मिश्रबन्धुओं का यह कथन उपयुक्त ही है कि 'कबीर की रचना कहीं-कहीं मूर्खमोहिनी है और कहीं-कहीं परमोच्च। अतएव उससे मूर्ख या पूर्ण ज्ञानी ही प्रसन्न हो सकते हैं, साधारण पुरुष नहीं।' कबीर-वाणी की प्रेम और विरह सम्बन्धी उक्तियों में अवश्य उत्कृष्ट कोटि की जनमनअभिराम रागात्मकता है किन्तु उसका परिमाण तुलनात्मक दृष्टि से इतना कम है कि कबीर का वह रूप उमड़ नहीं पाया है। इसके अतिरिक्त उनके नाम पर प्रचलित प्रक्षिप्त रचनाओं में अधिक संख्या उल्टबाँसियों तथा क्लिष्ट आध्यात्मिक विवेचनापरक पदों की होने के कारण इस मान्यता की ओर भी अधिक पुष्टि होती है।

• •

१०—प्रस्तुत संकलन

प्रस्तुत संकलन मेरे उस शोध-प्रबन्ध के आधार पर तैयार किया गया है जिस पर प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५७ में डी० फ़िल्० की उपाधि प्रदान की गयी और जो सन् १९६१ में हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा *'कबीर-ग्रंथावली'* के नाम से प्रकाशित किया गया।

मध्यकाल के हिंदी कवियों की रचनाओं के प्रामाणिक पाठ की समस्या बहुत उलझी हुई है और कबीर जैसे फक्कड़ संत के सम्बन्ध में, जो 'पुस्तक देहु बहाइ' का उपदेश देते रहे, यह समस्या और भी उग्र रूप धारण कर लेती है। मुझे कबीर पर शोधकार्य करते समय विभिन्न हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों में कुल मिलाकर लगभग सोलह सौ पद, साढ़े चार हजार साखियाँ और एक सौ चौंतीस रमैनियाँ मिली थीं। पदों, साखियों तथा रमैनियों के अतिरिक्त भी सौ रचनाएँ, भिन्न-भिन्न ग्रंथों के रूप में, ऐसी और प्राप्त होती हैं जिन्हें कबीरकृत कहा जाता है। अगर और खोज की जाय तो इनकी संख्या में वृद्धि ही होती जायगी। कबीरपंथियों का तो विश्वास है कि सद्गुरु कबीर की वाणी अनंत है, उनकी संख्या का अनुमान वनस्पति-समुदाय के पत्तों और गंगा के बालुका-कणों से लगाया जा सकता है—

> जेते पत्र वनस्पती, औ गंगा की रैन।
> पंडित विचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन॥
>
> बीजक, साखी २६१।

ऐसा अंश जो समस्त उपलब्ध प्रतियों में समान रूप से मिलता हो, सुगमता से प्रामाणिक माना जा सकता है, किन्तु कबीर के सम्बन्ध में यह स्थिति कुछ विलक्षण है। पद ऐसा एक भी नहीं है जो सभी प्रतियों में समान रूप से मिलता हो, साखी केवल एक है जो सभी प्रतियों में

मिलती है और रमैनी भी ऐसी कोई नहीं जो सभी प्रतियों में मिलती हो। प्रति भी ऐसे कोई नहीं मिलती जो कबीर के जीवन-काल की हो अथवा जिसकी परंपरा ही इतनी प्राचीन हो कि उसे निरापद रूप से कबीर के जीवन-काल का माना जा सके। पाठ-विकृतियाँ भी सभी प्रतियों में मिलती हैं। इस स्थिति में दावे के साथ यह कहना कठिन है कि कबीर की रचना कितनी और किस रूप में प्रामाणिक है। उनके कंठ से जो कुछ निकला वह वायु में विलीन हो गया; उसे न तो किसी यंत्र में बाँधा गया और न ही तुरंत लिपिबद्ध किया गया। यदि कोई ऐसा वैज्ञानिक आविष्कार हो जाय जिसके द्वारा शताब्दियों पूर्व किसी व्यक्ति के मुख से निकले हुए शब्द पुनः यथावत् उपस्थित किए जा सकें तभी पूर्ण निश्चय के साथ कबीर की वाणी का प्रामाणिकतम रूप स्थिर किया जा सकता है। उसके अभाव में दूसरा निरापद मार्ग पाठ-सम्पादन के मान्य सिद्धान्तों के आधार पर समस्त उपलब्ध सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन कर उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर करना और तब उसकी सहायता से ऐसा पाठ निर्धारित करना जिसे यत्किंचित् मतवैभिन्य होते हुए भी सभी पूर्ववर्ती पाठों से प्राचीनतर अथवा दूसरे शब्दों में प्राचीनतम तथा प्रामणिकतम माना जा सके। काल के स्थूल आवरण को भेद कर आलोच्य रचना के शताब्दियों पूर्व रूप तक पहुँचने का यही एक निरापद मार्ग है। संयोगवश यह प्रक्रिया मन की उस उल्टी साधना से मिलती है जिसका उपदेश सन्तों ने दिया और जिसे उन्होंने अपनी करनी में भी उतारा। कबीर का कथन है—

> मन कै मतै न चालिए, छांड़ि जीव की बांनि।
> ताकू केरा तार ज्यौं, उलटि अपूठा आंनि॥
>
> —क० ग्रं० साखी २६-२३।

यही सिद्धांत पाठ-निर्धारण में भी सहायक होता है। उपलब्ध प्रतियों के वर्तमान साक्ष्यों को आंख मूंद कर मान लेने की 'बानि' अच्छा

नहीं होती, बल्कि 'अपूठा' (उल्टा) चल कर उनके पूर्व रूप की खोज करने में ही उनकी सहायता लेनी चाहिए।

कबीर-वाणी की विषम पाठ-समस्या को सुलझाने के लिए जो प्रक्रिया अपनायी गयी है उसे पाठ-सम्पादन की पारिभाषिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि पहले विभिन्न प्रतियों का परीक्षण और फिर उनका पारस्परिक पाठ-मिलान कर अत्यन्त सतर्कतापूर्वक निर्धारित समस्त 'निश्चेष्ट' तथा 'सचेष्ट' पाठ-विकृतियों की सहायता से उनका पाठ-संबंध निर्धारित किया गया है और तदनंतर केवल उन्हीं रचनाओं को कबीरकृत स्वीकृत किया गया है जो किन्हीं भी दो या अधिक ऐसी प्रतियों में मिलती हैं जिनमें किसी प्रकार का 'संकीर्ण-संबंध' नहीं है, अर्थात् जिनमें पाठ संबंधी ऐसी विकृतियाँ (जानबूझ कर अथवा अनजान में की हुई) समान रूप से नहीं पाई जातीं जिनका आविर्भाव कवि के मूल पाठ का परवर्ती सिद्ध होता हो और इसी आधार पर उन रचनाओं का पाठ भी निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार उपलब्ध सामग्री में से कबीर की प्रामाणिक रचना के रूप में दो सौ पद या शब्द, बीस रमैनियाँ, एक चौंतीसी रमैनी तथा साढ़े सात सौ के लगभग साखियाँ प्राप्त होती हैं। प्रस्तुत संकलन के लिए इन्हीं में से ६५ पद तथा २९२ साखियाँ चुन ली गयी हैं। यह संकलन बी० ए०, एम० ए० स्तर के विद्यार्थियों की दृष्टि से तैयार किया गया है, फिर भी अपेक्षाकृत सरल रचनाओं को ही प्राधान्य दिया गया है। इसीलिए अनुभूतिपरक अथवा विपर्यय (उल्टबाँसी) के पद जान बूझ कर कम रखे गए हैं। केवल इतना ध्यान रखा गया है कि कबीर की विचारधारा तथा शैली का स्थूल रूप से प्रतिनिधित्व हो जाय।

मेरी 'कबीर-ग्रंथावली' के पूर्व भी कबीर की रचनाओं के कुछ अच्छे संस्करण प्रकाशित हुए थे, किन्तु उनमें भी अनेक स्थलों पर पाठ की विकृतियाँ मिल जाती हैं, जो विद्यार्थी तथा अध्यापक दोनों को भ्रांति में डाल देती हैं। प्रस्तुत संकलन में बहुत कुछ अंशों में इस अभाव की पूर्ति

करने का प्रयास किया गया है, यद्यपि वह सर्वथा भ्रांति-हीन है, इसका दावा नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर की वाणी जिस रूप में सर्वप्रथम लिपिबद्ध की गयी होगी, मेरे द्वारा निर्धारित पाठ उसके सबसे अधिक निकट का है और शेष पाठ क्रमशः उससे दूर के होते गये हैं।

मेरे द्वारा निर्धारित कबीरवाणी का पाठ इतःपूर्व सभी संस्करणों से अधिक विश्वसनीय है—यह बात दो-चार स्थूल उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो सकेगी। कबीर का एक पद मेरी 'कबीर-ग्रंथावली' में इस प्रकार है—

मेरी मेरी करतां जनम गयौ।
जनम गयौ परि हरि न कह्यौ॥ टेक॥
बारह बरस बालपन खोयौ बीस बरस कछु तप न कियौ।
तीस बरस तैं रांम न सुमिर्‌यौ फिरि पछितांनां बिरिध भयौ॥१॥
सूखे सरवरि पालि बंधावै लूनें खेति हठि बारि करै।
अयौ चोर तुरंगहि लै गयौ मोहड़ी राखत मुगध फिरै॥२॥
सीस चरन कर कंपन लागे नैंन नीरु असराल बहै।
जिभ्या बचन सूध नहिं निकसै तब सुक्रित की बात कहै॥३॥
इत्यादि।

निरंजनी सम्प्रदाय की पोथी में उपर्युक्त पद की पाँचवीं पंक्ति के 'सरवरि' (=सरोवर में) के स्थान पर 'तरवरि' (=पेड़ पर) पाठ मिलता है और 'गुरुग्रंथसाहब' में जो कबीर-वाणी का अत्यधिक श्रेष्ठ पाठ प्रदान करता है और अब तक की प्राप्त प्रतियों में कालक्रम की दृष्टि से सर्वाधिक प्राचीन है, 'हठि बारि करै' के स्थान पर 'हथवारि करै' पाठ मिलता है। पालि (सं०) तालाब के चारों ओर के ऊँचे कगार को कहते हैं, तुल० जायसी, पदमावत ६०-६ : 'पालि चाइ सब ठाढ़ी भई।' इस प्रसंग में निरंजनी-सम्प्रदाय के 'तरवरि' पाठ की भ्रांति स्पष्ट है।

गुरुग्रंथसाहब के 'हृयवारि' पाठ का भी यहाँ कोई प्रसंग-सम्मत अर्थ नहीं निकलता। इसके विपरीत 'हठि वारि करै' जो अन्य प्रतियों का पाठ है, का अर्थ है—हठात् रोक लगाता है; और यही इस प्रसंग में उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार छठवीं तथा सातवीं पंक्तियों में तुरंगहि, मोंहड़ी, नैन, तथा असराल के स्थान पर गुरुग्रंथसाहब में क्रमशः तुरंतह, मेरी, नैनी और सनार पाठ मिलते हैं जो भ्रमात्मक हैं। 'तुरंतह' पाठ ग्रहण करने से वाक्य में कर्म का लोप हो जाता है, 'मेरी' पाठ ग्रहण करने से 'मेरी राखत' निरर्थक हो जाता है, 'नैनी' स्पष्ट ही पंजाबी प्रभाव के कारण है और 'असराल' (=निरंतर) के स्थान पर 'असार' लिपिभ्रम के कारण हो गया है जिससे अर्थ का अपकर्ष होता है।

उपर्युक्त पाठ-विकृतियों के कारणों की खोज करने से उनका इतिहास भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगता है। इनमें से अधिकांश विकृतियाँ ऐसी हैं जो यह संकेत करती हैं कि जिस प्रति पर इन पाठों को प्रस्तुत करने वाली प्रतियाँ आधारित हैं वह कदाचित् फ़ारसी लिपि में थी। इस सम्भावना का सबसे सटीक उदाहरण उपर्युक्त पाठांतरों में गुरुग्रंथसाहब का 'हृयवारि' पाठ है। पहले उर्दू में 'ते' के ऊपर एक पड़ी लकीर खींच कर 'टे' बनाते थे। यदि यह लकीर जल्दी में भूल से छूट जाय तो 'ठ' का सरलता से 'य' हो जाता है। 'हठि वारि' से 'हृयवारि' बन जाने का और कोई दूसरा समाधान हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार अन्य पाठांतरों की विकृतियों के कारण भी संतोषजनक रूप से ढूँढ़े जा सकते हैं।

इस प्रकार अनेक शाखाओं की प्रतियों के आधार पर कार्य करने वाले सम्पादक के सम्मुख पर्याप्त सामग्री तथा साधन उपलब्ध होने के कारण अनेक पाठ-पाठांतर अपना-अपना इतिहास स्वयं बताते हुए उपस्थित हो जाते हैं और किंचित् विवेक से कार्य करने पर उनमें से उपयुक्त पाठ पुनर्निर्मित कर लेना बहुत कठिन कार्य नहीं होता, जब कि

किसी एक शाखा या प्रति के पाठ पर आधारित रहने से उद्‌भट विद्वान् सम्पादक की दृष्टि भी सीमित रह जाने के लिए विवश हो जाती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन कृतियों के सम्पादक के सम्मुख सम्पादन शास्त्र की सूक्ष्म तथा जटिल प्रक्रिया की समस्याएँ रहती ही हैं, साथ ही पाठों का निर्णय करने में भी इतने प्रकार के विकल्प आते हैं कि उनके सम्बन्ध में तनिक भी असावधानी से कार्य करने पर मार्गच्युत हो जाने का भय लगा रहता है। समस्याएँ अनेकधा रहती हैं और जानकारी भी व्यापक और अनेकधा अपेक्षित रहती है, इसीलिए कुछ स्थल ऐसे अवश्य रह जाते हैं जहाँ सम्पादक का सीमित ज्ञान उसे असमर्थ बना देता है और परिणामतः कुछ भ्रांतियों का रह जाना असंभव नहीं है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति सभी बातों का विशेषज्ञ नहीं हो सकता। यही बात प्रस्तुत संकलन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इसमें यदि कहीं कुछ भ्रांतियां रह गयी हों तो उनका उत्तरदायित्व सर्वथा मेरे ऊपर है और विद्वानों द्वारा उपयुक्त सुझाव मिलने पर उनका संशोधन-परिमार्जन हो सकेगा, ऐसी आशा है।

कबीर-वाणी-सुधा

[मूल पाठ]

कबीर-वाणी-सुधा

पद

[१]

रांम भगति अनियाले तीर। जेहि लागै सो जांनैं पीर।
तन महिं खोजौं चोट न पावौं। ओषद मूरि कहां घंसि लावौं।
एक भाइ दीसैं सब नारी। नां जांनौं को पियहि पियारी।
कहै कबीर जाकै मस्तकि भाग। सभ परिहरि ताकौं मिलै सुहाग ॥८

[२]

रांम बिनु तन की तपनि न जाइ। जल महि अगिनि उठी अधिकाइ।
तूं जलनिधि हउं जल का मीनु। जल महि रहउं जलहिं बिनु खींनु।
तूं पिंजरु हउं सुअटा तोर। जमु मंजार कहा करै मोर।
तूं सतिगुरु हउं नौतनु चेला। कहै कबीर मिलु अंत की बेला ॥६

[३]

गोकुल नाइक बीठुला मेरा मनु लागा तोहि रे।
बहुतक दिन बिछुरें भए तेरी औसेरि आवै मोहि रे॥
करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे नेह गए की आस रे।
आपहिं आप बंधाइया दोइ लोचन मरहिं पियास रे।
आपा पर संमि चीन्हिए तब दीसै सरब समांन।
इहि पद नरहरि भेंटिए तू छांड़ि कपट अभिमांन रे।
ना कतहूं चलि जाइए नां लीजै सिरि भार।
रसनां रसहि बिचारिए सारंग श्री रंग धार रे।
साधन तें सिधि पाइए किंवा होइ न होइ।
जे दिढ़ ग्यांन न ऊपजै तौ अहटि मरै जनि कोइ रे।

एक जुगुति एकै मिलै किंवा जोग कि भोग।
इन दोनिउं फल पाइए रांम नांम सिधि जोग रे।
तुम्ह जिनि जांनौं गीत है यह निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया आतम साधन सार रे।
चरन कंवल चित लाइए रांम नांम गुन गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं भुगुति मुकुति गति पाइ रे ॥१०॥

[४]

हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया। रांम बड़े मैं तनक लहुरिया।
किएउं सिंगारु मिलन कै तांईं। हरि न मिले जग जीवन गुसांईं।
धनि पिउ एकै संगि बसेरा। सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धनि सुहागिनि जो पिय भावै। कहै कबीर फिरि जनमि न आवै ॥११॥

[५]

तननां बुननां तज्यौ कबीर। रांम नांम लिखि लियौ सरीर।
मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहिं खुदाई।
जब लगि तागा बाहौं बेही। तब लगि बिसरै रांम सनेही।
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। पूरनहारा त्रिभुवनराई ॥१२॥

[६]

नही छाड़उं रे बाबा राम नाम। मोहि अउर पढ़न सौं नहीं काम।
प्रह्लाद पठाए पढ़नसाल। संगि सखा बहु लिए बाल।
मोकउं कहा पढ़ावसि आल जाल। मेरी पटिया लिखि देहु स्री गोपाल।
संडै मरकै कह्यौ जाइ। प्रह्लाद बुलाए बेगि धाइ।
तू रांम कहन की छांड़ि बांनि। तुझ तुरत छड़ाऊं मेरो कह्यौ मांनि।
मोकउं कहा सतावहु बार बार। प्रभु जल थल गिरि कीए पहार।
रांम छांड़ौं तौ मेरै गुरहिं गारि। मोकउं घालि जारि भावै मारि डारि।
तब काढ़ि खड़ग कोप्यौ रिसाइ। तोंहि राखनहारो मोहिं बताइ।
खंभा तें प्रगट्यो गिलारि। हिरनाकस मार्‌यो नख बिदारि।
परम पुरख देवाधिदेव। भगति हेत नरसिंघ भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रह्लाद उधारे अनिक बार ॥२६॥

[७]

झगरा एक निबेरहु रांम । जे तुम्ह अपनें जन सौं काम ।
ब्रह्मां बड़ा कि जिन रे उपाया । वेद बड़ा कि जहां तें आया ।
यहु मन बड़ा कि जेहिं मन मांनें । रांम बड़ा कि रांमहिं जांनें ।
कहै कवीर हौं भया उदास । तीरथ बड़ा कि हरि का दास ॥२७॥

[८]

हरिजन हंस दसा लिएं डोलै । निरमल नांव चवै जस बोलै ।
मांन सरोवर तट के वासी । रांम चरन चित आंन उदासी ।
मुकताहल विनु चंचु न लावै । मौंनि गहै कै हरि गुन गावै ।
कउवा कुबुधि निकटि नांहि आवै । सो हंसा निज दरसन पावै ।
कहै कवीर सोई जन तेरा । खीर नीर का करै निबेरा ॥२८॥

[९]

चलन चलन सब कोइ कहत है । नां जांनौं वैकुंठ कहां है ।
जोजन एक परमिति नहिं जांनें । बातनि ही वैकुंठ बखांनें ।
जब लग मनि वैकुंठ की आसा । तब लग नहिं हरि चरन निवासा ।
कहें सुनें कैसे पतिअइऔ । जब लग तहां आप नहीं जइऔ ।
कहै कवीर यहु कहिऔ काहि । साधु संगति वैकुंठहि आहि ॥२९॥

[१०]

निरमल निरमल हरि गुन गावै । सो भाई मेरे मनि भावै ।
जो जन लेहिं खसम का नांउं । तिनकै मैं बलिहारै जांउं ।
जिहिं घटि रांम रहा भरपूरि । तिनकी पद पंकज हंम धूरि ।
जाति जुलाहा मति का धीर । सहजि सहजि गुन रमैं कवीर ॥३०॥

[११]

रांम चरन जाकै हिरदै बसत है ताको मन क्यौं डोलै (देव) ।
मानौं अठ सिधि नउ निधि ताकै सहजि सहजि जमु बोलै (देव) ।
अैसी जे उपजै या जिअ कै कुटिल गांठि सब खोलै (देव) ।
वारंवार वरजि बिसया तैं लै नर जौ मन तोलै (देव) ।

एक जुगुति एकै मिलै किंवा जोग कि भोग।
इन दोनिउं फल पाइए रांम नांम सिधि जोग रे।
तुम्ह जिनि जांनौं गीत है यह निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया आतम साधन सार रे।
चरन कंवल चित लाइए रांम नांम गुन गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं भुगुति मुकुति गति पाइ रे॥१०॥

[४]

हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया। रांम बड़े मैं तनक लहुरिया।
किएउं सिंगारु मिलन कै तांईं। हरि न मिले जग जीवन गुसांईं।
धनि पिउ एकै संगि बसेरा। सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धन्नि सुहागिनि जो पिय भावै। कहै कबीर फिरि जनमि न आवै॥११॥

[५]

तननां बुननां तज्यौ कबीर। रांम नाम लिखि लियौ सरीर।
मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहिं खुदाई।
जब लगि तागा बाहौं बेही। तब लगि बिसरै रांम सनेही।
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। पूरनहारा त्रिभुवनराई॥१२॥

[६]

नहीं छांड़उं रे बाबा रांम नांम। मोहि अउर पढ़न सौं नहीं कांम।
प्रहलाद पठाए पढ़नसाल। संगि सखा बहु लिएं बाल।
मोकउ कहा पढ़ावसि आल जाल। मेरी पटिया लिखि देहु स्री गोपाल।
संडै मरकै कह्यौ जाइ। प्रहलाद बुलाए बेगि धाइ।
तू रांम कहन की छाड़ि बानि। तुझ तुरत छड़ाऊं मेरो कह्यौ मांनि।
मोकउं कहा सतावहु बार बार। प्रभु जल थल गिरि कीए पहार।
रांम छाड़ौं तौ मेरै गुरहिं गारि। मोकउं घालि जारि भावै मारि डारि।
तब काढ़ि खड़ग कोप्यौ रिसाइ। तोहिं राखनहारो मोहिं बताइ।
खंभा तैं प्रगट्यौ गिलारि। हिरनाकस मार्‌यो नख बिदारि।
परम पुरख देवाधिदेव। भगति हेत नरसिंघ भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रहलाद उधारै अनिक बार॥२६॥

[७]

झगरा एक निवेरहु रांम । जे तुम्ह अपनैं जन सौं काम ।
ब्रह्मा बड़ा कि जिन रे उपाया । वेद बड़ा कि जहां तैं आया ।
यहु मन बड़ा कि जेहिं मन मांनैं । रांम बड़ा कि रांमहि जांनैं ।
कहै कबीर हौं भया उदास । तीरथ बड़ा कि हरि का दास ॥२७॥

[८]

हरिजन हंस दसा लिएं डोलै । निरमल नांव चवै जस बोलै ।
मांन सरोवर तट के बासी । रांम चरन चित आंन उदासी ।
मुकताहल बिनु चंचु न लावै । मौंनि गहै कै हरि गुन गावै ।
कउवा कुबुधि निकटि नांहि आवै । सो हंसा निज दरसन पावै ।
कहै कबीर सोई जन तेरा । खीर नीर का करै निवेरा ॥२८॥

[९]

चलन चलन सब कोइ कहत है । नां जांनौं बैकुंठ कहां है ।
जोजन एक परमिति नहिं जांनैं । बातनि ही बैकुंठ बखांनैं ।
जब लग मनि बैकुंठ की आसा । तब लग नहिं हरि चरन निवासा ।
कहें सुनें कैसे पतिअइऐ । जब लग तहां आप नहीं जइऐ ।
कहै कबीर यहु कहिये काहि । साधु संगति बैकुंठहि आहि ॥२९॥

[१०]

निरमल निरमल हरि गुन गावै । सो भाई मेरे मनि भावै ।
जो जन लेहिं खसम का नांउं । तिनकै मैं बलिहारै जांउं ।
जिंहि घटि रांम रहा भरपूरि । तिनको पद पंकज हंम धूरि ।
जाति जुलाहा मति का धीर । सहजि सहजि गुन रमैं कबीर ॥३०॥

[११]

रांम चरन जाकै ह्रिदै बसत है ताको मन क्यों डोलै (देव) ।
मांनों अठ सिधि नउ निधि ताकै सहजि सहजि जसु बोलै (देव) ।
अैसी जे उपजै या जिअ कै कुटिल गांठि सब खोलै (देव) ।
बारंबार बरजि बिखया तें लै नर जौ मन तोलै (देव) ।

जहं जहं जाइ तहां सचु पावै माया तासु न झोलै (देव)।
कहै कबीर मेरो मन मांन्यौ रांम प्रीति कै ओलै (देव) ॥३१॥

[१२]

तेरा जनु एक आध है कोई।
कांम क्रोध लोभ मोह बिबरजित हरि पद चीन्है सोई।
असतुति निंदा दोउ बिबरजित तजहि मांनु अभिमांनां।
लोहा कंचन सम करि जानहि ते मूरति भगवांनां।
रज गुन तम गुन सत गुन कहिअे यह सभ तेरी माया।
चउथै पद कौं जो जन चीन्हैं तिनहीं परम पदु पाया।
चिंतै तौ माधव चिंतामनि हरि पद रमैं उदासा।
चिंता अरु अभिमांन रहित है कहै कबीर सो दासा ॥३२॥

[१३]

डगमग छांड़ि दे मन बौरा।
अब तौ जरें मरें बनि आवै लीन्हौं हाथि सिंधौरा।
होइ निसंक मगन होइ नाचै लोभ मोह भ्रम छांड़ै।
सूरा कहा मरन तैं डरपै सती न संचै भांड़ै।
लोक बेद कुल की मरजादा इहै गले मैं फांसी।
आधा चलि करि पाछै फिरिहौ होइ जगत मैं हांसी।
यहु संसार सकल है मैला रांम कहैं ते सूचा।
कहै कबीर नाउं नहि छांड़ौ गिरत परत चढ़ि ऊंचा ॥४८॥

[१४]

बोलनां का कहिए रे भाई। बोलत बोलत तत्त नसाई।
बोलत बोलत बढ़ै बिकारा। बिनु बोले क्या करहि बिचारा।
संत मिलहि कछु सुनिअे कहिअे। मिलहि असंत मस्टि करि रहिअे।
ग्यांनीं सौं बोलें उपकारी। मूरिख सौं बोलें झखमारी।
कहै कबीर आधा घट बोलै। भरा होइ तौ कबहुं न बोलै ॥६१॥

[१५]

झूठे तन कौ क्या गरबावै । मरै तौ पल भरि रहन न पावै ।
खीर खांड घृत पिंड संवारा । प्रांन गएं लै बाहरि जारा ।
जिहिं सिरि रचि रचि बांधत पागा । सो सिर चंचु संवारहिं कागा ।
हाड़ जरै जैसे लकड़ी झूरी । केस जरै जैसे त्रिन कै कूरी ।
कहै कबीर नर अजहुं न जागै । जम का डंड मूड़ महिं लागै ।।६२।।

[१६]

भजि गोबिंद भूलि जनि जाहु । मनिखा जनम कौ एही लाहु ।
गुर सेवा करि भगति कमाई । जौ तैं मनिखा देहीं पाई ।
या देही कौ लोचैं देवा । सो देहीं करि हरि की सेवा ।
जब लगि जुरा रोग नहिं आया । जब लगि काल ग्रसै नहिं काया ।
जब लगि हीन पड़ै नहिं बांनी । तब लगि भजि मन सारंगपांनीं ।
अब नहिं भजसि भजसि कब भाई । आवै अंत भज्यौ नहिं जाई ।
जो किछु करहि सोई तत सार । फिरि पछिताहु न पावहु पार ।
सेवग सो जो लागै सेव । तिनही पाया निरंजन देव ।
यहु तेरा औसर यहु तेरी बार । घट ही भीतरि देखु बिचारि ।
कहै कबीर जीति भावै हारि । बहु बिधि कह्यौ पुकारि पुकारि ।।६३।।

[१७]

जिहि नर रांम भगति नहिं साधो । सो जनमत कस न मुओ अपराधो ।
जिहि कुल पूत न ग्यान बिचारो । वाकी बिधवा कस न भई महतारी ।
मुचि मुचि गरभ भई किन बांझ । बुड़भुज रूप फिरै कलि मांझ ।
कहै कबीर नर सुंदर सरूप । राम भगति बिनु कुचिल कुरूप ।।६४।।

[१८]

मन रे अहरखि [मन आहर कहं ?] बाद न कीजै ।
अपनां सुक्रित् भरि भरि लीजै ।

कुंभरा एक कमाई माटी बहु विधि बांनीं लाई।
काहू महिं मोती मुकताहल काहू ब्याधि लगाई।
काहू दीन्हां पाट पटंबर काहू पलंघ निवारा।
काहू गरी गोंदरी नांहीं काहू सेज पयारा।
सूमहिं घन राखन कौं दीया मुगध कहै यहु मेरा।
जम का डंडु मूंड़ महिं लागै खिन महिं करै निबेरा।
कहै कबीर सुनौं रे संतौ मेरी मेरी झूठी।
चिरकुट फारि चुहाड़ा लै गयौ तनीं तागरी छूटी ॥६५॥

[१९]

भाई रे बिरलै दोस्त कबीर के यहु तत बार बार कासौं कहिए।
भांनन गढ़न संवारन संम्रथ ज्यौं राखै त्यौं रहिए।
आलम दुनीं सबै फिरि खोजी हरि बिन सकल अयांनां।
छह दरसन पासंड छ्यांनवै आकुल किनहूं न जांनां।
जप तप संजम पूजा अरचा जोतिग जग बौरांनां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलांनां मन हीं मन न समांनां।
कहै कबीर जोगी अरु जंगम ए [को ?] सभ झूठी आसा।
रांमहिं नांम रटौ चात्रिग ज्यौं निहचै भगति निवासा ॥६६॥

[२०]

बाबा माया मोह मोहितु कीन्ह।
तातैं ग्यांन रतनु हरि लीन्ह।
जगि जीवनु ऐसा सुपिनै जैसा जीवन सुपिन समांन।
सांचु कहि हंम गांठि दीन्ही छोड़ि परम निधान।
नैन देखि पतंग उरझै पसु न पेखै आगि।
काल फांस न मुगध चेतै कनक कांमिनि लागि।
करि बिचार बिकार परिहरि तरन तारन सोइ।
कहै कबीर भगवंत भजि नर दुतिय नांही कोइ ॥६७॥

[२१]

फिरहु का फूले फूले फूले ।
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूले ।
जब जरिअै तब होइ भसम तन रहै किरिम दल खाई ।
कांचे कुंभ उदिक ज्यौं भरिया या तन की इहै बड़ाई ।
ज्यौं मांखी सहतैं नहिं बिहुरै जोरि जोरि धन कीन्हां ।
मूएं पीछें लेहु लेहु करै भूत रहन क्यूं दीन्हां ।
देहरि लौं बरी नारि संग है आगैं सजन सुहेला ।
मरहट लौं सभ लोग कुटुंब भयौ आगैं हंसु अकेला ।
रांम न रमसि मोह कहा माते परहु काल बस कूवा ।
कहै कबीर नर आपु बंधायौ ज्यौं ललनीं भ्रमि सूवा ।।६८।।

[२२]

मन रे सरयौ न एकौ काजा । तैं भज्यौ न रघुपति राजा ।
बेद पुरांन सभै मत सुनिकै करी करम की आसा ।
काल ग्रसत सभ लोग सयानें उठि पंडित पै चले निरासा ।
बन खंड जाइ जोग तपु कीन्हां कंद मूल चुनि खाया ।
नादी बेदी सबदी मोनीं जंम कै पटै लिखाया ।
भगति नारदी हिदै न आई काछि कूछि तनु दीनां ।
राग रागिनीं डिंभ होइ बैठा उनि हरि पहिं क्या लीनां ।
पहरयौ काल सभै जग ऊपरि मांहिं लिखे भ्रम ग्यांनीं ।
कहै कबीर ते भए खालसे राम भगति जिन्ह जांनीं ।।८६।।

[२३]

बदे खोजु दिल हर रोज नां फिरु परेसानीं मांहिं ।
यहु जु दुनिया सिहरु मेला कोई दस्तगीरी नाहिं ।
बेद कतेब इफतरा भाई दिल का फिकरु न जाइ ।
टुक दम करारी जउ करहु हाजिर हजूर खुदाइ ।

दरोगु पढ़ि पढ़ि खुसी होइ बेखबर बादु बकाहिं ।
हक सांच खालिक खलक म्यांनें स्याम मूरति नांहिं ।
असमांन म्यांनें लहंग दरिया गुसल करदन बूद ।
करि फिकिर दाइम लाइ चसमें जहां तहां मौजूद ।
अल्लाह पाकंपाक है सक करउ जे दूसर होइ ।
कबीर करम करीम का यहु करै जांनें सोइ ॥८७॥

[२४]

बिखै बांचु हरि रांचु समझु मन बउरा रे ।
निरभै होइ न हरि भजै मन बउरा रे गह्यौ न रांम जहाज ।
तन धन सौं का गर्बसो मन बउरा रे भसम किरिम जाको साजु ।
कालबूत की हस्तिनी मन बउरा रे चलतु रच्यो जगदीस ।
कांम अंध गज बसि परै मन बउरा रे अंकुस सहियौ सीस ।
मरकट मूठी अनाज की मन बउरा रे लीन्हीं हाथ पसारि ।
छूटन की ससै परी मन बउरा रे नाचेउ घर घर बारि ।
ज्यौं ललनीं सुबटा गह्यौ मन बउरा रे माया यहु ब्यौहार ।
जैसा रग कुसुंभ का मन बउरा रे त्यौं पसरचौ पासारु ।
न्हांवन कौं तीरथ घने मन बउरा रे पूजन कौं बहु देव ।
कहै कबीर छूटन नहीं मन बउरा रे छूटनु हरि की सेव ॥९७॥

[२५]

जाइ रे दिन ही दिन देहा । करि लै बौरी रांम सनेहा ॥
बालापन गयौ जोबन भी जासी । जरा मरन भौ संकट आसी ।
पलटे केस नैन जल छाया । मूरिख चेत बुढ़ापा आया ।
रांम कहत लज्जा क्यू कीजै । पल पल आउ घटै तन छीजै ।
लज्जा कहै मैं जम की दासी । एक हाथि मुदिगर दूजै हाथि पासी ।
कहै कबीर तिन सरबसं हारयौ । रांम नांम जिन मनहुं बिसारयौ ॥९८॥

[२६]

क्या मांगौं किछु थिर न रहाई । देखत नैंन चला जग जाई ॥

इक लख पूत सवा लख नाती। तिहि रावन घर दिआ न बाती।
लंका सा कोट समुंद सी खाई। तिहि रावन की खवरि न पाई।
आवत संग न जात संगाती। कहा भयौ दरि बांधे हाथी।
कहै कबीर अंत की वारी। हाथ झारि जैसें चला जुवारी ॥९९॥

[२७]

चारि दिन अपनीं नौबति चले वजाइ
इतनकु खटिया गड़िले मटिया संगि न कछु लै जाइ।
देहरी बैठी मेहरी रोवै द्वारै लगि सगी माइ।
मरहट लौं सब लोग कुटुंब मिलि हंस अकेला जाइ।
वहि सुत वहि वित वहि पुर पाटन बहुरि न मिलिवौ आइ।
कहै कबीर राजा रांम भजन विन जनम अकारथ जाइ ॥१००॥

[२८]

तातै सेइए नाराइनां।
रसना राम नांम हितु जाकै कहा करै जमनां।
जौ तुम्ह पंडित आगम जांनौं विद्या ब्याकरनां।
तंत मंत सब औखधि जांनौं अंति तऊ मरनां।
राज पाट अरु छत्र सिंघासन बहु सुंदरि रमनां।
पांन कपूर सुवासिक चदन अंति तऊ मरनां।
जोगी जती तपी संन्यासी बहु तीरथि भ्रमनां।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर अंति तऊ मरनां।
सोचि विचारि सबै जग देखा कहू न ऊबरनां।
कहै कबीर सरनाई आयौ मेटि जनम मरनां ॥१०१॥

[२९]

कुसल खेम अरु सही सलामति ए दोइ काकौं दीन्हां रे।
आवत जात दुहूयां नूटे सरव तत्त हरि लीन्हां रे।
सुर नर मुनि जति पीर अवलिया मीरां पैदा कीन्हां रे।
कोटिक भए कहां लगि बरनौं सभनि पयांनां दीन्हां रे।

धरती पवन अकास जाहिंगे चंद जाहिंगे सूरा रे।
हंम नांहीं तुम नांहीं रे भाई रहै रांम भरपूरा रे।
कुसलहिं कुसल करत जग खीनां पड़ै काल भै पासी रे।
कहै कबीर सबै जग बिनसै रहै रांम अविनासी रे ॥१०३॥

[३०]

एहि बिधि सेइए स्री नरहरी। मन की दुबिधा मन परिहरी।
जहां नही तहां कछु जांनि। जहा नहीं तहां लेहु पिछांनि।
नांही देखि न जइए भागि। जहां नहीं तहं रहिए लागि।
मन मंजन करि दसवें द्वारि। गंगा जमुनां सघि बिचारि।
बिंदहि नाद कि नादहिं बिंद। नादहिं बिंद मिलै गोबिंद।
देवी न देवा पूजा नहिं जाप। भाई न बंध माय नही बाप।
गुन अतीत जस निरगुन आप। भरम जेवरी जग कियौ सांप।
तन नाहीं कब जब मन नाहिं। मन परतीति ब्रह्म मन माहिं।
परिहरि बकला ग्रहि गुन डारि। निरखि देखि निधि वार न पार।
कहै कबीर गुर परम गियांन। सुंनि मंडल मैं धरो धियांन।
पिंड परे जिउ जैहै जहा। जीवत ही लै राखो तहां ॥१२३॥

[३१]

जिअत न मारि मुना मति लावै।
मास बिहूंना घरि मति आवै हो कंता।
उर बिनु खुर बिनु चंचु बिनु बपु बिहूना सोई रे।
सो सावज किन मारै कंता जाकै रगत मास ना होई रे।
पैली पार कै पारधी ताकी धनुही पनच नही रे।
ता बेली कौ ढूक्यौ म्रिगलौ ता म्रिग कै सीस नहीं रे।
मारा म्रिगा जीवता राखा यहु गुर ग्यान सही रे।
कहै कबीर स्वांमी तुम्हरे मिलन कौं बेली है पर पात नहीं रे ॥१२४॥

[३२]

कहौ भइया अंबर कासौं लागा। कोई बूझै बूझनहार सभागा।

अंबर मद्धे दीसै तारा । कौन चतुर अैसा चितरनहारा ।
जो खोजहु सो उहवां नांहीं । सौ तौ आहि अमर पद मांहीं ।
कहै कबीर जानैंगा सोइ । ह्रिदै राम मुखि रांमैं होइ ।।१२५।।

[३३]

मोहिं अैसे बनिज सौं कवन काजु । जिहि घटै मूल नित बढ़ै ब्याजु ।
नाइकु एकु वनिजारे पांच । वरध पचीस क संगु कांच ।
नउ बहिया दस गोंनि आहि । कसनि बहत्तरि लागि ताहि ।
सात सूत मिलि बनिज कीन । करम भांवनी (री ?) संगि लीन ।
तीनि जगाती करत रारि । चलौ वनिजारा हाथ झारि ।
बनिज खुटांनौं पूंजी टूटि । दह दिसि टांड़ौ गयौ फूटि ।
कहै कबीर यहु जनम बादि । सहजि समांनौ रहो लादि ।।१२६।।

[३४]

हरि का विलोवना विलोइ मेरी माई ।
अैसें विलोइ जामें तत न जाई ।।

तनु करि मटुकी मनहिं विलोइ । ता मटुकी महिं पवन समोइ ।
इला पिंगुला सुखमन नारी । वेगि विलोइ ठाढ़ी छछिहारी ।
कहै कबीर गुजरी बौरांनीं । मटुकी फूटी जोति समांनी ।।१२७।।

[३५]

है हजूरि कत दूरि बतावहु । दुंदर बांधहु सुंदर पावहु ।
सो मुल्ला जो मन सौं लरै । अहनिसि काल चक्र सौं भिरै ।
काल पुरख का मरदै मानु । तिसु मुल्ला कौ सदा सलांम ।
काजी सो जो काया विचारै । काया की अगिनि ब्रह्म परजारै ।
सुपिनें बिंदु न देई झरनां । तिसु काजी कउ जरा न मरनां ।
सो सुरतांन जु दुइ सर तांनैं । बाहरि जाता भीतरि आंनैं ।
गगन मंडल महिं लसकरु करै । सो सुरतानु छत्र सिरि धरै ।
जोगी गोरख गोरख करै । हिंदू रांम नांम ऊचरै ।
मुसलमांन कहै एकु खुदाइ । कबीर का स्वांमीं रहा समाइ ।।१२८।।

[३६]

कहु रे मुल्ला बांग निवाजा । एक मसीति दसौं दरवाजा ।।
मनु करि मका किवला करि देही । बोलनहारु परम गुरु एही ।
सिसिमिलि तांमसु भरमु कंदूरी । भखि लै पंचैं होइ सबूरी ।
कहै कबीर मैं भया दिवांनां । मुसि मुसि मनुवां सहजि समांनां ।।१२६।।

[३७]

तहां जौ रांम नांम लिव लागै ।
तौ जुरा मरन छूटै भ्रम भागै ।।
अगम द्रुगम गढि रचिले अवास । जा महि जोति करै परगास ।
चमकै बिजुली तार अनंत । तहा प्रभु बैठे कंवला कंत ।
अवरन वरन स्याम नहि पीत । हाहू जाइ न गावै गीत ।
अनहद सबद होत झनकार । तहां प्रभु बैठे समरथ सार ।
अखंड मडल मडित मंड । त्री असनान करै त्री खड ।
अगम अगोचर अभिअंतरा । ताकौ पार न पावै धरनींधरा ।
कदली पुहुप दीप परकास । रिदा (हिदा) पकज महि लिया निवास ।
द्वादस दल अभिअंतर मित । तहां प्रभु पाइसि करि लै चिंत ।
अरध उरध बिच लाइले अकास । सुन्नि मडल महि करि परगासु ।
तहा न ऊगै सूरज चद । आदि निरजन करै अनद ।
ब्रह्मंडे सो पिंडे जानि । मानसरोवरि करि असनानु ।
सोहं हंसा ताकौ जाप । ताहि न लिपै पुन्नि अरु पाप ।
अमिलन मिलन घांम नहि छाहां । दिवस न राति कछु है तहां ।
टारचौ टरै न आवै जाइ । सहज सुन्नि महि रह्यौ समाइ ।
काया मद्धे जांनें सोइ । जो बोलै सो आपै होइ ।
जोति माहि मन असथिरु करै । कहै कबीर सो प्रांनीं तरै ।।१३०।।

[३८]

रांम चरन मनि भाए रे ।
अस ढुरि जाहु रांड के करहा प्रेम प्रीति ल्यौ लाए रे ।

आंव चढ़ी अंबली रे अंबली बबूर चढ़ी नग बेली रे।
द्वै थर चढ़ि गयौ रांड कौ करहा मनहूं पाट की सैली रे।
कंकर कुई पताल पांनियां सोनें बूंद बिकाई रे।
बजर परौ इंहि मथुरा नगरी कांन्ह पियासा जाई रे।
एक दहेंड़ियां दही जमायौ दुसरी परि गई साढ़ी रे।
न्यौति जिमांऊं अपनों करहा छार मुनिस की दाढ़ी रे।
इंहि बनि बाजै मदन भेरि रे वहि बनि बाजै तूरा रे।
इंहि बनि खेलै राही रुकमिनि वहि बनि कांन्ह अहोरा रे!
आसि पासि घन तुरसी का बिरवा मांझि द्वारिका गांऊं रे।
जाकौ ठाकुर तुहीं सारिंगधर भगत कबीरा नांऊं रे ॥१३१॥

[३९]

देव करहु दया मोहि मारगि लावहु जितु भव बंधन टूटै।
जरन मरन दुख फेरि करन सुख जीअ जनम तें छूटै।
सतगुर चरन लागि यो बिनवौं जीवनि कहां तैं पाई।
जा कारनि हम उपजें बिनसे क्यो न कहो समझाई।
आसा पास खंड नहि पाड़ै यह मन सुन्नि न लूटै।
आपा पद निरबानु न चीन्हां बिनु अनभै क्यू छूटै।
कही न उपजै उपजी नहि जांनै भाव अभाव बिहूंनां।
उदै अस्त की मति बुधि नासी तउ सदा सहजि लिव लीनां।
ज्यौ बिंबहि प्रतिबिंब समाना उदकि कुंभ बिगरांनां।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा तउ मन सुन्नि समांनां ॥१३२॥

[४०]

राजा रांम अनहद किंगरी बाजै।
जहां दीरघ नाद लिव लागै ॥
अचरज एकु सुनहु रे पंडिआ अब किछु कहन न जाई।
सुर नर गण गंध्रब जिनि मोहे त्रिभुवन मेखुली लाई।
भाठी गगन सींगी करि चोंगी कनक कलस इक पावा।

तिसु महि धार चुअै अति निरमल रस महि रसन चुआवा ।
एक जु बात अनूप बनी है पवन पिआला साजा ।
तीनि भवन महि एको जोगी कहहु कवन है राजा ।
अैसें गिआंन प्रगटा पुरखोतम कहै कबीर रंगि राता ।
अउर दुनीं सभ भरमि भुलांनीं मैं रांम रसांइन माता ॥१३३॥

[४१]

यहु माया रघुनाथ की खेलन चढ़ी अहेरैं ।
चतुर चिकारे चुनि चुनि मारे कोई न छांड़ा नेरैं ।
मौंनीं बीर डिगंबर मारे जतन करंता जोगी ।
जंगल मांहि के जंगम मारे तूं रे फिरै अपरोगी ।
बेद पढ़ता बांह्मन मारा सेवा करंता स्वामीं ।
अरथ करंता मिसिर पछाड़ा गल महि घालि लगांमी ।
साकत कै तू हरता करता हरि भगतन कै चेरी ।
दास कबीर रांम कै सरनैं ज्यौं आई त्यौं फेरी ॥१६१॥

[४२]

एक सुहागिनि जगत पियारी । सगले जीअ जंत की नारी ।
खसम मरै तौ नारि न रोवै । उस रखवारा अउरो होवै ।
रखवारे का होइ बिनास । आगैं नरक इहां भोग बिलास ।
सुहागिनि गलि सोहै हार । संत कौं बिख बिगसै संसार ।
करि सिंगार बहै पखिआरी । संत की ठिठको फिरै बिचारी ।
सत भागै वा पाछैं परैं । गुर कैं सबदनि मारहु डरैं ।
साकत कै यहु पिंड पराइनि । हमरी दृष्टि परै त्रिखि डाइनि ।
अब हम इसका पाया भेउ । हुए क्रिपाल मिले गुर देउ ।
कहै कबीर अब बाहरि टरी । संसारी कै अंचलि परी ॥१६२॥

[४३]

कबीरा बिगरचौ रांम दुहाई । तुम्ह जिनि बिगरौ मेरै भाई ।
चंदन कै ढिग बिरिख जु भैला । बिगरि बिगरि सो चंदन ह्वैला ।

पारस कौं जे लोह छिवैंला। बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला।
गंगा मैं जे नीर मिलैला। बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला।
कहै कबीर जे रांम कहैला। बिगरि बिगरि सो रांमहिं ह्वैला ॥१६६॥

[४४]

ऐसे लोगनि सों का कहिए।
जे नर भए भगति तें बाहज तिनतें सदा डरांनें रहिए।
हरि जस सुनहिं न हरि गुन गावहिं। बातन हीं असमांनु गिरावहिं।
आप न देहीं चुरुआ पांनीं। तिहि निंदहिं जिन गंगा आंनीं।
आपु गए औरन हू खोवहिं। आगि लगाइ मंदिर मैं सोवहिं।
औरन हंसत आप हहिं कांनें। तिनकौं देखि कबीर लजांनें ॥१६७॥

[४५]

रांम रांम रांम रमि रहिए। साकत सेती भूलि न कहिए।
का सुनहां कौ सुंम्रित सुनाएं। का साकत पहिं हरि गुन गाएं।
कउवा कहा कपूर चराएं। का विसहर कौं दूध पिआएं।
अम्रित लै लै नींब सिंचाई। कहै कबीर वाकी बांनि न जाई ॥१६८॥

[४६]

है हरिजन सौं जगत लरत है। फुनिगा कतहूं गरुड़ भखत है।
अचिरज एक देखहु संसारा। सूनहां खेदै कुंजर असवारा।
ऐसा एक अचंभौ देखा। जंबुक करै केहरि सौं लेखा।
कहै कबीर रांम भजि भाई। दास अधम गति कबहुं न जाई ॥१६९॥

[४७]

चलहु विचारी रहहु संभारी कहता हूं ज पुकारी।
रांम नांम अंतरगति नांहीं तौ जनम जुवा ज्यौं हारी।
मूंड मुड़ाइ फूलि का बैठे कांननि पहिरि मंजूसा।
बाहरि देह खेह लपटांनीं भीतरि तौ घर मूसा।
गालिब [गारब(~ गर्व ?)] नगरी गांउं बसाया हांम कांम हंकारी।
घालि रसरिया जब जम खैंचै तब का पति रहै तुम्हारी।

छांड़ि कपूर गांठि विख बांधा मूल हुवा नहिं लाहा।
मेरे रांम की अभै पद नगरी कहै कबीर जुलाहा ॥१७०॥

[४८]

मुल्ला कहहु निआउ खुदाई। इहि विधि जीव का भरम न जाई।
सरजीव आंनै देह बिनासै माटी बिसमिल कीआ।
जोत सरूपी हाथि न आया कहौ हलाल क्यूं कीआ।
वेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न विचारै।
सभ घटि एक एक करि लेखै भी दूजा करि मारै।
कुकड़ी मारै बकरी मारै हक्क हक्क करि बोलै।
सबै जीव सांई के प्यारे उबरहुगे किस बोले।
दिल नापाक पाक नहिं चीन्हां तिसका मरम न जानां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई (छुटकाई?) दोजग ही मन मांनां ॥१८३॥

[४९]

मीयां तुम्ह सौं बोल्यां बनि नहिं आवै।
हम मसकीन खुदाई बंदे तुम्ह राजस मनि भावै।
अल्लह अवलि दीन को साहिब जोर नहीं फुरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारै है को कहौ कहां तैं आया।
रोजा करै निवाज गुजारै कलमैं भिस्ति न होई।
सत्तरि काबे घट ही भीतरि जे करि जांनै कोई।
खसम पिछांनि तरस करि जिय मैं माल मनी करि फीकी।
आपा जांनि और कौं जानैं तब होइ भिस्ति सरीकी।
माटी एक भेख धरि नानां तामैं ब्रह्म समांनां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन मांना ॥१८४॥

[५०]

लोका जांनि न भूलहु भाई।
खालिक खलक खलक महिं खालिक सब घटि रहा समाई।

अव्वलि अल्लह नूर उपाया कुदरति के सभ बंदे ।
एक नूर तें सब जग कीआ कौन भले कौन मंदे ।
ता अल्ला की गति नहिं जांनीं गुर गुड़ दीन्हां मीठा ।
कहै कबीर मैं पूरा पाया सब घटि साहिब दीठा ॥१८५॥

[५१]

जिअ रे जाहिगा मैं जांनां ।
जत जत देखउं बहुरि न पेखउं संगि माया लपटांनां ॥
वलकल वस्तर किता पहिरवा क्या बन मद्धे वासा ।
कहा मुगध रे पाहन पूजें क्या जल डारें गाता ।
ग्यांनीं ध्यांनीं बहु उपदेसी इहु जगु सगलो धंधा ।
कहै कबीर इक राम नांम बिनु या जगु माया अंधा ॥१८६॥

[५२]

भूली मालिनीं है एउ । सतिगुरु जागता है देउ ।
पाती तोरै मालिनीं पाती पाती जीउ ।
जिसु मूरति कौ पाती तोरै सो मूरति निरजीउ ।
टांचनहारै टांचिया दै छाती ऊपरि पाउ ।
जे तू मूरति साचि है तो गढ़नहारै खाउ ।
लाडू लावन लापसी पूजा चढ़ै अपार ।
पूजि पुजारा लै गया दै मूरति कै मुहिं छार ।
पाती ब्रह्मा पुहुप बिसनू मूल फल महादेव ।
तीनि देव प्रतखि तोरहि करहि किसकी सेव ।
मालिनि भूली जग भुलाना हम भुलांनें नाहिं ।
कहै कबीर हम रांम राखे क्रिपा करि हरि राइ ॥१८७॥

[५३]

मेरी जिम्या बिस्नु नैन नाराइन हिरदै बसहि गोबिंदा ।
जम दुवार जब लेखा मांगै तब का कहसि मुकुंदा ॥

तूं ब्रांह्मन मैं कासी क जोलहा चीन्हि न मोर गियांनां ।
तैं सब मागे भूपति राजा मोरै रांम धियांनां ।
पूरब जनम हंम ब्रांह्मन होते ओछे करम तप हींनां ।
रांमदेव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीन्हां ।
हंम गोरू तुम गुआर गुसांइं जनम जनम रखवारे ।
कबहूं न पार उतारि चराएहु कैसे खसम हंमारे ।
भौ बूड़त कछु उपाइ करीजै ज्यौं तिरि लंघै तीरा ।
रांम नांम जपि भेरा बांघौ कहै उपदेस कबीरा ॥१८८॥

[५४]

जउ मैं बउरा तउ रांम तोरा । लोगु मरमु का जांनैं मोरा ।
माला तिलक पहिरि मन मांनां । लोगन रांमु खिलौनां जांनां ।
तोरउं न पाती पूजउं न देवा । रांम भगति बिनु निहफल सेवा ।
सतगुरु पूजउं सदा मनावउं । असी सेव दरगह सुखु पावउं ।
लोगु कहैं कबीर बौरांनां । कबीर का मरमु रांम भल जांनां ॥१८९॥

[५५]

सभ खलक सयांनी मैं बौरा । मैं बिगरयौं बिगरै मति औरा ।
विद्या न पढ़उं वाद नहिं जांनौं । हरि गुन कथत सुनत बउरांनौं ।
आपि न बौरा राम कियौ बउरा । सतिगुरु जारि गयौ भ्रमु मोरा ।
मैं बिगरयौं अपनीं मति खोई । मेरै भरमि भूलउ मति कोई ।
सो बउरा जो आपु न पछानैं । आपु पछांनैं त एकै जांनैं ।
अबहिं न माता सु कबहुं न माता । कह कबीर रांमैं रंगि राता ॥१९०॥

[५६]

पंडिआ कवन कुमति तुम लागे ।
बूड़हुगे परिवार सकल सिउं रांम न जपहु अभागे ।
वेद पुरांन पढ़े का क्या गुनु खर चंदन जस भारा ।
राम नाम की गति नहिं जांनीं कैसे उतरसि पारा ।

जोअ वघहु सु धरमु करि थापहु अधरम कहहु कत भाई।
आपस कौं मुनिवर करि थापहु काको कहौं कसाई।
मन के अंधे आपि न बूझहु काहि बुझावहु भाई।
माया कारनि विद्या बेचहु जनमु अबिरथा जाई।
नारद बचनु बिआस कहत है सुक कौं पूछहु जाई।
कहै कबीर रांमैं रमि छूटहु नांहि त बूड़े भाई ॥१६१॥

[५७]

कहु पंडित सूचा कवन ठांउं। जहां बैसि हउं भोजनु खांउं।
माता जूठी पिता भी जूठा जूठे ही फल लागे।
आवहिं जूठे जांहि भी जूठे जूठै मरहिं अभागे।
अगिनि भी जूठी पांनीं जूठा जूठै बैसि पकाया।
जूठी करछी अन्न परोसा जूठै जूठा खाया।
गोबरु जूठा चउका जूठा जूठै दीनीं कारा।
कहै कबीर तेई जन सूचे जे हरि भजि तजहिं बिकारा ॥१६२॥

[५८]

आऊंगा न जाऊंगा मरूंगा न जिऊंगा। गुरु कै साथि अमी रस पिऊंगा।
कोई फेरै माला कोई फेरै तसबी। देखो रे लोगा दोनौं कसबी।
कोई जावै मक्के कोई जावै कासी। दोऊ कै गलि परि गई पासी।
कहत कबीर सुनौ नर लोई। हंम न किसी के न हंमरा कोई ॥१६३॥

[५९]

कौंन मरै कौंन जनमैं आई। सरग नरक कौंनें गति पाई।
पंच तत अविगत तें उतपनां एकैं किया निवासा।
बिछरें तत फिर सहजि समांनां रेख रही नहिं आसा।
जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहिं समांनां यहु तत कथौ गियांनीं।
आदै गगनां अंतै गगनां मद्धे गगनां भाई।
कहै कबीर करम किस लागै झूठी संक उपाई ॥१६४॥

[९०]

साधौ सो जन उतरे पारा। जिन मन तैं आपा डारा।
कोई कहै मैं ग्यांनीं रे भाई कोई कहै मैं त्यागी।
कोई कहै मैं इंद्री जीती अहं सभनि कौं लागी।
कोई कहै मैं जोगी रे भाई कोई कहै मैं भोगी।
मैं तै आपा दूरि न डारा कैसे जीवै रोगी।
कोई कहै मैं दाता रे भाई कोई कहै मैं तपसी।
निज तत नांउं निहचै नहिं जांनां सब माया मैं खपसी।
कोई कहै मैं जुगती जांनी कोई मैं रहनीं।
आतम देव सौं परचा नाही यहु सब झूठो कहनीं।
कोई कहै धरम सब साधे और बरत सब कीन्हां।
आपा को आंटो नहिं निकसी करज बहुत सिरि लीन्हां।
गरब गुमांन सब दूर निवारै करनीं कौ बल नांहीं।
कहै कबीर साहेब का बंदा पहुचा हरि पद माहीं ॥१९५॥

[९१]

काहे मेरे बांम्हन हरि न कहहि। रांम न बोलहि पांडे दोजक भरहि।
जिहिं मुख बेदु गाइत्री उचरै सो क्यू बांम्हन बिसरु करै।
जाके पाइं जगत सभ लागै सो पंडित जिउघात करै।
आपन ऊंच नीच घरि भोजनु घीन करम करि उदरु भरहि।
ग्रहन अमावस रुचि रुचि मागहि कर दीपकु लै कूप परहि।
तू बांम्हन मैं कासी क जुलहा मोहिं तोहिं बराबरी कैसे कै बनहि।
कहै कबीर हंम रांम लगि उबरे बेदु भरोसै पांडे डुबि मरहि ॥१९६॥

[९२]

रांम न रमसि कौंन डंड लागा। मरि जैबे का करिबे अभागा।
कोइ तीरथ कोइ मुंडित केसा। पाखंड मंत्र भर्म उपदेसा।
बिद्या बेद पढि करै हंकारा। अंत काल मुख फाकै छारा।

खित सुखित होइ कुटुंब जेंवावै । मरण वेर एकसर दुख पावै ।
कहै कवीर यह कलि है खोटी । जो रहै करवा सो निकसै टोटी ।।१९७।।

[६३]

सभै मदिमाते कोऊ न जाग । संग ही चोर घरु मुसन लाग ।
जोगी माते धरि धियांन । पंडित माते पढ़ि पुरान ।
तपा जु माते तप कै भेव । संन्यासी माते 'अहंमेव ।
जागै सुखदेउ ऊधौ अकूरु । हणवंत जागै लै लंगूरु ।
संकर जागै चरन सेव । कलि जागे नांमां जैदेव ।
जागत सोवत बहु प्रकार । गुरमुखि जागै सोई सारु ।
चंचल मन के अधम कांम । कहै कवीर भजि रांम नांम ।।१९८।।

[६४]

हरि बिन भरमि विगूचे गंदा ।
जापहि जाउं आपु छुटकावन ते बांधे बहु फंदा ।
जोगी कहहिं जोगु भल मीठा और न दूजा भाई ।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर एहि कहहिं सिधि पाई ।
पंडित गुनीं सूर कवि दाता एहि कहहिं बड़ हमही ।
जहं ते उपजे तहंई बिलाने हरि पद बिसरा जबही ।
तजि बावें दाहिनें विकारा हरि पद दिढ़ करि गहिए ।
कहै कवीर गूगै गुड़ खाया पूछें तें क्या कहिए ।।१९९।।

[६५]

लोगा तुम ही मति के भोरा ।
जउ कासी तनु तजहि कवीरा तौ रांमहि कौन निहोरा ।
जो जन भाउ भगति कछु जानैं ताकौं अचरजु काहा ।
जैसें जल जलहीं ढुरि मिलिआ त्यौं ढुरि मिला जुलाहा ।
कहै कबीर सुनहु रे लोई भरमि न भूलहु कोई ।
क्या कासी क्या महगर ऊखर हिदै रांम जौ होई ।।२००

साखी

१. सतगुर महिमां कौ अंग

रांम नांम कै पटंतरै, देबे कौं कछु नांहि।
क्या लै गुर संतोखिए, हौंस रही मन मांहि।१।
सतगुर सवां न कोइ सगा, सोधी सईं न दाति।
हरि जी सवां न कोइ हितू, हरिजन सईं न जाति।२।
चौंसठि दीवा जोइ करि, चौदह चदा मांहि।
तिहिं घरि किसकौ चादिनौं, जिहिं घरि सतगुर नांहि।३।
निसि अंधियारी कारनैं, चौरासी लख चंद।
गुर बिन अति ऊदै भए, तऊ दिस्टि रहि मंद।४।
सतगुर बपुरा क्या करै, जौ सिखही मांहैं चूक।
भावै त्यौं परमोघिए, ज्यौं बासि बजाइए फूक।५।
जाका गुरु है आंधरा, चेला है जाचंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दोन्यूं कूप परत।६।
संसै खाया सकल जग, ससा किनहूं न खद्ध।
जे बेधे गुरु अस्विरा, ते संसा चुनि चुनि खद्ध।७।
गुर सिकलीगर कीजिए, ग्यांन मसकला देइ।
सबद छोलनां छोलि कै, चित दरपन करि लेइ।८।
सतगुरु सांचा सूरिवां, सबद जु बाहा एक।
लागत ही भुइं मिलि गया, परा करेजै छेक।९।
बूड़ा था पै उपरा, गुर की लहरि चमंकि।
जब भेरा देखा जरजरा, तब उतरि परा फरकि १०।
थापनि पाई थिति भई, सतगुर दोन्हीं धीर।
कबीर हीरा बनिजिया, मांन सरोबर तीर।११।

गूंगा हूआ बावरा, बहरा हूआ कांन।
पावां तें पंगुल भया, सतगुर मारा बांन।१२।
सतगुर की महिमां अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार।१३।
पाछें लागा जाइ था, लोक वेद कै साथि।
पैंड़े मैं सतगुर मिला, दीपक दीया हाथि।१४।
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुनां, बहुरि न आवौं हट्ट।१५।
ग्यांन प्रकासा गुर मिला, सो जनि वीसरि जाइ।
जब गोविंद क्रिपा करी, तब गुर मिलिया आइ।१६।
नां गुर मिला न सिख मिला, लालच खेला डाव।
दोनौं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव।१७।
सतगुर मिला त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पासि बिनठा कापड़ा, क्या करै बिचारी चोल।१८।
बलिहारी गुर आपकी, द्यौहाड़ी सौ बार।
जिन मानिख तें देवता किया, करत न लागी बार।१६।
सतगुर कै सदकै किया, दिल अपनीं का सांच।
कलिजुग हमसौं लड़ि पड़ा, मुहकम मेरा बांच।२०।
सतगुर लई कमांन करि, बाहन लागा तीर।
एक ज बाहा प्रीति सौं, भीतरि भिदा सरीर।२१।
हंसै न बोलै उनमनीं, चचल मेला मारि।
कहै कबीर भीतरि भिदा, सतगुर कै हथियार।२२।
सतगुर मारा बांन भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघारै लागिया, गई दवा सौं फूटि।२३।
कबीर गुर गरवा मिला, मिलि गया आटैं लौंन।
जाति पांति कुल सब मिटे, नांउं धरौगे कौंन।२४।

भली भई जो गुर मिले, नहिंतर होती हांनि।
दीपक जोति पतग ज्यौं, पड़ता पूरो जांनि।२५।
माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि मांहि पड़त।
कहै कबीर गुर ग्यान तैं, एक आध उबरंत।२६।
चेतन चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्ही धीर।
निर्भय होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर।२७।
गुर गोबिंद तो एक हैं, दूजा सब आकार।
आपा मेटै हरि भजै, तब पावै दीदार।२८।
कबीर सतगुर नां मिला, रही अधूरी सीख।
स्वांग जती का पहिरि करि, घरि घरि मांगै भीख।२९।
सतगुर सांचा सूरिवा, ज्यौं तातै लोहि लुहार।
कसनी दै कंचन किया, ताइ लिया ततसार।३०।
निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर।
निपजी मैं साझी घना, बांटै नहीं कबीर।३१।
चौपड़ माड़ी चौहटै, अरध उरध बाजारि।
सतगुर सेती खेलता, कबहू न आवै हारि।३२।
पासा पकड़ा प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाव बताइया, खेलै दास कबीर।३३।
सतगुर हम सौं रीझि करि, कह्या एक परसंग।
बरसा बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।३४।

२. प्रेम बिरह कौ अंग

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न मानै कोइ।
राम बियोगी नां जिअै, जिअै त बउरा होइ।१।
बिरह भुवंगम पैसि करि, किया करेजै घाउ।
साधू अंग न मोरहीं, ज्यौं भावै त्यौं खाउ।२।

अंबरि कुंजां कुरलियां, गरजि भरे सब ताल।
जिनतैं साहिब बीछुरा, तिनकौं कौंन हवाल।३।
चकई बिछुरी रैंनि की, आइ मिलै परभाति।
जे नर बिछुरे रांम सौं, ते दिन मिले न राति।४।
झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटमफूट।
जोगी था सो रमि गया, आसनि रही बिभूति।५।
रैनाईर बिछोहिया, रहु रे संख म झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि।६।
हिरदै भीतरि दौ बलै, धुवां न परगट होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ।७।
हौं रे बिरह की लाकड़ी, सपची औ धुंधुवाउं।
छूटि पड़ौं या बिरह तैं, जौ सगली जरि जाउं।८।
बिरहिन ऊठै भी परै, दरसन कारन रांम।
मूएं दरसन देहुगे, सो आवै कौंने काम।९।
मूए पीछैं मति मिलौ, कहै कबीरा रांम।
लोहा माटी मिलि गया, तब पारस कौनें कांम।१०।
भेरा पाया सरप का, भौसागर के माहिं।
जौ छाड़ौं तौ बूड़िहौ, गहौ त डसिहै बाहिं।११।
मारा है मरि जाइगा, बिन सर थोथी भालि।
परा कराहै बिरिछ तलि, आजु मरै कै काल्हि।१२।
आगि जु लागी नीर महिं, कादौ जरिया झारि।
उतर दखिन के पंडिता, मुए बिचारि बिचारि।१३।
जाहु बैद घर आपनैं, तेरा किया न होइ।
जिन या बेदन निरमई, भला करैगा सोइ।१४।
बासुरि सुख नां रैंनि सुख, नां सुख सुपिनै मांहि।
कबीर बिछुड़ें रांम सौं, ना सुख धूप न छांहि।१५।

विरहा बिरहा मति कहौ, बिरहा है सुलतांन ।
जिहि घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसांन ।१६।
सब रग तांति रबाव तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुनि सकै, कै सांइं कै चित्त ।१७।
बहुत दिनन की जोवती, वाट तुम्हारी रांम ।
जिय तरसै तुझ मिलन कौं, मन नांहीं बिसरांम ।१८।
अंदेसो नहिं भाजिसी, संदेसौ कहियां ।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि पासि गयां ।१९।
यहु तनु जारौं मसि करौं, ज्यूं धूवां जाइ सरगि ।
मति वै रांम दया करैं, बरसि बुझावै आगि ।२०।
यहु तन जारौं मसि करौं, लिखौं रांम का नांउं ।
लेखनि करौं करंक की, लिखि लिखि रांम पठांउं ।२१।
इस तन का दीवा करौं, बाती मेलौं जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यौं, तब मुख देखौं पीव ।२२।
अंखड़ियां प्रेम कसाइयां, जग जांनै दूखड़ियां ।
रांम सनेही कारनै, रोइ रोइ रातड़ियां ।२३।
परवति परवति मैं फिरा, नैन गंवाया रोइ ।
सो बूटी पांऊं नहीं, जाते जीवन होइ ।२४।
नैन हमारे बावरे, छिन छिन लोरैं तुज्झ ।
नां तूं मिलै न मैं सुखी, ऐसी बेदनि मुज्झ ।२५।
कमोदिनीं जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि ।
जो है जाका भावता, सो ताही कै पासि ।२६।
गुर जो बसै बनारसी, सीख समुंदर तीर ।
बीसारे नहिं बीसरै, जो गुन होइ सरीर ।२७।
जो है जाका भावता, जदि तदि मिलिहै आइ ।
जाकौं तन मन सौंपिया, सो कबहूं छाड़ि न जाइ ।२८।

स्वांमीं सेवक एक मत, मत मैं मत मिलि जाइ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ।२९।
दीपक पावक आंनिया, तेल भी आंनां संग।
तीनौं मिलिकैं जोइया, तब उड़ि उड़ि परैं पतंग।३०।
बिरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलिहिंगे आइ।३१।
आइ न सक्कौ तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ।३२।
कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीर न जाइ।
एक जु पीर पिरीति की, रही कलेजा छाइ।३३।
चोट संतानीं बिरह की, सब तन जरजर होइ।
मारनहारा जांनिहै, कै जिहि लागी सोइ।३४।
जबहीं मारा खैंचि करि, तब मैं पाई जानि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छानि।३५।
अखड़ियां झाई परी, पथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला परा, रांम पुकारि पुकारि।३६।
जीव बिलवा जीव सौं, अलख न लखिया लाइ।
गोबिंद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ।३७।
हंसि हंसि कंत न पाइअैं, जिन पाया तिन रोइ।
हासी खेला पिउ मिलै, तौ नहीं दुहागिनि कोइ।३८।
कबीर देखत दिन गया, निसि भी निरखत जाइ।
बिरहिनि पिउ पावै नहीं, जियरा तलफत जाइ।३९।
कै बिरहिनि कौं मीच दै, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझनां, मोपै सहा न जाइ।४०।
बिरहिनि थी तौ क्यौं रही, जरी न पिउ कै नालि।
रहि रहि मुगध गहेलरी, प्रेम न लाजौं मारि।४१।

कबीर तन मन यौं जला, बिरह अगिनि सौ लागि ।
मिरतक पीर न जांनई, जांनैगी वह आगि ।४२।
कबीर सुपिनै हरि मिला, मोहिं सूतां लिया जगाइ ।
आंखि न मीचौं डरपता, मति सुपिनां होइ जाइ ।४३।
सांई केरे बहुत गुन, लिखे जु हिरदै मांहि ।
पांनी पिऊ न डरपता, मति वै धोए जाहि ।४४।
कबीर सुंदरि यौं कहै, सुनि हो कंत सुजांन ।
वेगि मिलौ तुम आइकैं, नहितर तजौं परांन ।४५।
कबीर प्रेम न चाखिया, चाखि न लीया साव ।
सूनें घर का पाहुनां, ज्यौं आवै त्यौं जाव ।४६।
नैनां अंतरि आव तू, निस दिन निरखूं तोहिं ।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहिं ।४७।
नैंवा नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम ।
पपिहा ज्यौं पिउ पिउ करौं, कब रे मिलहुगे राम ।४८।
सोई आसू सज्जनां, सोई लोक बिड़ा ।
जौ लोइन लोही चुवै, तौ जांनौं हेतु हिया ।४९।
गुर दाझा चेला जला, विरहा लाई आगि ।
तिनका बपुरा ऊबरा, गलि पूरे कै लागि ।५०।
पांनी माही परजली, भई अपरबल आगि ।
बहती सलिता रहि गई, मच्छ रहे जल त्यागि ।५१।
कबीर दरिया परजला, दाझे जल थल झोल ।
बस नाहीं गोपाल सौं, बिनसै रतन अमोल ।५२।
ऊनमि आई बादरी, बरसन लगा अंगार ।
उठि कबीरा धाह दे, दाझत है संसार ।५३।
समुदर लागी आगि, नदिया जलि कोइला भई ।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखां चढ़ि गई ।५४।

जिहि सरि मारा काल्हि, सो सर मेरे मनि बसा ।
तिहि सरि अजहूं मारि, सर बिनु सचु पाऊं नहीं ।५५।

३. सुमिरन भजन महिमां कौ अंग

कबीर सूता क्या करै, उठि किन रोवै दुक्ख ।
जाका बासा गोर मैं, सो क्यूं सोवै सुक्ख ।१।
कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि ।
इक दिन सोवन होइगा, लांबे गोड़ पसारि ।२।
लूटि सकै तो लूटि लै, रांम नांम की लूटि ।
फिर पाछै पछिताहुगे, प्रांन जाहिगे छूटि ।३।
केसौ कहि कहि कूकिअै, नां सोइअै असरार ।
राति दिवस कै कूकनै, कबहूंक लगै पुकार ।४।
कबीर कठिनाई खरी, सुमिरंतां हरि नांउं ।
सूरी ऊपरि खेलनां, गिरै त नांही ठांउं ।५।
तू तू करता तू भया, मुझ मैं रही न हूं ।
वारी तेरे नांउं परि, जित देखौं तित तू ।६।
भगति भजन हरि नांउं है, दूजा दुक्ख अपार ।
मनसा बाचा कर्मना, कबीर सुमिरन सार ।७।
चिंता तौ हरि नांउं की, और न चितवै दास ।
जो कछु चितवै रांम बिनु, सोई काल की पास ।८।
जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसनां नहिं राम ।
ते नर आइ संसार मैं, उपजि खए बेकांम ।९।
पहिलै बुरा कमाइ करि, बांधी बिख की पोट ।
कोटि करम फिल पलक मैं, जब आया हरि की ओट ।१०।
कोटि करम फिल पलक मैं, जे रंचक आवै नांउं ।
जुग अनेक जो पुंनि करै, नही नांउं बिनु ठांउं ।११।

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यौं पाइऔ, दुरलभ हरि दीदार।१२।
तत्त तिलक तिहूं लोक मैं, राम नांम निज सार।
जन कबीर मस्तकि दिया, सोभा अनंत अपार।१३।
कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत सब सोधिया, दूजा देखौं काल।१४।
पँच संगि पिउ पिउ करैं, छठां जो सुमिरै मंन।
आई सूति कबीर की, पाया रांम रतंन।१५।
कबीर निरभै रांम जपि, जब लगि दीवै बाति।
तेल घटै बाती बुझै, तब सोवैंगा दिन राति।१६।
कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाके संग तैं बीछुरा, ताही कै संगि लागि।१७।
कबीर सूता क्या करै, सूतां होइ अकाज।
ब्रह्मा का आसन डिगा, सुनत काल की गाज।१८।
जिन हरि जैसा जांनियां, तिनकौं तैसा लाभ।
ओसां प्यास न भाजई, जब लगि धंसै न आभ।१९।
रांम पियारा छांड़ि करि, करै आंन का जाप।
वेस्वा केरा पूत ज्यौं, कहै कौंन सौं बाप।२०।
जैसैं माया मन रमैं, यौं जे रांम रमाइ।
तौ तारा मंडल वेधि कैं, सो अमरापुर जाइ।२१।
लूटि सकै तौ लूटि लै, रांम नांम भंडार।
काल कंठ कौं गहैगा, रूंधै दसहूं दुवार।२२।
कबीर चित्त चमंकिया, दहूं दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरन हाथौं घड़ा बेगे लेहु बुझाइ।२३।
जानंता बूझा नहीं, समुझि किया नांहिं गौंन।२४।
अंधे कौ अंधा मिला, राह बतावै कौंन।२४।

कबीर कहता जात है, सुनता है सब कोइ।
रांम कहें भला होइगा, नातर भला न होइ।२५।
कहै कबीर मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नांम ततसार है, सब काहू उपदेस।२६।

४. साध महिमां कौ अंग

कबीर चंदन कै बिड़ै, बेधे ढाक पलास।
आपु सरीखे करि लिए, जे होते उन पास।१।
संत न छांड़ै संतई, जौ कोटिक मिलहिं असंत।
मलय भुयंगम बेढ़ियौ, तऊ सीतलता न तजंत।२।
है गै बाहन सघन घन, छत्र धुजा फहराइ।
ता सुख तें भिख्या भली, जौ हरि सुमिरत दिन जाइ।३।
पुर पट्टन सूबस बसै, आनंद ठाएं ठाइं।
रांम सनेही बाहिरा, ऊजड़ मेरै भाइं।४।
मेरै संगी दोइ जनां, एक वैस्नौं एक रांम।
वो है दाता मुकुति का, वो सुमिरावै नांम।५।
जिहिं घरि साध न पूजिए, हरि की सेवा नांहि।
ते घर मरहट सारिखे, भूत बसें तिन मांहि।६।
दावै दाझन होतु है, निरदावै रहै निसंक।
जे जन निरदावै रहैं, ते गनैं इंद्र कौ रंक।७।
कबीर भया है केतकी, भंवर भए सब दास।
जहं जहं भगति कबीर की, तहं तहं रांम निवास।८।
कबीर कुल सोई भला, जिहिं कुल उपजै दास।
जिहिं कुलि दास न ऊपजै, सो कुल ढाक पलास।९।
है गै बाहन सघन घन, छत्रपती की नारि।
तासु पटतर नां तुलै, हरिजन की पनिहारि।१०।

क्यौं त्रिपनारी निंदिए, क्यौं पनिहारी को मांन ।
वा मांग संवारै पीव को, वा नित उठि सुमिरै रांम ।११।
जिनहुं किछू जांनां नहीं, तिन्ह सुख नींद बिहाइ ।
मैं रे अबूझी बूझिया, पूरी परी बलाइ ।१२।
सुपनें हू बरराइ कै, जिहि मुख निकसै रांम ।
ताके पग की पांनहीं, मेरै तन को चांम ।१३।
कबीर चाला जाइ था, आगैं मिला खुदाइ ।
मीरां मुझसौं यौं कहा, तुझे कीन्हि फुरमाई गाइ ।१४।
रांम नांम जिन चीन्हिया, झीना पंजर तासु ।
नैन न आवै नींदरी, अंग न जांमैं मासु ।१५।
रांम वियोगी विकल तन, इन्ह दुखवौ मति कोइ ।
छूवत ही मरि जाइंगे, तालाबेली होइ ।१६।
जांनि बूझि जड़ होइ रहै, बल तजि निरबल होइ ।
कहै कबीर तेहि संत का, पला न पकड़ै कोइ ।१७।
लालन की ओबरी नही, हंसन की नहिं पांति ।
सिंहन के लेंहड़ा नही, साधु न चलै जमाति ।१८।
कबीर संगति साधु की, कदे न निरफल होइ ।
चंदन होसी बावनां, नींब न कहसी कोइ ।१९।
कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं ।
अंक भरे भरि भेटिए, पाप सरीरउ जाहिं ।२०।
जेता मीठा बोलनां, तेता साधु न जांनि ।
पहिले थाह दिखाइ करि, ऊंडै देसी आंनि ।२१।
कबीर संगति साधु की, नित प्रति कीजै जाइ ।
दुरमति दूर बहावसी, देसी सुमति बताइ ।२२।
मथुरा जाउ भावै द्वारिका, भावै जाउ जगन्नाथ ।
साधु संगति हरि भगति बिनु, कछू न आवै हाथ ।२३।

निरवैरी निहकांमता, सांई सेती नेह।
विखया सौं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह।२४।
खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराइ।
कुटिल वचन साधू सहै, दूजे सहा न जाइ।२५।
कबीर हरि का भावता, दूरहिं तें दीसंत।
तन खींनां मन उनमनां, जगि रूठड़ा फिरंत।२६।
जांन भगत का नित मरन, अनजांनें का राज।
सर अपसर समझै नहीं, पेट भरन सौं काज।२७।
जांनि बूझि सांचो तजै, करै झूठ सौं नेहु।
ताकी संगति रांम जी, सुपनें हू जनि देहु।२८।
कबीर खांई कोट की, पांनी पिवै न कोइ।
जाइ परै जब गग मैं, तौ सब गंगोदिक होइ।२९।
बिखै पियारी प्रीति सौ, तब हरि अंतरि नांहि।
जब अंतरि हरि जी बसै, तब विखिया सौं चित नांहि।३०।
ऊजल देखि न धीजिए, बग ज्यौं माड़ै घ्यांन।
घोरै बैठि चपेटसी, यौं लै बूड़ै ग्यांन।३१।
कबीर लहरि समद की, केती आवैं जांहि।
बलिहारी ता दास की, उलटि समावै मांहि।३२।
पंच बलधिया फिरकिड़ी, ऊजड़ि ऊजड़ि जाइ।
बलिहारी वा दास की, पकड़ि जु राखै ठाइ।३३।
भगत हजारी कापड़ा, तामैं मल न समाइ।
साकत काली कामरी, भावै तहा बिछाइ।३४।
सब घटि मेरा सांइया, सूनी सेज न कोइ।
भाग तिनहुं का हे सखी, जिंहि घटि परगट होइ।३५।
कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ।
कै जागै बिखई बिख भरा, कै दास बंदगी होइ।३६।

चंदन की कुटकी भली, नां बबूर लखरांव।
साधुन की छपरी भली, नां साकत को बड़गांव।३७।
कबीर धनि सो सुंदरी, जिन जाया वैसनों पूत।
रांम सुमिरि निरभै भया, सब जग गया अऊत।३८।
साकत बांम्हन मति मिलै, वैसनों मिलै चंडाल।
अंकमाल दै भेटिए, मानों मिले गोपाल।३९।
कांम मिलावै रांम कौं, जो कोई जांनें राखि।
कबीर बिचारा क्या करै, सुखदेउ बोलै साखि।४०।
कांमिनि अंग बिरत भए, रत भए हरि नांइ।
साखी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भए कलि मांहि।४१।
स्वारथ कौं सब कोइ सगा, जग सगला ही जांनि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांनि।४२।
कबीर बन बन मैं फिरा, कारन अपनै रांम।
रांम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब कांम।४३।

५. गुर सिख हेरा को अंग

अैसा कोई नां मिलै, अपनां घर देइ जराइ।
पांचउ लरिकै पटकि कै, रहै रांम लौ लाइ।१।
अैसा कोई नां मिलै, जासौं रहिए लागि।
सब जग जरता देखिया, अपनीं अपनीं आगि।२।
अैसा कोई नां मिलै, हंमकौं दे उपदेस।
भौसागर मैं बूड़तां, कर गहि काढ़ै केस।३।
अैसा कोइ नां मिलै, समझैं सैंन सुजांन।
ढोल बजता नां सुनैं, सुरति बिहूंनां कांन।४।
अैसा कोई नां मिलै, हंमकौं नेह पिछांनि।
अपनां करि किरपा करै, लै उतरै मैदांनि।५।

अैसा कोई नां मिलै, रांम भगति का मीत।
तन मन सौंपै मिरिग ज्यौं, सुनें वधिक का गीत।६।
अैसा कोई नां मिलै, सब बिधि देइ बताइ।
सुन्नि मंडल मैं पुरिख एक, ताहि रहै लौ लाइ।७।
हंम देखत जग जात है, जग देखत हंम जांहि।
अैसा कोई नां मिलै, पकड़ि छुड़ावै बांहि।८।
सारा सूरा बहु मिलै, घाइल मिलै न कोइ।
घाइल कौ घाइल मिलै, तौ रांम भगति दिढ़ होइ।९।
प्रेमीं ढूंढ़त मैं फिरूं, प्रेमों मिलै न कोइ।
प्रेमीं सौं प्रेमीं मिलै, तौ सब बिख अंम्रित होइ।१०।
तीन सनेही बहु मिलैं, चौथै मिलै न कोइ।
सबहि पियारे रांम के, बैठे परबसि होइ।११।
सरपहि दूध पियाइए, दूधैं बिष होइ जाइ।
अैसा कोई नां मिलै, सौं सरपैं बिख खाइ।१२।
हंम घर जारा आपना, लिए मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौं तास का, जो चलै हमारै साथि।१३।

६. दीनता बीनती को अंग

कबीर कूता रांम का, मुतिया मेरा नांउं।
गले रांम की जेवरी, जित खैंचै तित जाउं।१।
मेरा मुझमैं किछु नही, जो किछु है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौंपतां, क्या लागै मेरा।२।
निगुसांवां बहि जाइगा, जाकै थांघी नांहीं कोइ।
दीन गरीबी बंदगी, करतां होइ सु होइ।३।
कबीर सब जग ढूढ़िया, बुरा न मिलिया कोइ।
कबिरा सब काहू बुरा, कबीरै बुरा न कोइ।४।

करता केरे बहुत गुन, औगुन कोई नांहि।
जौ दिल खोजौं आपनों, तौ सब औगुन मुझ मांहि।५।
जद का माई जनमिया, कदे न पाया सुख।
डारी डारी मैं फिरौं, पातैं पातैं दुख।६।
औसर बीता अलप तन, पीव रहा परदेस।
कलंक उतारो सांइयां, भांनौ भरम अंदेस।७।
ज्यौं मेरा मन तुज्झ सौं, यौं जो तेरा होइ।
तौ अहरनि ताता लोह ज्यौं, संधि न लखई कोइ।८।
नां परतीति न प्रेम रस, नां इस तन मैं ढंग।
क्या जांनौं उस पीव सौं, कैसैं रहसी रंग।९।
कबीर भूल बिगाड़िया, तूं नां करि मैला चित्त।
साहिब गरवा लोड़िए, नफर बिगाड़ै नित्त।१०।
दीन गरीबी दीन कौं, दुदर कौं अभिमांन।
दुंदर दिल बिख सौं भरी, दीन गरीबी रांम।११।
कबीर बिचारा करै बीनती, भौसागर कै तांई।
बंदे ऊपरि जोर होत है, जम कौं बरजि गुसांई।१२।

७. पिउ पहिचानबे कौ अंग

कस्तूरी कुंडलि बसै, म्रिग ढूंढ़ै बन मांहि।
ऐसैं घटि घटि रांम है, दुनिया देखै नांहि।१।
ज्यौं नैननि मैं पूतरी, त्यौं खालिक घट मांहि।
मूरिख लोग न जांनहीं, बाहरि ढूंढ़न जांहि।२।
संपुट मांहि समाइया, सो साहिब नहिं होइ।
सकल मांड मैं रमि रह्या, साहिब कहिए सोइ।३।
कबीर नायो सोइ किया, दुख सुख जाहि न कोइ।
हिलि मिलि कै संगि खेलिहूं, कदे बिछोह न होइ।४।

भोरै भूली खसम कै, बहुत किया बिभिचार।
सतगुर आंनि बताइया, पूरवला भरतार।५।
सो सांईं तन मैं बसै, मरम न जानैं तास।
कस्तूरी का मिरिग ज्यौ, फिरि फिरि ढूंढै घास।६।
जाकै मुंह माथा नहीं, नांहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तैं पातरा, अैसा तत्त अनूप।७।
अैसी अदबुद मति कथौ, अदबुद राखि लुकाइ।
वेद कुरांनौं गमि नहीं, कहें न कोइ पतियाइ।८।
भारी कहूं तौ बहु डरूं, हरुवा कहूं तौ झूठ।
मैं क्या जांनू रांम कौ, नैंना कबहूं न दीठ।९।
दीठा है तौ कस कहूं, कहें न कोइ पतिआइ।
हरि जैसा तैसा रहै, तूं हरखि हरखि गुन गाइ।१०।
रहै निराला मांड तैं, सकल माड तिहि मांहि।
कबीर सेवै तास कौं, दूजा सेवै नांहि।११।
तिन कै ओल्है राम है, परबत मेरै भाइं।
सतगुर मिलि परचै भया, तब पाया घट मांहि।१२।

८. संम्रथाई कौ अंग

ना कछु किया न करहिंगे नां करनै जोग सरीर।
जो कछु किया सु हरि किया, भया कबीर कबीर।१।
सात समुद की मसि करौ, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौ, तऊ हरि गुन लिखा न जाइ।२।
कबीर करनी क्या करै, जो राम न करै सहाइ।
जिहि जिहि डारी पग धरौं, सोई नइ नइ जाइ।३।
कीयां कछू न होत है, अनकीयां सब होइ।
जो कीएं ही होत है, तौ करता औरै कोइ।४।

अबरन कौं क्या बरनिए, मोपै बरनि न जाइ।
अबरन बरनें बाहिरा, करि करि थका उपाइ।५।
हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूंद सामांनीं समुद मैं, सो कत हेरी जाइ।६।
हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
समुंद समांनां बूंद मैं, सो कत हेरा जाइ।७।
जिसहिं न कोई तिसहिं तूं, जिस तूं तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी सांइयां, नामहरूम न कोइ।८।
भौसागर जल बिख भरा, मन नहिं बांधे धीर।
सबल सनेही हरि मिला, तब उतरा पारि कबीर।९।
सांई मेरा बांनिया, सहजि करै व्योपार।
बिन डांड़ी बिन पालरै, तोलै सब संसार।१०।
सांई सौं सब होत है, बंदे सौं कछु नांहिं।
राई तैं परबत करै, परबत राई मांहि।११।
सांई मैं तुझ बाहिरा, कौड़ी हू न लहाउं।
जौ सिर ऊपरि तुम धनी, तौ लाखों मोल कराउं।१२।
एक खड़ा ही नां लहे, एक खड़ा बिललाइ।
समरथ मेरा साइयां, सूतां देइ जगाइ।१३।
कबीर पूछै रांम सौं, सकल भवन पति राइ।
सबही करि अलगा रहै, सो बिधि देहु बताइ।१४।
कबीर जांचन जाइ था, आगैं मिला अजच।
लै चाला घरि आपनें, भारी पाया संच।१५।
आदि मध्य अरु अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करतार का, सेवग तजै न संग।१६।
कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोइ।
गुन औगुन बिहड़ै नहीं, स्वारथ बंधी लोइ।१७।

९. परचा कौ अंग

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नांहि ।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देखा मांहि ।१।
पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमांन ।
कहिबे कौं सोभा नहीं, देखें ही परवांन ।२।
भली भई जो भै परा, गई दसा सब भूलि ।
पाला गलि पांनीं भया, ढुरि मिलिया उस कूलि ।३।
जा कारनि मैं जाइ था, सोई पाया ठौर ।
सोई फिर आपन भया, जासौं कहता और ।४।
अगम अगोचर गमि नहीं, जहां जगमगै जोति ।
तहां कबीरा बंदगी, जहां पाप पुन्नि नहिं छोति ।५।
पंखि उड़ानीं गगन कौं, पिंड रहा परदेस ।
पानीं पीया चंचु बिनु, भूलि गया यहु देस ।६।
पंजरि प्रेम प्रकासिया, जागी जोति अनंत ।
संसै खूटा सुख भया, मिला पियारा कंत ।७।
मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहूंचा जाइ ।
चांद बिहूनां चांदिना, तहां अलख निरंजन राइ ।८।
पांनीं ही तें हिम भया, हिम ही गया बिलाइ ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहा न जाइ ।९।
सुरति समानी निरति मैं, अजपा मांहैं जाप ।
लेख समाना अलेख मैं, यौं आपा मांहैं आप ।१०।
सच पाया सुख ऊपना, दिल दरिया भरपूरि ।
सकल पाप सहजैं गए, जब सांईं मिला हजूरि ।११।
कबीर देखा इक अगम, महिमां कही न जाइ ।
तेज पुंज पारस धनीं, नैंननि रहा समाइ ।१२।
नींव बिहूंनां देहुरा, देह बिहूंनां देव ।
कबीर तहां बिलंबिया, करै अलख की सेव ।१३।

देवल मांहीं देहुरी, तिल जेहा बिस्तार।
मांहैं पाती मांहि जल, मांहैं पूजनहार।१४।
कबीर तेज अनंत का, मांनौं ऊगी सूरिज सेनि;
पति संगि जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेनि।१५।
कबीर मन मधुकर भया, करै निरंतर वास।
कंवल ज फूला नीर बिनु, निरखै कोइ निज दास।१६।
अंतरि कंवल प्रकासिया, ब्रह्म बास तहां होइ।
मन भंवरा जहं लुबधिया, जांनैगा जन कोइ।१७।
साइर नांही सीप नहि, स्वाति बूंद भी नाहि।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिख्र गढ़ मांहि।१८।
घट मैं औघट पाइया, औघट मांहैं घाट।
कहै कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट।१९।
सूर समांनां चाद मैं, दुहूं किया घर एक।
मन का चेता तब भया, कछु पूरबला लेख।२०।
हद छांड़ि बेहद गया, सुन्नि किया असनांन।
मुनि जन महल न पावही, तहां किया बिसरांम।२१।
देखौ करम कबीर का, कछु पूरबला लेख।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख।२२।
पंजरि प्रेम प्रकासिया, अतरि भया उजास।
मुखि कसतूरी महमही, बानीं फूटी बास।२३।
सुरति समानीं निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुलि गया सिंभु दुवार।२४।
आया था संसार मैं, देखन कौ बहु रूप।
कहै कबीरा संत हो, परि गया नजरि अनूप।२५।
अंक भरे भरि भेटिया, मन नहि बांधै धीर।
कहै कबीर वह क्यौं मिलै, जब लग दोइ सरीर।२६।

जा दिन किरतिम नां हुता, होता हाट न बाट ।
हुता कबीरा रांम जन, जिन देखा औघट घाट ।२७।
हरि सगति सीतल भया, मिटा मोह तन ताप ।
निसि बासुर सुख निधि लह्या, जब अंतरि प्रगटा आप ।२८।
जा कारनि मैं जाइ था, सनमुख मिलिया आइ ।
धनि मैली पिउ ऊजला, लागि सकै नहिं पाइ ।२९।
तन भीतर मन मांनिया, बाहरि कतहुं न जाइ ।
ज्वाला तै फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ।३०।
तत पाया तन बीसरा, जब मनि धरिया घ्यान ।
तपनि मिटी सीतल भया, जब सुन्नि किया असनांन ।३१।
कबीर दिल साबित भया, फल पाया समरत्थ ।
सायर मांहि ढंढोरता, हीरै पड़ि गया हत्थ ।३२।
मन उलटी दरिया मिला, लागा मलि मलि न्हांन ।
थाहत थाह न आवई, तूं पूरा रहिमान ।३३।
मानसरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहि ।
मुक्ताहल मुक्ता चुगे, अब उड़ि अनत न जांहि ।३४।
गगन गरजि अम्रित चुवै, कदली कंवल प्रकास ।
तहा कबीरा बंदगी, कर कोई निज दास ।३५।
कबीर कवल प्रकासिया, ऊगा निरमल सूर ।
रैंनि अधेरी मिटि गई, बागे अनहद तूर ।३६।
कबीर सबद सरीर मैं, बिन गुन बाजै तांति ।
बाहरि भीतरि रमि रहा, तातैं छूटि भराति ।३७।
आकासै मुखि औंधा कूवा, पातालैं पनिहारि ।
ताका जल कोई हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि ।३८।
अब तौ मैं अैसा भया, निरमोलिक निज नांउं ।
पहिले कांच कबीर था, फिरता ठांवें ठांउं ।३९।

मन लागा उनमन्न सौं, उनमुनि मनहि विलंगि।
लौंन विलंगा पांनिया, पांनीं लौंन विलंगि।४०।
पारस रूपी नांम है, लौह रूप संसार।
पारस तें पारस भया, परखि भया टकसार।४१।

परिशिष्ट : टीका

पद

[१]

राम भक्ति के पैने तीर जिसे लगते हैं वही उनकी पीर जानता है। तन में खोजता हूँ तो कहीं चोट मिलती नहीं, फिर औषधि और जड़ी घिसकर कहाँ लगाऊँ ? सभी स्त्रियाँ (जीवात्माएँ) एक सी दीखती हैं, पति (परमात्मा) को न जाने कौन प्यारी है ? कबीर कहता है, जिसके माथे पर सौभाग्य लिखा है, सब को छोड़ उसी को सुहाग मिलता है।

भाइ < भाँति = प्रकार।

[२]

राम के बिना शरीर का ताप नहीं जा रहा है, क्योंकि जिस जल में मेरा निवास है उस जल मे जोरों से आग उठी हुई है। हे राम, तू जलनिधि है और मैं जल की मछली हूँ। जल मे ही रहती हूँ किन्तु उसी के बिना क्षीण होती जा रही हूँ अर्थात् तुम्हारे साथ रहते हुए भी तुम्हारे बिना दुखी हूँ। तूं पिंजरा है और मैं उसमें रहने वाला शुक हूँ,अतः यम रूपी बिलाव मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? तू सद्गुरु है ओर मैं नौसिखुवा चेला हूँ। कबीर कहता है कि अब दुःख चरमावस्था पर पहुँच गया है, इस अंतिम समय में तो आकर मिल जाओ।

मंजार (सं० मार्जार) = बिलाव। नौतनु = नूतन, नौसिखुवा।

[३]

ऐ गोकुल नायक विट्ठल, मेरा मन तुझमें लगा है। बहुत दिन बिछड़े हो गए (आत्मा को परमात्मा से विलग हुए बहुत दिन हो गए), अब तेरी याद आ रही है। करोड़ों कर्मों माने शरीर या जगत् को रहने का घर बनाया और निर्मोही (माया) में आस लगाई, इस प्रकार मैंने स्वयं अपने आपको बँधा दिया और मेरे दोनों नेत्र तुम्हारे दर्शन के लिए प्यासे तड़प रहे हैं। अपने और पराए को समान दृष्टि से देखे तो सब समान दीखता है (अर्थात् कहीं विषमता नहीं

दिखाई देती अथवा फिर वह परमात्मा सर्वत्र समान रूप से दिखाई देता है)। इसी मनस्थिति से नरहरि को पाया जाता है, इसलिए तू कपट और अहंकार छोड़ दे। न कहीं जाना चाहिए और न सिर पर पुस्तक-ज्ञान का बोझ लेना चाहिए, घर बैठे ही श्रीरंग सारंगधर के नाम स्मरण का रसास्वाद करना चाहिए और उस पर मनन करना चाहिए। साधन से सिद्धि पाई जाती है, वह भी, संभव है, मिले या ना मिले; किन्तु यदि दृढ ज्ञान न उत्पन्न हो तो कोई दुःखी हो मरे न (निराश न हो)। एक युक्ति से एक ही वस्तु मिलती है—या तो योग ही, या भोग ही। किन्तु राम नाम की सिद्धि में योग और भोग दोनों का संयोग है। तुम यह मत समझो कि यह कोई साधारण गीत है, यह हमारा ब्रह्मविचार या 'दर्शन' है। हमने केवल आत्म-साधना का सारतत्व कह कर समझाया है। राम का नाम और गुण गा-गा कर उनके चरण कमल में चित्त लगाना चाहिए; कबीर कहता है कि इस प्रकार तुम निश्चय ही भुक्ति और मुक्ति दोनों पावोगे।

औसेरि<सं० अव+स्मृ=विलम्ब के कारण उत्पन्न हुई विकलता, चिंता, याद—तुल० तुलसी, मानस अयोध्या० ७-६ : भए बहुत दिन अति अवसेरी।

होइ म होइ—हो या न हो (=अपभ्रंश का नकारात्मक अव्यय, तुल० साखी २-६ : रह्न रे सख म झूरि)।

अहटि=दु.खी होकर, तुल० पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ६४ : अह (देशज) =दुःख; तथा 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' (रामचन्द्र वर्मा सपादित), पृ० १०७ : अहटाना-अक्रि० (सं० आहत) दुखना। भुगुति मुकुति गति पाइ रे—भागवत धर्म की सबसे बडी विशेषता उसका भुक्तिमुक्तिप्रद होना है। बौद्धों का निर्वाण पथ केवल मुक्तिधर्म था किन्तु भक्ति में परलोक और जीवन का—मुक्ति अर्थात् भोग और मुक्ति अर्थात् मोक्ष दोनों का समन्वय है। कौलमार्गी का भी दावा है कि उसका मार्ग योगमार्ग की अपेक्षा सहज है, तुल० रुद्रयामल—

यत्रास्ति भोगो न तु यत्र योगो यत्रास्ति मोक्षो न तु तत्र भोगः।
[illegible]न्दरी साधक पुङ्गवानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

(नाथ-संप्रदाय पृ० ७० पर हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा उद्धृत)। कबीर का आशय भी यहाँ भुक्ति-मुक्ति लाभ का ही समझ पड़ता है, क्योंकि ऊपर उन्होंने राम नाम को भोग और योग दोनों का मूल कारण माना है जो उनके अनुसार अन्य साधनों के द्वारा असम्भव है। इसलिए मैंने 'भगति' (जो सभी प्रतियों में है) के स्थान पर अपनी 'कबीर-ग्रंथावली' में 'भुगुति' पाठ-संशोधन का सुझाव दिया है।

विशेष—कबीर का यह पद बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने स्वतः इसे साधारण गीत न मानकर 'निज ब्रह्म विचार' माना है। उनका आग्रह वस्तुतः सहज भक्ति के लिए है जिसमें अपने-पराए का भेद मिटाकर, समरस भाव से, अहंभाव का परित्याग कर राम नाम का स्मरण और आत्मचिंतन अपेक्षित है—शास्त्रज्ञान अथवा तीर्थाटन आदि नहीं।

काव्यसौंदर्य की दृष्टि से भी यह पद उत्कृष्ट कोटि का है। प्रथम दो पंक्तियों मे 'औसेरि' का प्रसंग है, इसलिए 'बीठुला' (=प्रिय) संबोधन है। 'गोकुल नायक' से इंद्रियों अथवा पृथ्वी या काया के स्वामी का अर्थ भी लिया जा सकता है। 'दोइ लोचन मरहि पियास' से विरह-वेदना की अत्यधिक तीव्रता अभिव्यंजित होती है। जो प्रह्लाद की तरह अपने-पराए का भेद मिटाकर सर्वत्र अपने प्रभु के दर्शन करता है वही 'नरहरि' (नृसिंह) को भेंट सकता है; क्योंकि हिरण्यकशिपु के यह पूछने पर कि ईश्वर क्या खम्भे मे हो सकता है—प्रह्लाद ने उसे खम्भे मे भी बताया और वहीं से नृसिंह का प्राकट्य भी हुआ। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कबीर ने कई स्थलों पर प्रह्लाद को आदर्श भक्त कहा है। रस के प्रसग में उन्होंने श्रीरग और सारंगधर का उल्लेख किया है। इसी प्रकार सभी ईश्वरपरक नाम सप्रोजन और व्यंजनापूर्ण हैं। इन्हीं गभीर व्यंजनाओं के कारण उन्होंने 'तुम्ह जनि जांनहु गीत है' की चेतावनी दी है। 'मसि कागद' न छूने वाले 'जुलाहे' की ध्वनि और व्यंजनापूर्ण ये काव्योक्तियाँ उनके लिए चुनौती के रूप में हैं जो उनके काव्य में कोई उत्कृष्टता नहीं पाते।

[४]

हरि मेरे पति हैं और मैं हरि की बहुरिया हूँ। राम बड़े हैं और मैं उनसे

तनिक लहुरी या छोटी हूँ। उनसे मिलने के लिए मैंने शृंगार किया किन्तु संसार के प्राणाधार मेरे स्वामी मिले नहीं। कितनी विडम्बना है कि पति-पत्नी (परमात्मा-जीवात्मा) एक ही साथ एक ही सेज (शरीर) पर रहते हुए भी मिल नहीं सकते। वह सुहागिन (जीवात्मा) धन्य है जो प्रिय (परमात्मा) को अच्छी लगे। कबीर कहता है कि वह इस संसार में फिर जन्म नहीं लेती अर्थात् वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाती है।

लहुरिया=लघु+डी+इया—अवस्था में छोटी। जीव और ब्रह्म समान हैं, उनमें केवल अंश और अंशी का अंतर है, इस दार्शनिक तथ्य को कबीर ने सरस शैली में प्रस्तुत किया है।

धनि=धन्या, स्त्री। दुहेरा=दुर्लभ्य, कठिन।

[५]

कबीर ने तनना बुनना छोड़ दिया है और शरीर पर राम नाम लिख लिया है। कबीर की माता ठगी-ठगी सी रो रही है कि ऐ खुदा, यह बालक अपना धन्धा छोड़कर किस प्रकार जिएगा? किन्तु कबीर का कहना है कि जब तक मैं नली के छेद में तागा डालता हूँ तब तक स्नेही राम भूल जाता है। कबीर कहता है—मेरी माँ, सुनो हमारा भरण पोषण करने वाला त्रिभुवन का स्वामी है।

मुसि मुसि=मुषित मुषित, ठगी-ठगी। बारिक=बालक।

वाहौं=डालूं। वेही (सं० वेध)=छिद्र

विशेष—इस पद से कबीर पर वैष्णव भक्ति का प्रभाव सिद्ध होता है। वैष्णव भक्त रामनामी दुपट्टा ओढ़ते हैं और अपने शरीर पर चन्दन से 'राम राम' लिख लिया करते हैं। 'राम नाम लिया शरीर' द्वारा इसी ओर संकेत किया गया है। किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण संकेत 'जब लगि तागा वाहौं वेही' में है। कबीर ने एकाधिक स्थलों पर नारदी भक्ति के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त किया है, यथा—'भगति नारदी हिरै न आई काछि कूछि तनु दीनां'। नारद 'भक्ति सूत्र' के रचयिता हैं और उन्होंने अपनी भक्ति पद्धति का

विवेचन करते हुए अन्य आचार्यों की तुलना में अपने सिद्धान्त की विशेषता दो बातों में परिलक्षित की है। उनका कथन है—

नारदस्तु तदर्पिताऽखिलाचारिता तद्विस्मरणे व्याकुलतेति च ॥

अर्थात् नारद के अनुसार भक्ति के दो प्रधान लक्षण हैं—एक तो अपने समस्त कार्य व्यापारों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना और दूसरा उसके विस्मरण में व्याकुलता का अनुभव करना। प्रस्तुत पद में इन्हीं दोनों विशेषताओं का चित्रण है। 'कबीर तनना बुनना छोड़कर भगवद्भक्ति में तल्लीन हो जाते हैं—यह 'तदर्पिताऽखिलाचारिता' हुई। ढरकी के छेद में सूत डालते समय ध्यान उसमें केन्द्रित करना पड़ता है और राम से कुछ समय के लिए नाता तोड़ लेना पड़ता है। यह क्षणिक वियोग भी उन्हें असह्य है—यह हुई 'तद्विस्मरणे व्याकुलता'।

'ए बारिक कैसे जीवहि खुदाई' से कुछ लोग यह अनुमान लगाते हैं कि कबीर के बाल-बच्चे थे जिनके लिए उनकी माता पश्चात्ताप कर रही है किन्तु वस्तुतः माँ यहाँ कबीर के लिए ही खीक रही है और उन्हीं को 'बारिक' कहती है। पुत्र चाहे जितना बड़ा हो जाय, माँ के लिए वह 'बारिक' (बालक) ही होता है।

[६]

ऐ बाबा, मैं राम का नाम नहीं छोड़ूँगा। मुझे और कुछ पढ़ने से कोई सरोकार नहीं। प्रह्लाद को पाठशाला भेजा गया, जहाँ वे अनेक बाल सखाओं को संग लेकर गये। किन्तु वहाँ अपने गुरु से कहा कि मुझे क्या व्यर्थ का जंजाल पढ़ा रहे हो, मेरी पाटी पर केवल श्री गोपाल का नाम लिख दो। उनके गुरु षंडामर्क ने जाकर यह सारा विवरण बताया तो दूत दौड़कर शीघ्र प्रह्लाद को बुला लाये। तब उनके पिता हिरण्यकशिपु ने कहा कि 'तू राम कहने की बान छोड़ और मेरा कहना मान, तो तुझे तुरन्त मुक्त कर दूँ।' प्रह्लाद ने कहा, 'मुझे क्या बारंबार सताते हो? प्रभु ने जल, थल, गिरि, पहाड़ सभी कुछ बनाया है। ऐसे समर्थ राम को अगर मैं छोड़ दूँ तो मेरे गुरु को गाली लगेगी अर्थात् ऐसा करना उन्हें अपशब्द कहने के समान होगा क्योंकि मेरे गुरु ने ही मुझे बतलाया है कि प्रभु सर्वसमर्थ है। मुझे चाहे जला डालो, चाहे मार डालो (लेकिन मैं राम का आश्रय नहीं छोड़ सकता)। इस पर क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपु ने तलवार निकाली

और कहा, 'मुझे बता, तुम्हारा रक्षक कौन है ?' इसी समय नृसिंह गर्जन कर खंभे में प्रकट हुए और उन्होंने हिरण्यकशिपु को अपने नखों से विदीर्ण कर मार डाला। इस प्रकार परम पुरुष देवाधिदेव को भक्ति के कारण नृसिंह रूप में प्रकट होना पड़ा। कबीर कहता है कि इस रहस्य का कोई पार नहीं पाता कि प्रभु प्रह्लाद का केवल एक बार नहीं बल्कि अनेक बार उद्धार करता है।

गिलारि—*किलकारि* > *किलआरि* > *गिलआरि* > *गिलारि* = किलकारी मार कर या गर्जना कर। तुल० *कुमारमणि शास्त्री, 'रसिक रसाल'*—आए नहीं घनश्याम सखी अब मोर मलार वसारन लागे।

विशेष—कबीर ने प्रह्लाद की नामनिष्ठा के प्रतिपादन के लिए उस पौराणिक आख्यान का आधार लिया है जिसमें नृसिंह के प्राकट्य का वर्णन मिलता है। इससे यह भ्रम होता है कि कबीर यहाँ पौराणिक अवतारवाद की ओर कुछ झुकते हुए हुए जान पड़ते हैं, किन्तु पद की अन्तिम पंक्ति में उन्होंने अपनी निर्गुण विचारधारा स्पष्ट कर दी है जहाँ उन्होंने कहा है कि वह नित्य अनेक प्रह्लादों का उद्धार करता रहता है—पुराणों में तो केवल एक प्रह्लाद के उद्धार का वर्णन है। तात्पर्य यह कि कबीर का लक्ष्य मुख्यतया इस आख्यान के आध्यात्मिक तत्त्व की ओर है। कबीर के परवर्ती अन्य सन्त कवियों ने भी एकांत निष्ठा के प्रसंग में प्रह्लाद के इस आख्यान का आधार ग्रहण किया है। अडिग निष्ठा के ही कारण कबीर को साम्प्रदायिक साहित्य में प्रह्लाद का अवतार तक मान लिया गया है।

[७]

हे राम, एक झगड़े का निपटारा करो, अगर तुम्हें अपने सेवक से कुछ भी सरोकार है। ब्रह्मा बड़ा है कि वह जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया ? वेद बड़ा है या वह जहाँ से वेद आया ? यह मन बड़ा कि वह जिसे मन मान जाय; राम बड़ा है कि यह भक्त जो राम को जानता है ? कबीर कहता है, मैं यह सोच-सोच कर खिन्न हो रहा हूँ कि तीर्थ बड़ा होता है कि हरि के भक्त, जो तीर्थ का निर्माण करते हैं।

निबेरहु > सं० नि + वृत् = निपटारा करो, फ़ैसला करो।

उपाया > प्रा० उप्पाय > सं० उत् + पादय् = उत्पन्न किया।

तीर्थाटन का वाह्याचार के रूप में खंडन करना ही वस्तुतः कबीर का यहाँ मुख्य उद्देश्य है, जिसके लिए उन्होंने अकाट्य तर्कों की शृंखला प्रस्तुत की है। कबीर ने इस प्रकार की शैली अनेक स्थलों पर अपनाई है। इससे उनका पुष्ट आत्मविश्वास झलकता है।

[८]

हरि के भक्त हंस की दशा में विचरण करते हैं अर्थात् हंस का-सा आचरण करते हैं। वे प्रभु के निर्मल नाम का उच्चारण करते हैं और उनका यशोगान करते हैं। वे मानसरोवर (मानस सरोवर) के तट पर निवास करते हैं, उनका चित्त राम के चरणों में लगा रहता है, अन्य वस्तुओं की ओर से वे उदासीन रहते हैं। मुक्ताफल (मुक्ति) के अतिरिक्त वे किसी वस्तु पर चोंच नहीं लगाते। या तो मौन ग्रहण किये रहते हैं या परमात्मा की गुणावली का गान करते हैं। कुबुद्धि का काग जिसके निकट नहीं आ सकता, ऐसा ही हंस निजस्वरूप का दर्शन प्राप्त कर सकता है। कबीर कहता है, वही तेरा सच्चा दास है जो हंस की तरह क्षीर-नीर या अच्छे-बुरे का निपटारा कर ले।

हंस दसा = हंस पक्षी अथवा संसार से विरक्त परमहंस की दशा।

चवै = बोलता है। तुल० 'नानक-वाणी' असटपदीया ३-४ : झूठे वैण चवै कामि न आवए जीउ।

मांनसरोवर तट के बासी—राजहंस हिमालय में मानसरोवर के तट पर रहते हैं, सर्दियों में जब वहाँ वर्फ़ जम जाती है तब वे दक्षिण की ओर मैदानों में चले आते हैं और ग्रीष्मारंभ में पुनः हिमालय की ओर चले जाते हैं—ऐसा प्रसिद्ध है। दूसरे पक्ष में हरिभक्त मानस-सरोवर या हृदय-सरोवर के निकट रहता है अर्थात् मनःसाधना करता है।

हंसों के सम्बन्ध में दो अन्य कवि-समय भी हैं : पहला यह कि वे केवल मोती चुगते हैं और दूसरा यह कि पानी मिले दूध में से वे दूध छानकर अलग कर लेते हैं। रूपक के अनुसार मुक्ता मुक्ति या मोक्ष है और क्षीर-नीर गुण-अव-

गुण या ज्ञान-अज्ञान है। रंग-रूप तथा प्रकृति आदि की दृष्टि से हंस और काग का विरोध भी प्रसिद्ध है।

[९]

वह वैकुंठ न जाने कहाँ है जहाँ चलने को सब कोई कहते हैं? एक योजन की तो परिमिति नहीं जानते, बातों में ही वैकुंठ का वर्णन किया करते हैं जो न जाने कितने योजन दूर यहाँ से है। किन्तु जब तक मन में वैकुंठ की आशा है अर्थात् किसी भी प्रकार की आसक्ति है (चाहे वह मुक्ति की ही क्यों न हो), तब तक हरि के चरणों में निवास नहीं हो सकता। कहने-सुनने से क्या प्रतीति की जाय जब तक कि वहाँ (वैकुंठ) स्वतः न जाया जाय। कबीर कहता है, यह किससे कहा जाय कि साधु-संगति वैकुंठ ही तो है।

परिमिति = परिमाण, सीमा। एक योजन परिमाण में क्या कैसा है इसका भी पता लगाना मुश्किल है। इसी को कबीर ने 'जोजन एक परिमित नहिं जानें' कहा है।

पतिअइऐ > प्रा० पतिज्ज = प्रतीति की जाय, विश्वास किया जाय।

कबीर के अनुसार निष्काम भक्ति ही आदर्श भक्ति है, अतः भक्ति-मार्ग में किसी प्रकार की अभिलाषा त्याज्य है, चाहे वह वैकुंठ की ही क्यों न हो। इसीलिए मध्यकाल के भक्त कवियों ने भक्ति के समक्ष मुक्ति को भी ठुकराया है—तुल० तुलसी, मानस अयोध्या० दोहा १३१: जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु। तथा २०३: अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।

यदि वैकुंठ की आकांक्षा है तो साधु-संगति ही साक्षात् वैकुंठ है; क्योंकि वैकुंठ के बारे में तो केवल कल्पना ही की जाती है, सत्संग की महिमा तो स्वतः साक्षात् प्रमाणित है!

[१०]

जो राम के निर्मल-निर्मल गुणों का गान करता है वही भक्त मेरे मन को भाता है। जो दास राम का नाम लेते हैं, उनकी मैं बलिहारी जाता हूँ। जिसके शरीर (हृदय) में राम भरपूर समाए हुए हैं उनके चरण-कमलों की मैं धूल हूँ।

जाति का जुलाहा किन्तु धीर मति वाला कबीर सहज भाव से राम के गुणों में रमण करता है।

[११]

जिसके हृदय में राम के चरणों का निवास है, उसका मन क्यों डांवाडोल होगा ? ऐसे भक्त के पास मानों अष्ट सिद्धियाँ तथा नौ निधियाँ रहती हैं, वह (लौकिक ऐश्वर्यों की चिन्ता न कर) सहज ही राम का यशोगान करता है। ऐसा भाव यदि उत्पन्न हो जाय तो वह मन की सारी कुटिल गाँठें खोल देता है और बारंबार विषय-वासनाओं की ओर जाने से वर्जित कर, जो व्यक्ति अपने मन को संतुलित करता है वह जहाँ भी जाता है वहीं शांति प्राप्त करता है। उसे माया आन्दोलित नहीं कर सकती। कबीर कहता है कि मेरा मन राम प्रीति के आश्रय में पूर्णतया संतुष्ट है।

अठ सिधि—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व : ये प्रसिद्ध अष्ट सिद्धियाँ हैं। किंतु पुराणों की आठ सिद्धियाँ इस प्रकार है : अंजन, गुटका, पादुका, धातुभेद, वेताल वज्र, रसायन, योगिनी। सांख्य की आठ सिद्धियाँ हैं : तार, सुतार, तारतार, रम्यक, आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक।

नउ निधि—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील तथा खर्व : ये नौ निधियाँ हैं।

सचु=अभीष्ट, सुख-शान्ति, तुल० सच्चविय (देशज)=अभिप्रेत, इष्ट (पाइअसद्दमहण्णवो)।

ओलै=ओट मे, शरण मे (ओट>ओड़>ओल)।

[१२]

हे राम ! तेरा भक्त कोई एकाध ही होता है। जो काम-क्रोध-लोभ-मोह से परे हो उसी को महत्व की सच्ची पहचान हो सकती है। जो प्रशंसा तथा निंदा दोनों से मुक्त हो, मान-अपमान छोड़ दे, लोहा और सोना को समान दृष्टि से देखे वह साक्षात् भगवान् का ही प्रतिरूप है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण जो कहा जाता है वह सब तुम्हारी माया है। चौथी स्थिति (निस्त्रैगुण्यावस्था)

को जो भक्त समझे पहचाने वही परमपद पाता है। यदि चिंतन करे तो माधव रूप चिंतामणि का चिंतन करे जो समस्त चिंताओं से मुक्ति दिलाने वाला है और निरासक्त भाव से परमपद का रमण करे; क्योंकि जो चिंता और अभिमान से रहित होता है, कबीर कहता है कि, वही सच्चा सेवक होता है।

बिबरजित > विवर्जित = निवारित, रहित, वंचित।

रजगुन तमगुन...आदि = तुल० भगवद्गीता—

त्रैगुण्यमेतद् जगत्सर्वं निस्त्रैगुण्यं भवार्जुन !

चिंतामणि = *समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाला एक कल्पित रत्न।*

उदासा = उदासीन, निरासक्त।

[१३]

ऐ बावले मन ! द्विविधा छोड़ दे क्योंकि अब तो (सती की भाँति) हाथ में सिंधौरा ले लिया—अब जलने-मरने से ही बनेगा। तात्पर्य यह कि जिस निष्ठा से सती जलने को निकलती है वैसी ही एकांत निष्ठा से तूने भी भक्ति का मार्ग अपनाया है जिसमें अपना उत्सर्ग करने से ही सिद्धि मिलती है। तू निरशंक हो जा और मगन होकर नाच। लोभ, मोह और भ्रम छोड़ दे क्योंकि वह सूरमा कैसा जो मरने से डरता है ? सती बर्तन-भाँड़े नहीं सँजोती (बल्कि अपने पति के साथ चिता पर जल जाती है)। लोक, वेद तथा कुल की मर्यादाएँ—यही गले के बन्धन हैं। सती होने के लिए जा रही स्त्री की भाँति यदि चिता की ओर आधा चल कर पीछे की ओर लौट पड़ोगे तो जगहँसाई होगी अर्थात् यदि प्रेम तथा भक्ति के मार्ग से विचलित होते हो और अपना उत्सर्ग नहीं करते तो लोकनिंदा होगी। यह समस्त संसार मैला है, पवित्र वही हैं जो राम का नाम लेते हैं। कबीर कहता है कि ऐ मन, तू भी राम का नाम मत छोड़, गिरते-पड़ते तू उस ऊँची जगह पर चढ़ता ही जा।

लीन्हों हाथि सिंधौरा—मध्ययुग में पति के मरणोपरान्त स्त्रियाँ जब सती होने के लिए चिता पर आरोहण करती थीं तो सोलहों शृंगार कर अपने सौभाग्य का चिह्न सिन्दूरपात्र हाथों में ले रखती थीं। उसके पश्चात् उनके सम्मुख जलने-मरने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं रहता था। कबीर का तात्पर्य है कि

भक्ति में भी ऐसी ही अडिग निष्ठा होनी चाहिए। निष्ठा के प्रसंग मे कबीर ने प्रायः सती और सूरमा का ही स्मरण किया है, जबकि तुलसीदास ने इस प्रसंग में प्रायः चातक का आदर्श प्रस्तुत किया है। प्रतीकों के इस चुनाव से दोनों कवियों की चिन्तन-पद्धति का अंतर स्पष्ट होता है।

सूचा = शुचि, पवित्र।

[१४]

अरे माई, बोलने का क्या कहा जाय ? बोलते-बोलते तो तत्व नसा जाता है (नष्ट हो जाता है)। बोलते-बोलते विकार बढता है, लेकिन बिना बोले विचार क्या किया जाय ? अच्छा यही है कि संत मिले तो कुछ कहा सुना जाय; असंत मिल जायँ तो चुप्पी साध लेनी चाहिए। ज्ञानी से बोलने में उपकारिता है, मूर्ख से बोलने में झखमारी होती है। कबीर कहता है, आधा भरा घड़ा (ज्ञान से रीता आदमी) बोलता है (बडबड़ाता है); भरा हो (पूर्ण ज्ञानी हो) तो कभी नही बोलता।

बोलत बोलत तत्त नसाई—केवल बोलने के लिए बोलने से अर्थात् कोरे शास्त्रार्थ से तत्व ओझल हो जाता है।

मस्टि—स० मृष्ट > प्रा० मट्ठ > देश्य अपभ्रंश 'मस्ट' = मौन; तुल० नानक-वाणी (डॉ० जयराम मिश्र), परमाती विभास १२-१ : मसटि करउ मूरखु जगि कहिआ (= 'चुप करो' मूर्ख ऐसा संसार भर से कहता है); पदमावत ७२-६ : अब कहना किछु नाही मस्ट भली पँखिराज। अवध के गाँवों में रोते हुए बच्चों को माताएँ अब भी 'मस्ट' या 'महट' मारकर सो जाने को कहती हैं।

उपकारी और **झखमारी** दोनों भाववाचक संज्ञाओं के रूप में प्रयुक्त हैं (तुल० 'मग़ज़मारी')।

[१५]

झूठे तन का क्या गर्व करता है, जो जब मर जाता है तो पल भर भी नही रहने पाता (मरते ही लोग शव को हटाने की बात सोचने लग जाते हैं)। खीर, खांड, घृत आदि से जिस शरीर को पाला पोसा, प्राण छूट जाने पर उसी को बाहर ले जाकर जलाते हैं। जिस सिर पर सँवार-सँवार कर पगड़ी बाँधते

थे, उस सिर को कौवे अपनी चोंच से सँवारते हैं (विद्रूप कर देते हैं)। दाह करते समय हाड़ ऐसे जलते हैं जैसे सूखी लकड़ी और केश ऐसे जलते हैं जैसे फूस की ढेरी। कबीर कहता है, प्राणी अब भी अर्थात् यह सब जानकर भी नहीं चेतता, तब तक यमराज का डंडा सिर पर आ बरसता है अर्थात् मृत्यु आ धमकती है।

गरबावै—गरबाना=गर्व करना।

रचि रचि=बहुत ध्यानपूर्वक या कारीगरी से, सँवार-सँवार कर।

कूरी—'कूरा' (=समूह, राशि) का स्त्रीलिंग रूप—सं॰ कूट > प्रा॰ कूड > हि॰ कूर, कूरा, तुलनीय पदमावत १६६-६ : बिनु जिय पिंड छार कर कूरा।

[१६]

गोविन्द का भजन करो, भूल मत जाओ क्योंकि मनुष्य-जन्म का यही लाभ है। गुरु की सेवा कर भक्ति कमाओ, यदि तुमने मानव शरीर प्राप्त किया है। जिस देह को देवता लोग भी चाहते हैं उस देह से तुम हरि की सेवा करो। जब तक जरा-रोग न आए, जब तक काल तुम्हारी काया को न ग्रसे, जब तक तुम्हारी वाणी हीन न पड़े तब तक, ऐ मन, तू शार्ङ्गपाणि राम का भजन कर। अब नहीं भजता है, तो ऐ भाई, कब भजेगा? क्योंकि जब अंत आवेगा तब तुझसे भजा न जाएगा। इसलिए अभी जो कुछ कर लो वही सारतत्व है, अन्यथा फिर इतना पछताओगे कि पार नहीं पावोगे। सेवक वह है जो सेवा में लगे, वही सेवक निरंजनदेव को प्राप्त करता है। गुरु से मिलकर उसके ज्ञानोपदेश से जिसके ज्ञान कपाट खुल गये हैं वह फिर जन्म नहीं धारण करता। यही तेरा अवसर है, यही तेरी वारी है। अपने घट के ही भीतर तू सोच-विचार ले। कबीर कहता है कि चाहे तू जीते, चाहे हारे, मैंने तो अनेक प्रकार से चिल्ला-चिल्ला कर समझा-बुझा दिया है।

लोचै=देखते हैं, वांछा करते हैं (लुच्=देखना)।

जब लगि हीन पड़ै नहिं बानीं—तुल॰ दादू पद ३

जब लगि जिभ्या वांणीं । तौ लौं जपि ले सारंगपांणीं ॥
जब पवनां चलि जावै । तब प्रांणीं पछितावै ॥

[१७]

जिस व्यक्ति ने राम की भक्ति नहीं की वह अपराधी जन्मते ही क्यों न मर गया ? जिस कुल में पुत्र ज्ञान-विचार करने वाला नहीं पैदा हुआ उस पुत्र की माता विधवा क्यों न हो गई ? गर्भ का मुंचन कर वह क्यों न बांझ हो गई जिसका पुत्र शूकर के समान कलियुग में दौड़ता फिरता है। कबीर कहता है कि मनुष्य कितना भी सुन्दर और स्वरूपवान हो किन्तु राम-भक्ति के बिना वह मैला-कुचैला और कुरूप ही है।

धुड़भुज = सुअर (विट = विष्ठा + भुज् = खाना)।

कुचिल = मैला-कुचैला (सं० कुचैल = जो मैले वस्त्र पहने हो)। तुलनीय मानस, अयोध्या० ७५, १-२—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई ॥
नतरु बाँझ भल बादि बियानी। राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥

[१८]

हे मन, व्यर्थ के लिए (अथवा उद्यम या जीविका के लिए) विवाद (बखेड़ा) न करना चाहिए, केवल अपनी अच्छी करनी करनी चाहिए। कुम्हार ने एक ही मिट्टी कमा कर विलेपन द्वारा उसमें अनेक रंग उरेहे, किसी में मोती मुक्ताहल लगा दिए, किसी मे व्याधि लगा दी (विधि कुलाल ने एक ही तत्व से अनेक नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि की और कर्मानुसार सब के भाग्य भी पृथक्-पृथक् बनाए)। किसी को उसने पाट-पाटांबर दिए, किसी को निवाड़ की शय्या दी। इसके विपरीत किसी को सड़ी-गली गोनरी या कथा भी नहीं दी और किसी को पुवाल की सेज दी। सूम को धन संचित करने को दिया, मूर्ख कहता है वह मेरा धन है, लेकिन जब यमराज का डंडा सिर पर लगता है तब क्षणमात्र में ही इसका निबटारा हो जाता है कि वास्तव में वह धन किसका है। कबीर कहता है, ऐ संतो, सुनो, *'मेरी' 'मेरी' करना मिथ्या प्रपञ्च है* (संसार में कुछ भी किसी का

नहीं) यहाँ तक कि मृत्यु के उपरांत शव का चिरकुट भी नोच-खसोट कर डोम ले जाता है और कटिसूत्र तथा कटि-वस्त्र तक यहीं छूट जाता है।

अहरखि—जिन प्रतियों में कबीर का यह पद उपलब्ध होता है, सभी में 'अहरखि' पाठ ही है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने इसके विभिन्न अर्थ सुझाये हैं—उदाहरणार्थ 'भोजन के लिए' (डॉ० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, परि०, पृ० १३२); हर्ष में पड़कर या दूसरे की देखा-देखी (पं० परशुराम चतुर्वेदी, पत्र द्वारा); अहं+रखि अर्थात् गर्वपूर्वक (श्री नरोत्तमदास स्वामी, पत्र द्वारा), अहर्निश (श्री पुष्पपाल सिंह; कबीर ग्रन्थावली सटीक, पृ० ३५३) आदि। किन्तु इन सुझावों के आधार क्या हैं, यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। इसलिए मैंने 'कबीर-ग्रन्थावली' में इस पाठ को ग्रहण करते हुए भी यह सुझाव दिया है कि कदाचित् मूल पाठ 'आहर कहँ' या और 'अहरखि' उसी का विकृत रूप है। किन्तु 'आहर' शब्द का प्रयोग भी विरल ही है। कुछ स्थल इस सम्बन्ध में विशेष रूप से तुलनीय हैं; यथा—

(क) आहर सभि करदा फिरै, आहरु इकु न होइ।
नानक जितु आहरि जगु ऊधरै, विरला बूझै कोइ॥

—गुरु अर्जुनदेव, गुरुग्रन्थ साहब, पृ० ९३५।

यहाँ इसका अर्थ उद्यम ज्ञात होता है। तुलनीय—वी० एस० आप्टे : संस्कृत-इङ्गलिश-डिक्शनरी, 'आहर' (संज्ञा)=अकाम्प्लिशिंग, परफ़ार्मिंग (पृ० ९१)।

(ख) कत तप कीन्ह छाँड़ि कै राजू।
आहर गएउ न भा सिधि काजू॥

—जायसी : पदमावत डॉ० माताप्रसाद गुप्त-सम्पादित, छन्द २०४-६।

(ग) जेइं जग जनमि न तोहि पहिचानां।
आहर जनम मुएं पछितानां॥

—मझन : मधुमालती, डॉ० मा० प्रा० गुप्त-सम्पादित छन्द ५-१।

'हिन्दी शब्दसागर' में 'पदमावत' में प्रयुक्त 'आहर' का उदाहरण देकर इसे सं० अहः (=दिन) से व्युत्पन्न बताया गया है और इसका अर्थ 'समय' दिया

गया है। किन्तु यह व्युत्पत्ति सन्तोषजनक नही लगती। डॉ० माताप्रसाद जी ने 'मधुमालती' मे इसके बिकास का क्रम इस प्रकार दिया है : सं० अफल > प्रा० अहल > पुरानी हिन्दी 'आहर' (=निष्फल, व्यर्थ)। यही व्युत्पत्ति संतोषजनक प्रतीत होती है।

यहाँ 'आहर कहं' का 'व्यर्थ के लिए' अथवा 'जीविका के लिए' दोनों अर्थ सम्भव हैं।

बाद > सं० वाद = विवाद, बखेडा।

सुकृत भरना या 'करनी करना' मुहावरा है जिसका अर्थ है : सुकृत्य करना।

माटी कमाना भी मुहावरा है। मिट्टी भिगो कर और मल दल कर उसे पात्र या खिलौने आदि बनाने के योग्य सिद्ध करना या सिझाना। अन्य पेशे वाले भी 'कमाना' का प्रयोग विशिष्ट अर्थ मे करते हैं : जैसे नाई बाल कमाता (=बनाता) है, बढ़ई लकडी कमाता (छीलता) है। बांनीं > स० वर्ण = बर्तनो को पकाने से पूर्व विशेष प्रकार की मिट्टी से रँगना; दे० पाइअ० वण्ण = विलेपन की वस्तु या क्रिया (पृ० ७४२)।

मुकताहल > सं० मुक्ताफल। 'मोती' तथा 'मुकताहल' समानार्थी हैं; दोनों का एक साथ प्रयोग युग्म के रूप मे है, जैसे 'पेड़-रूख'।

पाट > सं० पट्ट = रेशम; यथा पदमावत २६१-६ : काँचे पाट भरी घुनि रुई। इसी से 'पाटाम्बर' (=रेशमी वस्त्र), 'पट्टदुकूल' (=पटोरा) तथा 'पट्टवायक' (=पटुवा या रेशमी वस्त्र का बुनकर) आदि शब्द बनते हैं। यहाँ 'पाट-पटंबर' भी युग्म के रूप में प्रयुक्त है।

पलंघ—स० पर्यङ्क > हि० पलग > पलंघ ('ग' का महाप्राण 'घ' मे परिवर्तन) = शय्या, सेज।

निवारा > फ़ा० नवार = मोटे सूत की बनी पट्टी जिससे पलंग बुनते हैं।

गरी = गली, सडी-गली। अवधी में 'ल' का प्रायः 'र' में पतिवर्तन हो जाता है, जैसे 'कली' का 'करी', 'कोलाहल' का 'कोराहर', 'फल' का 'फर' आदि।

गोंदरी > सं० गुन्द्रा (=घास विशेष)। पुवाल या कुश-कास से बनी हुई

चटाई को अवधी में 'गोंदरा' या 'गोंदरी' (अन्य रूप : गोनरा या गोनरी) कहते हैं। 'गूदड़ी' (=कंथा) के लिए भी 'गोंदरी' शब्द का प्रयोग होता है।

पयारा > सं० पलाल = धान आदि का सूखा डंठल ; पुवाल या पुराल।

मुगध > सं० मुग्ध = मूर्ख। छिन > सं० क्षण। चिरकुट > सं० चीर्ण + कूट (?) जीर्ण-शीर्ण वस्त्र।

चुहाड़ा—डोम, श्वपच (निकृष्ट जाति विशेष) जिसके लिए साहित्यिक हिंदी में *'चूहड़ा' शब्द प्रचलित है, किन्तु भोजपुरी में 'चुहाड़' रूप ही प्रचलित है।*

भोजपुरी में इसका पर्याप्त अर्थ-विकास हो गया है, जिसके परिणामस्वरूप मुसहर आदि के लिए भी 'चुहाड' शब्द का प्रयोग होता है और प्रायः 'चोर चुहाड़' इस प्रकार का युग्म प्रचलित है।

'गुरु ग्रंथ साहब' में 'चटारा' तथा अन्य प्रतियों में 'चूहड़ा' पाठांतर थे। 'चटारा' प्रस्तुत प्रसंग में निरर्थक है, किन्तु उसकी विकृति की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए 'चुहारा' जैसा कोई शब्द ही मूल प्रति में होना चाहिए, इस बात का संकेत मिल जाता है। इसी संभावना के आधार पर मैंने 'चूहड़ा' पाठ, जो अधिक प्रचलित है, ग्रहण न कर उसका क्लिष्टतर रूप 'चुहाड़ा' ही रखा था जिसकी उपयुक्तता अब भोजपुरी रूप की ठीक पहचान हो जाने पर निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है।

तनीं तागरी—रीति तथा कृष्ण-काव्य में 'तनी' और 'तागड़ी' क्रमशः चोलीबन्द और करधनी के अर्थ में बहुत प्रयुक्त हुए हैं ; जैसे—सोहत चोली चारु तनी' (परमानन्ददास, पृ० ३७६) अथवा, 'अंजन नैन तिलक सेंदुर छबि चोली चारु तनी' (कुंभनदास, ३१७)। भूषण ने चोली के ही अर्थ में इसका प्रयोग किया है, यथा : 'तनियां न तिलक सुथनियाँ पगनिया न घामैं घुमरात छोड़ि सेजिया सुखन की।' किन्तु कबीर के प्रयोगों से ध्वनित होता है कि उन्होंने इन दोनों वस्तुओं का उल्लेख केवल स्त्रियों के वस्त्राभूषण समझ कर नहीं, प्रत्युत् पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले उपादान समझ कर किया है, और इस बात के प्रमाण अन्यत्र भी मिलते हैं। मिर्जा खां इब

'तुहफ़तुल हिन्द' नामक हिन्दी-फ़ारसी कोश में, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफ़िस लायब्रेरी, लन्दन से कुछ समय पूर्व प्रयाग विश्वविद्यालय के शोधछात्र श्री अचलानन्द जखमोला के निमित्त यहाँ की लायब्रेरी में आई थी, पृ० २२८ ए पर 'तनी' शब्द के लिए 'बंदजामा व अम्साले आँ बुवद' टिप्पणी दी हुई है, जिससे ज्ञात होता है कि यह वन्दजामा की तरह का कोई वस्त्र था जिसे पुरुष भी धारण करते थे। तुलसी ने 'तनिया' को स्पष्ट रूप से कटि भाग का वस्त्र बताया है—

तनिया ललित कटि, विचित्र टिपारो सीस,
मुनि मन हरत बचन कहै तोतरात।

तथा 'कनक रतन मनि जटित रटत कटि किंकिन कलित पीत पट तनियाँ।'
—गीतावली : बैजनाथ-सम्पादित, नवलकिशोर प्रेस, पृ० ६६।

तागड़ी या कटिसूत्र पहले पुरुष भी पहना करते थे। हर्ष ने प्राग्ज्योतिषेश्वर के दूत हंसवेग को 'मोतियों से बना हुआ परिवेश नामक कटिसूत्र और माणिक्य-खचित तरङ्गण नामक कर्णाभरण एवं बहुत-सा भोजन का सामान भेजा था।' (हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १७१ पर उद्धृत)। शव को जलाते समय उसे समस्त बन्धनों से मुक्त कर देते हैं, अतः अन्तिम समय तनी-तागड़ी भी उतार लेते हैं—यही कवि का मूल भाव है। दुर्बोधता के कारण ही विभिन्न प्रतियों में इसके अनेक पाठान्तर मिलते हैं। उदाहरणार्थ, 'गुरुग्रन्थसाहब' में 'तरी तागरी' (प्राचीन नागरी मे 'न' और 'र' एक से होते थे, कदाचित् इसी भ्रम से 'तनी' के स्थान पर 'तरी'), दादूपन्थी पोथी मे 'तणी तणगती', निरञ्जनी-सम्प्रदाय की पोथी में 'तड़ी तागड़ी' इत्यादि। प्रस्तुत प्रसंग मे कबीर द्वारा प्रयुक्त 'तनी' तुलसी के 'तनिया' के अधिक निकट प्रतीत होता है। अतः 'तनी तागरी' का अर्थ यहाँ कछनी और कटिसूत्र अधिक उपयुक्त जंचता है।

इस पद मे कबीर ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जो अब प्रचलित नहीं है और जिनकी ठीक पहचान भी अब कठिन हो गई है। जन-जीवन में कबीर की कितनी गहरी पैठ है, यह शब्द इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। इस प्रकार के

कुछ शब्दों पर मैंने अन्यत्र विचार किया है (दे० हिंदुस्तानी, जनवरी-मार्च,' ६३ में 'कबीर द्वारा प्रयुक्त कुछ गूढ़ और अप्रचलित शब्द' शीर्षक निबंध)।

[१६]

ऐ भाई, कबीर के दोस्त विरले ही हैं; यह बात बार-बार किससे कही जाय ? मंजन, सृजन और पोषण में जो समर्थ प्रभु है, वह जैसे रखे वैसे रहना चाहिए। सारा आलम, सारी दुनिया घूम-फिरकर खोजी, हरि के बिना सभी अज्ञानी हैं। छः दर्शन और उनसे सम्बद्ध छ्यानवे पाषण्डपूर्ण सम्प्रदाय उसी के लिए व्याकुल हैं, किन्तु इनमें से कोई उसे जान न पाया। जप, तप, संयम, पूजा, अर्चा और ज्योतिष में ही सारा संसार बावला बना रहता है। कागज़ अर्थात् पुस्तक लिख-लिखकर जगत् भ्रम में पड़ा रहता है, किन्तु मन की ही आन्तरिक साधना अर्थात् स्वानुभूति से उस परमात्मा को नहीं प्राप्त करता। कबीर कहता है, योगी और जंगम आदि सभी झूठी आशा में बँधे रहते हैं। (बाह्याचारों के इस जंजाल को छोड़ कर) राम का ही नाम चातक की तरह रटो तो निश्चय ही भक्ति में तुम्हारा निवास हो जायगा।

आलम दुनीं=संसार। दोनों समानार्थी शब्द हैं और युग्म के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

छह दरसन पाखंड छ्यानवे—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा (पूर्व मीमांसा) तथा वेदान्त (उत्तर मीमांसा) ये भारत की छः प्राचीन दर्शन-पद्धतियाँ मानी जाती हैं। किन्तु कबीर के समय योगी, जंगम, सन्यासी, ब्राह्मण, दरवेश (शेख) और सेवड़ा (जैन) ये षड्दर्शन माने जाते थे। संत साहित्य में एक द्विपदी इस प्रकार प्रचलित है—

दस संन्यासी बारह योगी, चौदह शेख बखान।
ब्राह्मण अठारह अठारह जंगम, चौबिस सेवड़ा प्रमाण ॥

अर्थात् गिरि, पुरी, भारती आदि दस संन्यासी, नाथ, औघड़, गोसाईं आदि बारह योगी; जलाली, मलाली, जिन्दाशाह आदि चौदह प्रकार के दरवेश; पंच-गौड़ादि अठारह प्रकार के ब्राह्मण, गले में अठारह प्रकार के लिंग धारण करने वाले अठारह जंगम और ऋषभदेवादि चौबीस तीर्थंकर जैनियों के—इस प्रकार

छः दर्शनों के छ्यानवे सम्प्रदाय हुए। आगे कबीर ने 'जोगी अरु जंगम' का उल्लेख भी किया है जिससे जान पड़ता है कि वे इन्हीं को षड्दर्शन जानते थे।

मन ही मन न समानां—कबीर का तात्पर्य है कि लोग पुस्तक ज्ञान को ही महत्व देते हैं, मनःसाधना को महत्व नही देते जिससे वस्तुतः परमात्मा मिलता है।

[२०]

अरे बाबा, माया-मोह ने हमें मोहित कर रखा है जिससे उसने मेरा ज्ञान-रत्न अपहृत कर लिया। संसार में जीवन ऐसा है जैसा स्वप्न होता है—सचमुच जीवन स्वप्न के समान होता है। ऐसे क्षणभंगुर जीवन को सच समझ कर हमने उसे गाँठ में बाँध लिया अर्थात् यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करने में लग गये और परम निधि (परमात्मा) को छोड़ दिया (जिसकी वस्तुतः रक्षा करनी चाहिए थी)। आंखों से देखते हुए भी पतिंगा लौ में उलझ जाता है, वह मूर्ख आग को नही देखता। उसी प्रकार मूर्ख आदमी कनक-कामिनी के आकर्षण में काल का बन्धन नही चेतता। विचार कर तू काम, क्रोध आदि विकारों को छोड़। इसी से तुम्हारा तरन-तारन होगा। कबीर कहता है, ऐ मनुष्य, तू भगवान का भजन कर, दूसरा कोई नही है।

[२१]

फूले-फूले क्या घूम रहे हो ? दस मास जब माता के गर्भ में उल्टे मुँह लटके रहते थे सो दिन अब क्यों भूल गए ? यदि जलाया जाय तो यह शरीर राख हो जाता है, अगर रखा जाय (गाड़ा जाय) तो उसे कृमिदल खा जाते हैं। कच्चे घड़े मे जैसे पानी भर दिया गया और वह विलीन हो गया, इस शरीर की भी इतनी ही बड़ाई है। जैसे मधुमक्खी शहद का उपभोग नही कर पाती है (उसका केवल संचय करने मे ही लगी रहती है) वैसे ही तूने भी जोड़-जोड़कर धन इकट्ठा किया, लेकिन मरने के बाद लोग 'ले जाओ' 'ले जाओ' कहने हैं, मृत को घर में भला क्यों रहने देंगे ? मरने के बाद देहली तक तो परिणीता पत्नी साथ देती है, आगे थोड़ी दूर तक सुहृद सज्जन साथ देते हैं, मरघट तक सब लोग साथ देते हैं—आगे हंस (आत्मा) अकेला ही जाता है। ऐ प्राणी, तू राम का भजन नहीं

करता, मोह मे क्यों माता है और कालवश कुएँ में क्यों गिर रहा है ? कबीर कहता है, मनुष्य ने अपने को आप ही बँधा दिया है जैसे ललनी के भ्रम में सुग्गा अपने को बँधा देता है।

उरधि मुख>ऊर्ध्वमुख=उताने मुख (गर्भ में भ्रूण इसी प्रकार रहता है)। जब शरिलै.....आदि—कुछ लोग शव को जलाते हैं, कुछ गाड़ते हैं। पहली प्रक्रिया मे शरीर राख हो जाता है, दूसरी में उसे कीड़े खाते हैं। सहत=शहद, मधु। बिहुरै—सं० वि०+अव+ 'हृ' धातु=व्यवहार में लाना, उपभोग करना। बरो=वरण की हुई, व्याही। मुहेला>सं० सुहृद (?)=मित्र, सखा। मरहट=मरघट<श्मशान। ललनी<सं० नलिनी =नली, तोता फँसाने की नलिका, तुल० सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कौने पकर्यौ। तोतो को फँसाने के लिए बधिक रस्सी तानकर उस पर एक विशेष प्रकार की नली लगा देते हैं जिस पर बैठा तोता चिड़ीमार की युक्ति से उलट जाता है। उलट जाने पर वह अपने पंजों से नरसल को अधिक दृढ़ता से पकड़ लेता है। इसी भ्रम में पड़े तोते को चिड़ीमार पकड़ लेता है। 'ललनी' को कुछ टीकाकारों ने सेमर की लाल कली भी बताया है जिसपर तोता आसक्त रहता है, किन्तु यह उपयुक्त नहीं।

[२२]

ऐ मन, एक भी काज इसलिए नहीं सिद्ध हुआ कि तूने रघुपति राजा का भजन नहीं किया। (कर्मकाण्डप्रधान) वेद, पुराण आदि सभी ग्रन्थों का मत सुनकर तूने कर्मों से मुक्ति की आशा की, किन्तु उन सभी सयाने लोगों को जब काल ग्रास लेता है तब लोग पंडित के शास्त्र-ज्ञान से निराश होकर उससे विमुख हो जाते हैं। वन-खंड मे जाकर योग और तप किया, कन्दमूल चुन-चुनकर खाया, इस प्रकार नादी, वेदी, शब्दी और मौनी आदि अनेक प्रकार के साधकों ने यम के पट्टे लिखाए। नारदी भक्ति हृदय में आई नहीं, व्यर्थ की कृच्छ्र साधना मे शरीर खपाया। (कीर्तन करने वालों को) राग रागिनी का ही दंभ हो बैठता है, उन्हें परमात्मा के यहाँ से क्या मिलेगा ? सारे संसार पर काल का पहरा है और उसकी सूची में सभी मिथ्या ज्ञानियों के नाम दर्ज हैं। कबीर कहता है, केवल वही सुदमुख्तार या निर्मल हो सके जिन्होंने राम भक्ति जान ली।

नादी वेदी सबदी—क्रमशः नाद, वेद और शब्द के साधक।

भगति नारदी—नारद-भक्तिसूत्र द्वारा प्रतिपादित भक्ति, विशुद्ध अनुरागात्मिका भक्ति, जिसके कबीर समर्थक हैं।

काधि कूधि तनु दीनां=जबरदस्ती घिस-घिसकर शरीर खपाते हैं।

खालसे (अरबी 'खालिस:')=राजा की निजी सम्पत्ति, जिस पर किसी अन्य का स्वामित्व नहीं रहता। तात्पर्य यह कि काल की सूची में सभी के नाम दर्ज हैं, राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में केवल भक्त बचे हुए हैं। खालसः निर्मल अथवा निष्केवल अर्थ भी प्रदान करता है और वह भी यहाँ संगत माना जा सकता है।

[२३]

ऐ बन्दे, नित्य प्रति अपना दिल खोजो, परेशानी में मत पड़ो। यह जो दुनिया है वह प्रभातकालीन गोधूलि वेला के समान क्षणिक है, यहाँ कोई हाथ पकड़ने वाला या सहायक नहीं है। ऐ भाई, वेद और कुरान झूठे कलंक हैं, इनसे हृदय की चिन्ता दूर नहीं होगी। यदि थोड़ी हिम्मत बाँधो तो खुदा तुम्हारे समक्ष ही वर्तमान मिलेगा। झूठा (शास्त्र) पढ़-पढ़कर लोग प्रसन्न होते हैं और बेखबर होकर बकवास किया करते हैं, (किन्तु यह नहीं जानते कि) एक परमात्मा ही सत्य है; वह सृष्टिकर्त्ता सारी सृष्टि में व्याप्त है, केवल शालग्राम की श्याम मूर्ति में ही नहीं है। आसमान में जो आकाशगंगा (?) है उसमें उसने स्नान कर रखा है (परमात्मा की महानता की ओर संकेत है)। उसका चिंतन करो और निरंतर अपने नेत्रों में बसाओ तो वह तुम्हें यत्रतत्र सर्वत्र मौजूद मिलेगा। अल्लाह पवित्रातिपवित्र है, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका तब करो, जब उसके सिवा दूसरा कोई हो। कबीर कहता है कि करीम (दयालु ईश्वर) का करम (कृपा) अपरम्पार है। वह जो कुछ करता है उसे वही जानता है।

सिहर मेला = प्रभातकालीन (अरबी 'सहर') प्रकाश अंधकार का मेल जो क्षणिक होता है।

इफ्तरा (फ़ा०) = कलंक। हजूर (अ० हुजूर) = उपस्थिति, सामना।

दरोग (फ़ा० दरोग़) = मिथ्या, ग़लत; तुल० दरोग़हल्फ़ी = झूठी क़सम।

लहंग = आकाश (?); व्युत्पत्ति अनिश्चित।

गुसल करदन बूद=कृतस्नान (फ़ारसी क्रिया का भूतकालिक कृदन्त रूप)।

दाइम (अरबी) = सदैव। चसमें (फ़ा० चश्म)=नेत्रों में।

[२४]

विषयों से बचो और हरि में अनुरक्त हो जाओ। ऐ बावले मन, ऐसा समझो। निर्भय होकर हरि को भजा नहीं और राम रूपी जहाज का आश्रय लिया नहीं तो ऐ बावले मन, तन-धन का क्या गर्व कर रहा है जिसका शृंगार भस्म और कृमियों से होता है (शव जलाने पर राख हो जाता है और गाड़े जाने पर उसे कीड़े खाते हैं)। नकली पुतले की हस्तिनी (माया) का जगदीश ने यह स्वांग (सृष्टि) रचाया है, जिसके वश में पड़कर कामाय गज (विषयी जीव) बन्धन में पड़ता है और शीश पर अंकुश सहता है। मर्कट ने हाथ पसारकर (घड़े में रखे) अनाज की मुट्ठी बाँधी और मुट्ठी खोलने में जब उसे द्विविधा हुई तो (बन्धन में पड़ कर) वह घर-घर के दरवाज़े पर नाचता फिरा। जैसा कुसुंभी रंग (आकर्षक) होता है वैसा ही सृष्टि का यह पसारा फैला है। नहाने को अनेक तीर्थ और पूजने को अनेक देवता हैं, किन्तु कबीर कहता है कि इनसे मुक्ति नहीं होगी, मुक्ति तो हरि की सेवा से ही होगी।

कालबूत (फ़ा० कालबुद) = साँचा, जिसपर चढ़ाकर जूता, पगड़ी आदि बनाए जाते हैं; नकली ढाँचा या पुतला।

चलतु — चरित्र, स्वांग (चरित्र>चलित्र>चलतु)। तुल० गुसांई- गुरु-बानी पृ० ७३ : जमुदा चलित्र दिखाइआ विच सेली स्याम सरीर।

ललनों—दे० पद २१ की टिप्पणी।

कुसुंभ—एक पौधा या उसका पुष्प, जिसका रंग चटकीला होता है।

विशेष—इस पद में हाथी, बन्दर और शुक का दृष्टांत दिया गया है, जो क्रमशः काम, लोभ तथा मोह के कारण बन्धन में पड़ते हैं। हाथी कामुक होता

है, इसलिए उसे फँसाने के लिए लोग जंगल में हथिनी का नकली पुतला खड़ा कर देते हैं और रास्ते में गड्ढा बनाकर उसे लकड़ी या खपाची आदि से पाट देते हैं। कामांध हाथी खंदक में फँस जाता है। इसी प्रकार लोभी बन्दर को फँसाने के लिए सँकरे मुँह का घड़ा गाड़ दिया जाता है और उसमें कुछ चने रख दिये जाते हैं। बन्दर घड़े में हाथ डालकर चनों को मुट्ठी बाँधकर निकालना चाहता है, किन्तु मुँह इतना सँकरा होता है कि बँधी मुट्ठी उससे निकल नहीं सकती और लोभ के कारण बन्दर मुट्ठी खोल नहीं पाता, इसलिए फँस जाता है। शुक ललनी यन्त्र से फँसाया जाता है, जिसकी प्रक्रिया पहले बताई जा चुकी है (दे० पद २१)।

यह पद बनजारा गीत की शैली पर रचा गया है इसलिए प्रत्येक पंक्ति में 'मन बउरा रे' की टेक दुहराई गई है।

[२५]

देह दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है, इसलिए ऐ बावली (जीवात्मा), तू राम से स्नेह कर ले। बचपन गया, यौवन भी चला जायगा, जरा मरण और सांसारिक संकट आयेंगे। केश पलट गये (काले थे, सफ़ेद हो गये), नेत्रों में जल छाने लगा। ऐ मूर्ख, चेत, बुढ़ापा आ गया। राम कहते हुए तू क्यों लज्जा करता है? पल-पल आयु घट रही है और शरीर छीज रहा है (नष्ट हो रहा है)। लज्जा कहती है, 'मैं यम की दासी हूँ, मेरे एक हाथ में मुद्गर और दूसरे में फाँसी है' (तात्पर्य यह है कि जो राम कहने में लज्जा करेंगे, उन्हें लज्जा मौत के घाट पहुँचा देगी)। कबीर कहता है कि उन्होंने सब कुछ गँवा दिया, जिन्होंने अपने मन से राम नाम को भुला दिया।

[२६]

क्या माँगूँ जब यहाँ कुछ स्थिर नहीं रहता और आँखों से देखते ही देखते जगत् चला जाता है। जिसके एक लाख पुत्र और सवा लाख पौत्र थे उस रावण के घर दीपक और बत्ती तक न रही। जिसका लंका जैसा गढ़ था, जिसकी समुद्र जैसी खाई थी, उस रावण की कोई खबर तक न मिली (कि वह मर कर कहाँ गया?)। इस दुनिया में न कोई साथ आता है और न कोई साथ जाता है,

का व्रत रखते थे। जायसी ने भी पदमावत में मसवासी साधुओं का स्मरण किया है (दे० पदमावत ३०-८: कोई राम बन कोइ मसवासी)। संजीवनी व्याख्या में डॉ० वासुदेवशरण जी ने मासोपवास की परंपरा महाभारत काल तक दिखलाई है।

मोनि=मोन व्रती साधु।

कबीर ने यहाँ अपने समय के अनेक प्रकार के साधु-संन्यासियों का वर्णन किया है और यह भी दिखाया है कि केवल वाह्याचार को प्राधान्य देने वालों को तत्व ज्ञान नहीं प्राप्त होता। तुल० दसनावाणी, पद ९४-५—

लुंचित मुंडित मोनि जटाधर हिवाले धंसियो रे।
परमेसुर नें जानें नांहीं बनखंड को बसियो रे॥

[२९]

कुशल-क्षेम और सही-सलामत, ये दोनों प्रभु ने किसको दिये जब कि संसार में आते-जाते—दोनों बार हम लूटे गये और हमारा सारा तत्व हर लिया गया? सुर, नर, मुनि, यति और मीरों को उसने पैदा किया—कहाँ तक वर्णन करूँ, करोड़ों इस तरह हुए और सभी यहाँ से कूच कर गये। धरती, पवन और आकाश जायँगे, चंद्र और सूर्य भी चले जायँगे। हे भाई, न हम रहेंगे, न तुम रहोगे—भरपूर कोई रहेगा तो केवल राम रहेगा। 'कुशल' ही 'कुशल' करते-करते सारा संसार नष्ट हो गया और काल तथा भव (जन्म-मरण) का बन्धन उसके गले में पड़ा रहा। कबीर कहता है, समस्त संसार विनष्ट हो गया, केवल अविनाशी राम बचता है।

[३०]

इस प्रकार श्री नरहरि की सेवा (आराधना) करनी चाहिए, जब मन अपनी दुविधा छोड़ दे। जहाँ कुछ नहीं है वहीं कुछ जानो। जहाँ कुछ नहीं है वहीं (शून्य में) उसे पहचानो। 'नहीं' (शून्य) को देख कर भागना नहीं चाहिए, जहाँ 'नहीं' (शून्य) है वहीं लगा रहना चाहिए। दसवें द्वार (ब्रह्मरंध्र) में गंगा-यमुना (इड़ा-पिंगला) का संगम विचार कर मन को मज्जन कराओ। बिन्दु में नाद हो, या नाद में बिंदु हो, क्योंकि वस्तुतः नाद और बिन्दु दोनों के संयोग या समरसता में गोविन्द मिलता है। वह देवी-देवता, पूजा-पाठ, माई-बन्ध, माँ-बाप कुछ

नहीं है। वह त्रिगुणातीत है, स्वतः निर्गुण है। उसका निर्गुण रूप न समझ सकने के कारण भ्रम में दुनिया रस्सी में ही सर्प का मिथ्यारोप किए हुए है। शरीर तब नहीं होता जब मन नहीं होता अर्थात् स्थूल या साकार रूप सूक्ष्म या निराकार पर आधारित होता है। मन में प्रतीति हो जाने पर वह परब्रह्म मन में ही प्रकट होता है, अतः छाल (साकार) छोड़ कर गुणवती शाखा (निराकार) का आश्रय ग्रहण करो और वहाँ निरख-परखकर ऐसी निधि देखो जिसका वारपार नहीं। कबीर कहता है, यह गुरु द्वारा प्रदत्त चरम ज्ञान है—शून्य मंडल में ध्यान धरो, शरीर पात हो जाने पर प्राण जहाँ जाता है वहाँ अर्थात् परमतत्व में उसे जीते जी पहुँचा दो।

सो नरहरी—श्री नृसिंह देव, जिनका अवतार हिरण्यकशिपु का वध और प्रह्लाद का उद्धार करने के लिए हुआ था। चूँकि इस पद में एक विशिष्ट प्रकार के योग का वर्णन है, इसलिए 'नरहरि' नाम का प्रयोग है, क्योंकि उसमें 'नर' तथा 'हरि' (सिंह) का योग है। जहाँ नहीं तहाँ कछु जांनि'''आदि—कबीर वस्तुतः यहाँ बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित जान पड़ते हैं। बौद्धों का 'शून्य' नकारात्मक नहीं, प्रत्युत सकारात्मक शब्द है। वह चरम सत्ता का प्रतीक है। 'जैसे गुड़ का धर्म माधुर्य है और अग्नि का धर्म उष्णता है, उसी प्रकार समस्त धर्मों का धर्म, समस्त स्वभावों का स्वभाव शून्यता है'—

गुडे मधुरता चाग्नेरुष्णत्वं प्रकृतिर्यथा।
शून्यता सर्वधर्माणां तथा प्रकृतिरिष्यते॥

—नाथसंप्रदाय, पृ० ६२, हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा उद्धृत।

कबीर का तात्पर्य है कि परमात्मा का साकार रूप वस्तुतः निराकार-सापेक्ष है। दूसरे शब्दों में निराकार ही सत्य और उपासनीय है। मंजन<सं० मज्जन (द्वित्व के लिए अनुस्वार)। दसवें द्वारि=दसवें द्वार पर (अधिकरण रूप), आध्यात्मिक पक्ष में ब्रह्मरंध्र। गंगा जमुनां संधि=गंगा-यमुना का संगम स्थल प्रयाग, संतों की पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार इड़ा-पिंगला का संगमस्थल, जो आज्ञा चक्र के ऊपर ब्रह्मरंध्र के निकट माना जाता है। नाद बिंदु—नाथ-संप्रदाय में सृष्टि-प्रक्रिया की दो परपराएँ मानी जाती हैं : नाद-परंपरा तथा

फिर दरवाजे पर यदि हाथी बँधे रहें तो उससे क्या होता है ? कबीर कहता है कि अन्तिम समय में सभी जुवाड़ी की तरह (बाजी हार कर) हाथ झाड़ कर चले जाते हैं ।

[२७]

चार दिन (चंद दिन) अपनी नौबत बजाकर आदमी चल देता है, इतना जो अर्जित कर रखा था वह मिट्टी में गड़ा रह जाता है, अपने साथ कोई कुछ भी नहीं ले जाता । देहली पर बैठकर स्त्री रोती है, दरवाजे तक सगी माता जाती है, मरघट तक सब कुटुम्बी लोग मिल कर जाते हैं—आगे हंस (आत्मा) अकेला ही जाता है; वह पुत्र, वह वित्त, वह पुर-पट्टन फिर लौट कर नहीं देख पाता । कबीर कहता है कि ऐ बन्दे, भजन बिना जन्म अकारथ (व्यर्थ) चला जाता है ।

नौबत (फ़ा०)—शहनाई आदि की वाद्य ध्वनि जो वैभव या मंगलसूचक होती है । मध्यकाल मे राजाओं या धनिकों के यहाँ सिंहद्वार पर नौबतखाने होते थे, जहाँ एकाधिक बार नौबत बजा करती थी । 'नौबत बजाना' मुहावरा हो गया है—धूम धाम होना ।

खटिया = अर्जन किया (खटना = परिश्रम करना, अर्जन करना, कमाना) ।

देहरी बैठी मेहरी रोवै...आदि—मृत्यु के पश्चात् का यह चित्रण, जिसमें प्रत्येक की ममता की सीमारेखा बताई गई है, कबीर को बहुत प्रिय है ; इसलिए उनकी वाणी में यह वर्णन अनेक बार आया है ।

मरहट < मरघट, श्मशान । अकारथ = व्यर्थ; यह शब्द अब भी प्रचलित है ।

[२८]

इसलिए नारायण की सेवा करनी चाहिए कि राम नाम से जिसकी रसना का प्रयोजन है अथवा जिसकी रसना पर राम नाम हितू (हितैषी) है उसका यम विचारा क्या कर सकता है ? ऐ पंडित, यदि तुम शास्त्र-वेद (अथवा भविष्य) और विद्या-व्याकरण जानते हो, तंत्र-मंत्र और सब औषधियाँ जानते हो तब भी अन्त में तुम्हें मरना है । राज-पाट और छत्र-सिंहासन तथा अनेक सुन्दरियों का रमण करता हो, कर्पूर सुवासित पान तथा चन्दन का लेप हो,

तब भी अन्त में उस राजा को मरना है। योगी, यती, तपी और संन्यासी जो अनेक तीर्थों मे भ्रमण करते हैं, अथवा लुंचित, मुंडित, मौनी और जटाधारी हों, किन्तु अन्त में उन्हें भी मरना है। सोच-विचारकर मैंने सारा संसार देख लिया, कहीं उबार (उद्धार) नहीं है। कबीर कहता है कि अब तुम्हारी ही (परमात्मा की) शरण मे आया हूँ; मेरा जन्म-मरण का बन्धन मेटो।

हितु <हेतु=प्रयोजन, मतलब, लगाव; अथवा <हितू=हितैषी, तुल० हितू व्यवहारी, हितनात। जमनां—'यम' का तिरस्कार सूचक रूप 'जमवां' या 'जमनां' ('यम बपुरा' से तात्पर्य है)। आगम (सं०)—वेदशास्त्र, धर्मग्रन्थ अथवा भविष्य, आगम-अगाह, भवितव्यता (जैसे 'आगमजानी'=भविष्य जानने वाला)। तंत मंत <सं० तन्त्र मन्त्र। रमनां <सं० रमण। पान कपूर सुबासिक—कर्पूर सुवासित ताम्बूल सेवन के प्राचीन उल्लेख मिलते हैं; तुल० सोमेश्वरकृत मानसोल्लास (१२ वी शताब्दी), गजानन गोंडेकर सम्पादित, गा० ओ० सीरीज, द्वि० भाग—

> श्रीखण्डरत्नकयुतं कर्पूर रजसमन्वितम्। ६७५।
> मेलयित्वा समैर्भागैर्गुटिका कल्पिता शुभा।
> कर्पूरपूर्णं खादेच्च........................। ६७८।

तथा ज्योतिरीश्वर ठक्कुरकृत वर्णरत्नाकर (१४वी शताब्दी) रा० ए० सो० बंगाल द्वारा प्रकाशित तथा डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा सम्पादित, पृ० १४, प्रति में २६ ख—परिचारिका दुइ पान कर्प्पूर लए हाथ देइते अछ। आईने अकबरी (१६वी शताब्दी) मे अबुलफ़ज़्ल ने आईन २८ में कपूर और मुश्क (कस्तूरी) रख कर पान खाने की प्रथा का उल्लेख किया है (पृ० ७३, ब्लाशमैनकृत अनुवाद)। जोगी <स० योगी (कबीर ने प्रायः गोरखनाथी योगियो के लिए यह शब्द प्रयुक्त किया है)। जती <सं० यति (कबीर में जैन यति)। लुंचित (सं०)=केश का लुंचन करवाने वाले साधु। मुंडित (सं०)=मुड़िए साधु जो कदाचित् अपना सिर घुटवा रखते थे। 'बौद्ध गान ओ दोहा' की 'सारार्थपञ्जिका' टीका मे 'मुण्डीति मासिकोपवासी' ऐसा उल्लेख मिलता है (दे० डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची संपादित 'दोहा कोश', पृ० ५८) जिससे ज्ञात होता है कि मुंडित साधु मासोपवास

बिन्दु-परंपरा (नाथसंप्रदाय, पृ० ६४)। सिद्धों तथा संतों में बिन्दु और नाद क्रमशः इड़ा तथा पिंगला के लिए भी व्यवहृत होते हैं। जब नाद-बिंदु अर्थात् इड़ा-पिंगला (द्वैत) का विलीनीकरण हो जाता है, तभी सहजस्थिति प्राप्त होती है। भरम जेवरी जग कियौ सांप—मोह अथवा अविद्या के कारण रज्जु को सर्प समझ लेना—तुल० तुलसी : रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः । बकला<सं० वल्कल=छाल, वक्कल, अवधी 'बोकला'। आध्यात्मिक पक्ष में साकार रूप जिसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं। सुन्नि मंडल—शून्य-मंडल=तथता या चरम स्थिति का प्रतीक।

[३१]

जीवित को मारना नहीं और मरे को लाना नहीं, किन्तु ऐ कान्त, मास के बिना घर आना भी नहीं (अन्तर्मुखी मन जीवित होता है, उसे मारने की आवश्यकता नहीं और बहिर्मुखी अथवा सांसारिकता की ओर उन्मुख मन मृतक-वत् है अतः साधना में उसकी कोई उपयोगिता नहीं। मांस मन की चचल वृत्तियों का द्योतक है, उन्हें अवश्य समाप्त करना चाहिए जिससे मन निश्चल हो जाय)। जिसके न उर (छाती) है, न खुर है, न चोंच है, न शरीर है, ऐसा शिकार, ऐ कान्त, क्यों नहीं मारते जिसके न रक्त है, न मांस ? अर्थात् मन का शिकार क्यों नहीं करते जिसका न शरीर है, न आकार-प्रकार ? परली पार का (उस पार का या सासारिक माया मोह से परे) जो बहेलिया (ज्ञानी) है उसकी धनुष में प्रत्यंचा नहीं है (अर्थात् वह निर्गुण साधना करने वाला है)। वह बेली के मृगशावक पर (शरीर सुख में लिप्त मन पर) टूट पड़ा, उस मृग के सिर (विवेक) नहीं है। उसने (ज्ञानी ने) मृग (मन) को मारा, किन्तु जीवित भी रक्खा (मन को जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ बनाया), वस्तुतः यही सच्चा गुरुज्ञान है। कबीर कहता है, ऐ स्वामी, अब तुम्हारे मिलने को बेली (काया) है, पर उसमें पत्ता (विकार) नहीं है।

जियत न मारि मुवा मति लावैं—कबीर ने यहाँ मनःसाधना के रहस्यों का सकेत किया है। मन जब सासारिकता से उलट कर अन्तर्मुखी हो जाता है तब अमर हो जाता है; तुल० कबीर-ग्रन्थावली, पद १०७.७—

अब मन उलटि सनातन हूवा । तब जांनी जब जीवत मूवा ॥
तथा पद ११८-६—

सो जीवन भला कहाही । बिनु मूएं जीवन नाहीं ॥
तथा जायसी, पदमावत २१६-६—

जियतहि जो रे मरै इक बारा । पुनि कत मीचु को मारै पारा ॥

सावज (सं० श्वापद)=वह जन्तु जिसका शिकार किया जाता है, सौंजा।

पारधी (स० पापर्द्धि)=शिकारी, बहेलिया ।

ढूंक्यौ=अचानक टूट पड़ा । ढुकना=छिपना, छिप कर अचानक हमला करना । तुल० कबीर-ग्रंथावली, सभा संस्करण पृ० ६६ : पारधिया ढूणां नवै म्रिघा ढूंकंताह । मृगलौ (मृग+ला)=मृग छौना, मृगशावक ।

बेलो—संत साहित्य मे 'बेली' शब्द आत्मा तथा शरीर दोनों के प्रतीक रूप में प्रयुक्त है (दे० गरीबदास कृत 'अनभै प्रमोध'), किन्तु यहाँ वह काया का ही प्रतीक जान पड़ता है; क्योंकि आत्मा का प्रतीक मानने पर 'ता बेली कौ ढूक्यो म्रिगलौ' का सन्तोषजनक अर्थ करने में कठिनाई होगी । डॉ० मा० प्र० गुप्त ने इसे स्वानुभूति का प्रतीक माना है किन्तु वही कठिनाई इस प्रतीक मे भी है ।

[३२]

कहो भाई, आकाश किससे लगा हुआ है ? इसे कोई भाग्यशाली जानकार ही समझ सकता है । आकाश मे तारे दिखलाई देते हैं, कौन ऐसा चतुर चित्रकार है (जिसने यह तारा-खचित आकाश मण्डल का चित्र बनाया है ?) । किन्तु जिसकी तुम्हें तलाश है वह यहाँ नहीं है, वह तो अमरत्व की स्थिति मे है अर्थात् आकाश का यह दृश्य रूप भी मिथ्या है, परमात्मा उससे भी परे सूक्ष्म स्थिति मे है । कबीर कहता है, वही इसे जान सकेगा जिसके हृदय में भी राम हो और मुख मे भी राम ही हो ।

कहाँ भइया अंबर कासौं लागा—तुल० क़ुरआन मजीद, सूरः ३१, पार : २१—"उसने आसमानों को बिना सहारे के पैदा किया जैसा कि तुम देखते हो।" तथा जायसी, पदमावत, दोहा २ : "गँगन अंतरिख राखा बाजु खंभ बिनु टेक।" यहाँ कबीर इसी इस्लामी मान्यता से प्रभावित हैं।

[३३]

मुझे ऐसे वाणिज्य से क्या प्रयोजन जिसमें मूलधन (संचित पुण्य) घटता जाता है और ब्याज (कर्मों का जंजाल) नित्य बढ़ता जाता है। एक नायक (जीव) है, पाँच बनजारे (क्षिति, जल आदि पंच तत्त्व) हैं और पचीस बैलों (२५ प्रकृतियों) का साथ है जो कच्चा या अस्थायी है। नौ बहियाँ (नाड़ियाँ) और दस गूनें (इन्द्रियाँ) हैं जिनमें बहत्तर कसनियाँ या डोरियाँ (प्रकोष्ठ) लगी हैं। सात सौदे-सूत (सप्त धातु) लेकर वाणिज्य किया गया और कर्मों की भाँवरी साथ लग गई अर्थात् मनुष्य कर्मों में प्रवृत्त हुआ। मार्ग में तीन जगाती (त्रिगुण) चुङ्गी के लिए झगड़ा करते हैं, परिणामतः बनजारा हाथ झाड़कर चला गया। जब वाणिज्य में टूटा या घाटा आ गया और पूँजी टूट गई (जीवन का अवसानकाल आया) तो टाँडा दसों दिशाओं में तितर-बितर हो गया (शरीर का विघटन हो गया)। कबीर कहता है कि इस प्रकार यह जीवन व्यर्थ हुआ। जब मन सहज स्थिति (समरस या द्वद्वातीत अवस्था) में समाया तभी लड़ाई (सांसारिक कर्मजाल) से छुट्टी मिली।

विशेष—बनजारों की शब्दावली के माध्यम से शरीर के सटरागों का वर्णन किया गया है और अन्त में यह प्रतिपादित किया गया है कि मन को सहजावस्था में ले जाने से ही मुक्ति मिल सकती है।

नाइकु=नायक, सार्थवाह। बाहरी मंडियों के साथ व्यापार करने के लिए कुछ साहसी व्यापारियों का जो समूह एक साथ वाणिज्य सामग्री लादकर चलता था उसे 'टाड़ा' कहते थे। प्राचीन काल में यही 'सार्थ' कहलाता था। 'सार्थोऽध्वनां वृन्दम्' (अमरकोश २।६।४२) अथवा 'सार्थान् सधनान् सरतो वा पान्थान् वहति सार्थवाहः' (अमरकोश ३।९।७८) अर्थात् जो पूँजी द्वारा व्यापार करे वह

'सार्थ' और उसका अगुवा 'सार्थवाह' होता था। यही मध्ययुग में 'नायक' कहा गया।

बनजारा—सं० वाणिज्यकार। चाहमान के लेखों में सार्थ के लिए 'बनजारा' शब्द का प्रयोग मिलता है—"अत्रेषु समस्त वणजारेषु देसो मिलित्वा वृषभ भरित जतु पाइलाल...." (एपिग्राफ़िया इन्डिका, भा० ११, पृ० ४०) 'वृषभ भरति' से बनजारों द्वारा बैलों के विशेष उपयोग की सूचना मिलती है। अतः 'बरध पचीस' की संगति स्पष्ट है।

बहियाँ—बाँस की खपाची, जिसमें दोनों ओर रस्सी के फन्दे लगे रहते हैं, उन्ही मे सामान लाद कर कन्धे पर ढोया जाता है। बाँहों या कन्धो पर ढोये जाने से ही उसे 'बहियां' कहा जाता है। नौ बहियाँ=नौ नाड़ियाँ—१. इड़ा या चन्द्र नाड़ी, २. पिंगला या सूर्य नाड़ी, ३. सुषुम्णा या मध्यनाड़ी, ४. गांधारी, ५. हस्तिजिह्वा (क्रमशः दाहिने तथा बाएँ नेत्र की नाड़ी), ६. पूषा, ७. पयस्विनी (क्रमशः दाहिने तथा बाएँ कान की नाड़ी), ८. लकुहा, ९. अलम्बुषा (क्रमशः गुदा तथा लिंग की नाड़ी)।

गोनि—जानवरो की पीठ पर रक्खा जाने वाला दो-मुहाँ थैला।

कसनी—कसने के लिए लगी हुई रस्सी। गून मे सामान लद जाने पर उसे रस्सियों से कसते हैं। इन्ही रस्सियो को 'कसनी' कहा जाता है।

कसनि बहत्तरि—शरीर की बहत्तर ग्रन्थियाँ या कोठे—१६ कंडराएँ, १६ जाल, ४ रज्जु, ७ सेवनी, १४ अस्थिसघात, १४ सीमान्त तथा १ त्वचा जिनसे सम्पूर्ण शरीर बँधा रहता है।

सूत—सौदा या वाणिज्य की सामग्री। 'सौदा-सूत' का युग्म के रूप मे भी प्रयोग होता है, तुल० विनयपत्रिका, पद २६४-२:

सुहृद समाज दगाबाजिहो को सौदा सूत।
जब जाको काज तब मिलै पायँ परि सो॥

सात सूत—सप्त धातु (रक्त, मास, मज्जा, वसा, अस्थि, शुक्र, रस)।

भांवनौं—अनुमानतः मूल प्रति मे 'भावरौ' (=भ्रमण) रहा होगा और प्राचीन नागरी तथा कैथी में 'र' तथा 'न' के सादृश्य के कारण कालांतर मे

यह पाठ-परिवर्तन हुआ होगा। जगाती=जकात या चुंगी वसूल करने वाला। लादि=लदाई का व्यवसाय।

[३४]

ऐ सखी, ब्रह्म-विचार का विलोड़न करो और ऐसा बिलोवो कि तत्त्व (नवनीत) नष्ट न होने पाए *(नाम रूपी नवनीत निकल आवे)*। तन को मटकी बनाकर मन को मथो और उस मटकी में पंच प्राणों को समोवो। इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाडियाँ, *ये छाछ लेने वाली नारियाँ खड़ी हैं, अतः शीघ्र बिलोवो।* कबीर कहता है, ग्वालिन (जीवात्मा या मनसा) बावली हो गई (राम भक्ति में उन्मत्त हो गई), उसकी मटकी फूट गई और वह ज्योति में समा गई अर्थात शरीर की सुधबुध जाती रही और परमात्मा से मिलन हो गया।

तन करि मटकी......समोइ—तुल० जायसी, पदमावत १५२.४—

साँस दोहि मन मथनी गाड़ी। हिएँ चोट बिनु फुट न साढ़ी॥

[३५]

वह (ब्रह्म) सम्मुख ही है, उसे दूर कहाँ बताते हो? जो द्वन्द्वों को बाँधता है अर्थात् उनपर नियन्त्रण करता है वही सुन्दर (राम) को पाता है। *सच्चा मुल्ला* वह है जो मन से लड़ता है और रात-दिन कालचक्र से भिड़ता रहता है। जो कालचक्र का मान-मर्दन करे उस मुल्ला को सदैव मेरा सलाम है। क़ाज़ी वह है जो काया का विचार करे और काया की अग्नि से ब्रह्म को प्रज्वलित कर ले, जो स्वप्न में भी वीर्य का क्षरण नहीं होने देता उस क़ाज़ी को जरा-मरण नहीं व्यापते। वही सच्चा सुल्तान है जो इडा-पिंगला या श्वास-प्रश्वास के दो बाणों का सन्धान (नियन्त्रण) करता है और बाहर जाते (मन) को भीतर ले आता है (अंतर्मुखी बनाता है)। जो गगन-मण्डल में अपनी सेना जमाता है (ब्रह्मरन्ध्र में मन-पवन को केन्द्रित करता है) वही सुल्तान सिर पर छत्र धारण करता है। योगी 'गोरख गोरख' कहता है, हिन्दू राम नाम का उच्चारण करता है, मुसलमान 'एक खुदा' (तौहीद) मानता है, किन्तु कबीर का स्वामी ऐसा है जो (समस्त संसार में) व्याप्त है।

हजूरि (अ० हुजूर)=उपस्थिति में, समक्ष।

मुल्ला (अ०)=मौलवी, विद्वान्, मस्जिद में अज़ान देने वाला।

काजी (अ० क़ाज़ी)=न्यायकर्ता, मुंसिफ़।

मुसलमान कहै एक खुदाइ—इसके द्वारा मुस्लिम एकेश्वरवाद की ओर संकेत किया गया है जिसे 'तौहीद' कहा जाता है और जो इस्लाम का मूल आधार है। समस्त नबियों की शिक्षाएँ तौहीद पर ही अवलम्बित हैं। इस्लाम के पवित्र वाक्य कलमा (ला इलाह...आदि) में भी यही विचारधारा है। तौहीद का अर्थ यह है कि बंदा अल्लाह को एक माने, उसी को अपना सृष्टिकर्ता, स्वामी, शासक सब कुछ समझे, उसी की बंदगी और प्रार्थना करे, उसके अस्तित्व और गुणों में किसी की शिरकत या साझेदारी न समझे। भारतीय अद्वैतवाद और मुस्लिम एकेश्वरवाद का मुख्य अन्तर यह है कि अद्वैत के अनुसार आत्मा और परमात्मा में अभिन्नता मानी जाती है जब कि तौहीद के अनुसार बन्दा (जीव) खुदा नहीं हो सकता। ऐसा मानना इस्लाम में कुफ़ (अकृतज्ञता का अपराध) है। प्रस्तुत पद की अन्तिम दो पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि कबीर मुस्लिम एकेश्वरवाद के समर्थक नहीं हैं।

[३६]

ऐ मुल्ला, तू एक ऐसी मस्जिद (शरीर) में नमाज़ की बाँग दे जिसमें दस दरवाज़े हैं। तू मन को मक्का और देह को क़िबला (नमाज पढ़ने की दिशा) बना और जो बोलने वाला जीव है उसी को परम गुरु मान ले। तामस को बिस्मिल कर (मार), भ्रम को दस्तरख़ान बना और पाँचों (मनोविकारों) का भक्षण कर तब तुझे शान्ति मिलेगी। कबीर कहता है, मैं दीवाना हो गया हूँ क्योंकि मेरा मन चुपके-चुपके सहजावस्था में समा गया है।

बाँग (फ़ा०)=आवाज, नमाज की अज़ान। निवाजा=नमाज, मुसलमानों की प्रार्थना जो प्रतिदिन पाँच बार होती है।

मसीति=मस्जिद। दसौं दरवाजा=शरीर के दस दरवाज़े (नौ इन्द्रिय-द्वार तथा ब्रह्मरंध्र)। मस्जिद में केवल एक दरवाज़ा पूर्व की ओर होता है।

क़िबला = वह दिशा जिस ओर मुँह कर नमाज़ पढ़ी जाती है, भारत में पश्चिम दिशा। बिसिमिल (फ़ा० बिस्मिल) = आहत, ज़ख्मी। दस्तूरी (फ़ा०) = वह कपड़ा जिसपर बैठकर खाना खाते हैं, दस्तरख़ान। सबूरी = सब्र, सन्तोष, शांति।

[३७]

वहाँ यदि राम नाम में लगन लग जाय तो जरा-मरण छूट जाय और भ्रम भाग जाय। शरीर रूपी अगम और दुर्गम गढ़ में उसने अपना आवास बनाया है जिसमें दिव्य ज्योति प्रकाश करती है। जहाँ पर बिजली की अनंत लेखाएँ कौंधती हैं, वहीं प्रभु कमलाकांत आसीन हैं। जो न अवर्ण है, न वर्ण है, न श्याम है, न पीत है, जहाँ न वेद जाता है, न वह गीत गाता है; जहाँ पर केवल अनाहत शब्द की ही झंकार होती रहती है वहीं पर समर्थ और मूल प्रभु बैठे हुए हैं। अखण्ड मण्डल (आकाश) में वह मंडान सुशोभित है, उसके तीन खण्डों में (इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा की त्रिवेणी में) तीन डुबकी लगावे; उसी के मध्य में अगम अगोचर (ब्रह्म) है जिसका पार धरणीधर (शेष) भी नहीं पाते हैं। कदली पुष्प में जैसे दीपक का प्रकाश हो उसी भाँति हृत्कमल में उस (परमात्मा) ने अपना निवास बनाया है। ऐ मित्र, द्वादश दलों के उसी अनाहत चक्र में तू प्रभु को पायेगा, उसी पर ध्यान लगा। अधः और ऊर्ध्व अर्थात् इड़ा और पिंगला के बीच जो आकाश (शून्य या सुषुम्ना) लगा हुआ है उसी शून्य मंडल में दिव्य ज्योति प्रकाश कर रही है। वहाँ न सूर्य है, न चन्द्र, वहाँ केवल आदि निरंजन केलि कर रहा है। जो ब्रह्माण्ड (जगत्) में है उसी को पिण्ड (शरीर) में जानकर और मान-सरोवर (मानस सरोवर या हृदय सरोवर) में स्नान कर 'सोऽहं' 'अहं सः' का जो जप करता है उसे पुण्य और पाप लिप्त नहीं करते। वहाँ न अमिलन है, न मिलन है, न घाम है, न छाँह है, न दिवस न रात्रि, कुछ भी वहाँ नहीं है; जो न हटाने से हटता है, न आता है न जाता है, ऐसे सहज शून्य में वह समाया हुआ है। उसे काया में ही जानना चाहिए, वहाँ जो बोलता है वह वही (परमात्मा) होता है; उस ज्योति में जो अपना मन स्थिर करता है वह प्राणी तर जाता है—ऐसा कबीर कहता है।

बिजुरी तार अनंत—अगणित विद्युल्लेखा। तुल० पदमावत ४३ ६—

चाँद पात औ फूल तराई। होइ उजियार नगर जहँ ताईं॥

तथा 'अद्वैत तारकोपनिषद्', भाग ५ : "सुषुम्णा के मध्य में करोड़ों तड़ित् के सदृश कांतिमती कुण्डलिनी है।"

हाहू (सं० हाउ)=सामगान की हर्ष ध्वनि (तैत्तिरीयोपनिषद्)। सामगान के समय जो कोलाहल होता था, पहले उसके लिए 'हाउ' शब्द का प्रयोग होता था, फिर धीरे-धीरे वह समस्त वेद-गान के लिए प्रयुक्त होने लगा। तुल० कबीर की प्राचीनतम टीका, हिन्दी अनुशीलन, भाग १३ अंक ४, पृ० ५० : "हाहू कहिए गांवण सो वेद गाइ न सकै।"

त्री असनांन करै त्री खंड—योग में इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा क्रमशः गंगा, यमुना, सरस्वती मानी जाती हैं और शरीर में तीनों का मिलनस्थल त्रिवेणी कहलाता है। यहाँ उसी में स्नान करने का निर्देश है। तुल० शिवपुराण—

इडा गङ्गा पुरा प्रोक्ता पिङ्गला चार्कपुत्रिका।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सङ्गोऽतिदुर्लभः॥
ब्रह्मरन्ध्र मुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः।
तस्मिन् स्नाते स्नातानां मुक्तिः स्यादविरोधतः॥

द्वादस दल अभिअंतर—अनाहत नामक हृत्कमल द्वादश दलों का माना जाता है। ये दल कदलीपुष्पवत् होते हैं।

[३८]

मेरे मन को राम के चरण भा गये हैं। ऐ, मुझ विधवा (जीवात्मा ?) के ऊँट (मन), तू प्रेम-प्रीतिपूर्वक लौ लगाकर उनकी ओर ढल जा (राम के चरणों की ओर उन्मुख हो जा)। आम पर आम्रलता (इड़ा) चढ़ी है और बबूल पर नागबेल (पिंगला), किन्तु राँड का करहा (मन) इन दोनों स्थलों के ऊपर इस प्रकार चढ़ गया मानो पत्थर के पाटों की सीढ़ी बनी हो अर्थात् मन इडा-पिंगला के द्वैत को सरलतापूर्व अतिक्रांत कर द्वंद्वातीत अवस्था में पहुँच गया है। एक कँकड़ीली कुइयाँ (ब्रह्मरन्ध्र) है जिसका पानी (सहस्रार से निर्झरित अमृत) पाताल

में है किन्तु वह इतना दुर्लभ है कि उसकी एक-एक बूँद सोने के भाव बिकती है (उस अमृत रस को पीने के लिए खेचरी मुद्रा की कठिन साधना करनी पड़ती है), सो इस मथुरा नगरी (काया) पर वज्र पड़े जहाँ कृष्ण (जीव) प्यासा ही रह जाता है। एक दहेड़ी (इड़ा) में दही (ध्यान) जमाया गया और दूसरी (पिंगला) में जाकर माड़ी पड़ गई (इड़ा-पिंगला के समत्व से साधना फलवती हुई अर्थात् सहजावस्था प्राप्त हुई) जिसे मैं अपने करहे (मन) को निमंत्रित कर जिमाती हूँ (मन सहजावस्था का आनंद लूटता है)—मुनीशों की दाढ़ी में छार पड़े (बड़े-बड़े मुनीश्वरों को भी यह स्थिति दुर्लभ है)! इस वन (पिंड) में मदनभेरी बज रही है (काम वासनाओं का उत्कर्ष है) और उस वन (ब्रह्माण्ड) में तूर्य (अनाहतनाद) बज रहा है। इस वन (पिंड) में राधा-रुक्मिणी (कुण्डलिनी) खेल रही है और उस वन (ब्रह्माण्ड) में कृष्ण अहीर (शिव या पुरुष तत्त्व) क्रीड़ा कर रहा है। आसपास घने तुलसी के बिरवे (द्वादशदलीय हृत्कमल) हैं, उनके मध्य द्वारिका गाँव (हृदयस्थित दहराकाश) है जिसके स्वामी, ऐ सारंगधर, तुम्हीं हो और तुम्हारे भक्त का नाम कबीर है।

रांड—सन्तकाव्य में 'रांड' माया तथा जीवात्मा दोनों की प्रतीक है, किन्तु इसी पद में आगे 'अपनौं करहा' भी कहा गया है जिससे जान पड़ता है कि यहाँ 'रांड' जीवात्मा के लिए ही आया है। अपने पति परमात्मा से दीर्घ काल के लिए वियुक्त होने के कारण कबीर ने एकाध अन्य स्थलों पर भी जीवात्मा को 'रांड' कहा है, उदाहरणतया—'चौके रांड भई संग सांई'।

करहा (सं० करभ)=ऊँट का बच्चा। 'करहा' संत साहित्य में सर्वत्र मन का प्रतीक है।

अंबली=आम्रलता। नगबेली=नागवल्ली, पान की बेल। य है, किन्तु समवतः कबीर ने इसे आकाशबेल (अवधी 'पतान बँवरिय मे प्रयुक्त किया है जो प्रायः बबूल के पेड़ पर होती है। लोक में आम का नैसर्गिक विरोध माना जाता है, जैसे=बोवै पेड बबूल का आ खाय। साधना के क्षेत्र में इड़ा-पिंगला को सन्तों ने इस प्रकार के सम प्रतीक माना है। चन्द्र-सूर्य, अरध-उरध, पर-अपर, सत्-असत्, विद्य

सुख-दुःख आदि परस्पर विरोधी तत्वों को सन्त लोग अपनी पारिभाषिक शब्दावली में इड़ा-पिंगला कहते हैं। अतः यहाँ भी आम अथवा उस पर चढ़ी हुई आम्रलता तथा बबूल या उस पर चढ़ी हुई नागबेली क्रमशः इड़ा तथा पिंगला के बोधक हैं।

दुै पर चढ़ि गयौ रांड कौ करहा—जब राम चरणों के प्रति सच्ची लगन पैदा होती है तब मन हर्ष-शोक, सुख-दुःख, आम-बबूल आदि समस्त द्वन्द्वों का अतिक्रमण कर समरसता की स्थिति में पहुँच जाता है—यही है करहा का दोनों फलों पर चढ़ जाना।

मनहु पाट की सैली रे—पाट=पत्थर की पटिया, सैली=सीढ़ी> सेरी>सेली>सैली। करहा इतनी सरलता से उन पर चढ़ जाता है मानो पत्थर के पाटों की सीढ़ी पर चढ़ रहा हो। तात्पर्य यह है कि भक्ति के उद्रेक से उपर्युक्त समरसता सहज ही प्राप्त हो जाती है।

एक दहेड़ियाँ''आदि —यहाँ भी दोनों दहेडियाँ क्रमशः इड़ा, पिंगला की प्रतीक हैं। **छार मुनिस की दाढ़ी रे**—तुलनीय क० ग्रं० साखी १०-८ :

गंग जमुन के अंतरं, सहज सुन्नि लौ घाट।
तहाँ कबीरा मठ रच्या, मुनिजन जोवैं बाट॥

'दाढ़ी में आग लगे' या 'छार पड़े' तिरस्कारसूचक लोकोक्ति है।

इहि बनि, वहि बनि—मानव-शरीर के दो भाग माने गये हैं—आज्ञा चक्र के नीचे का भाग पिंड और उससे ऊपर का भाग ब्रह्माण्ड कहलाता है। यहाँ दोनों वनों से कबीर का तात्पर्य इन्ही दोनो भागों से है।

मदन भेरि—भेरी वृहदाकार नगाडे को कहते हैं। यह इतना प्राचीन वाद्य है कि महाभारत (द्रोणपर्व ८२) में भी इसका उल्लेख है। मलयगिरि सूरि ने 'रायप्पसेणइज्ज' की वृत्ति में बजाने की विधियों की दृष्टि से वाद्यों के अठारह भेदो में से चौथी श्रेणी में "भेरी झल्लरी दुंदुभीनां वादनम्" का उल्लेख किया है। इससे कुछ पूर्व ही उसने 'दुंदुभिर्भेयाकारा' भी लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि दुंदुभी और भेरी लगभग एक ही प्रकार के 'ततवाद्य' थे। पुनःउसने लिखा है, "भेरीयम् ढक्काकृति वाद्यविशेष रूपाणाम्"। माणिक्यसुन्दर अथवा

माणिक्यचन्द्र सूरि कृत 'पृथ्वीचन्द्रचरित्र' (सं० १४७८ वि०) में ४६ बाजों का उल्लेख है (पृ० १०२), जिनमें 'मदन' भी है—'सिंगी मदन काहल भेरी भुंकार तरवरा'—जिससे ज्ञात होता है कि कबीर द्वारा उल्लिखित 'मदन भेरी' कदाचित् कोई एक ही बाजा है किन्तु देहली दीपक के अनुसार 'मदन' काम का द्योतक भी है। शरीर के पिण्ड भाग में काम वासनाओं की प्रधानता रहती भी है। तुलनीय ज्ञानानन्द परमहंस विरचित 'कौलावली निर्णय' का अंतिम श्लोक—

बामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं ।
मध्ये न्यस्तं मरीचसहितं शूकरस्योष्णमांसम् ॥
स्कन्धे वीणा ललितसुभगा सद्गुरूनां प्रपञ्चः ।
कौलो धर्मो परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

अर्थात् वाम भाग में रमणकुशला युवती (कुण्डलिनी) हो, दक्षिण भाग में मदिरा का पात्र (सहस्रार स्थित अमृत) हो और बीच में मिर्च सहित सूअर का गरमागरम मांस (पिण्ड भाग) हो। कन्धे पर सुन्दर झंकार वाली वीणा (सुषुम्णा) हो जिसमें सद्गुरुओं का समस्त उपदेश प्रपंच समाहित हो—ऐसा है परम गंभीर कौल धर्म जो योगियों के लिए भी अगम्य है।

[३६]

ऐ देव, दया करो और मुझे सन्मार्ग पर लगाओ जिससे भवबन्धन टूट जाय और जरा-मरण के दुःख को छोड़कर (शाश्वत) सुख भोगने के लिए यह जीव पुनर्जन्म से मुक्त हो जाय। सद्गुरु के चरणों में लगकर मैं इस प्रकार विनती करता हूँ कि मुझे बताओ, यह जीवन कहाँ से मिलता है? जिस कारण हम उत्पन्न होते और विनष्ट होते हैं उसे क्यों नहीं समझाकर कहते? यह मन आशा-पाश को खण्डित नहीं कर पाता और शून्य का आनन्द नहीं लूटता, आत्म पद और निर्वाण को पहचान नहीं पाता तो बिना इस अनुभव के वह संसार से कैसे छूट सकता है? जो कथनी से उत्पन्न नहीं होता और उत्पन्न होने पर जाना नहीं जा सकता, जो भावाभाव विनिर्मुक्त है, जहाँ उदय-अस्त की मति बुद्धि नष्ट हो जाती है उस सहज दशा में सदैव लौलीन रहता हूँ। जैसे बिम्ब में प्रतिबिम्ब समा जाता है, जल में कुंभ विगलित हो जाता है, उसी प्रकार मैं ज्ञान में, कबीर कहता है कि

मेरा भ्रम भाग गया और मेरा मन शून्य में समा गया।

फेरि =छोड़कर। सं० स्फेट्य्>अप० फेड़ि; तुल० राउलवेल ३५ : सुणण फाज फेड़ि उवाया। खंड नहिं पाड़ै—मूल रूप अनुमानतः 'खंडि नहि पारै' (=तोड़ नहीं सकता) रहा होगा जिससे फ़ारसी लिपि के कारण 'खंड नहि पाड़े' पाठ हो गया। 'पारै' के प्रयोग के लिए तुलनीय, तुलसी, मानस अयोध्या ० : तुम्हहि अछत को वरनै पारा। जांनि=ज्ञान में या ज्ञान से। अपभ्रंश 'जांण' (सं० ज्ञान) का अधिकरण रूप।

[४०]

राजा राम की अनाहत किन्नरी वीणा जहाँ बज रही है उस दीर्घ नाद से लौ लगी है। ऐ पंडित, एक आश्चर्य-वार्ता सुनो। अब कुछ कहते नहीं बनता; उस (अनहद किंगरी) से सुर, नर और गंधर्वगण मुग्ध हो गये और त्रिभुवन ने गले में अलफी डाल ली अर्थात् संसार के सभी लोग बैरागी हो गये। गगन की भट्ठी तथा सिंगी की चोंगी बनाई और एक कनक कलश भी प्राप्त कर लिया। उसी में (राम रस रूपी मदिरा की) निर्मल धारा चूती है, इस प्रकार रस में रस टपकाया। अब एक और अनुपम बात यह हुई कि पवन का प्याला साज लिया (प्राणायाम की साधना की)। इस प्रकार तीनों भुवनों में वह एक ही योगी है, बताओ सही, वहाँ राजा कौन है? इस प्रकार के ज्ञान से पुरुषोत्तम प्रकट हुआ। कबीर कहता है, मैं उसी के रंग में अनुरक्त हूँ। दुनियाँ के और लोग भ्रम में भूले हुए हैं, जब कि मैं राम-रसायन (जिसकी सिद्धि ऊपर बताई गई) में उन्मत्त हूँ।

दीरघ नाद—लम्बी अवधि तक गूँजने वाला नाद।

मेषुली (सं० मेखला) =वह कपड़ा जिसे साधु लोग गले में डाले रहते हैं, कफनी, अलफी। **सींगी** (सं० शृंग) =सींग का बाजा जिसे योगी लोग अपने पास रखते हैं और विशिष्ट अवसरों पर बजाया करते हैं।

चोंगी =भभके की नली जिससे मदिरा चूती है। **कनक कलस**—संभवतः सहस्रार का प्रतीक (यद्यपि पद में इसका उल्लेख नहीं किया गया है)।

[४१]

यह रघुनाथ की माया शिकार खेलने चली तो इसने चतुर मृगों (ज्ञानियों) को चुन-चुनकर मार दिया—इसने किसी को अपने निकट छोड़ा नहीं। इसने मौनी बाबा, बीर बाबा और दिगम्बर बाबा को मार दिया तथा यत्न करते योगी को भी मार दिया, जंगल में के जंगमों को मार दिया, इस प्रकार ऐ माया, तू दुर्धर्ष बनकर विचरण कर रही है। तूने वेद पढ़ते ब्राह्मण को मारा और सेवा करते स्वामी को मार दिया। अर्थ करते हुए मिश्र को तूने गले में फंदा डालकर पछाड़ दिया। शाक्तों की तू हर्ता-कर्ता (सर्वस्व) है, किन्तु हरिभक्तों की तू चेरी है। दास कबीर राम की शरण में है इसलिए जैसे ही तू आई वैसे ही उसने तुझे लौटाया।

चिकारे=मृग विशेष। नेरें=निकट।

अपरोगी=जिसे रोका न जा सके, दुर्निवार्य, दुर्धर्ष।

[४२]

एक सुहागिनी (माया) जो दुनिया भर को प्यारी है, समस्त जीव-जन्तुओं की नारी है। स्वामी मरता है, किन्तु वह नारी रोती नहीं है, क्योंकि उसका रखवाला कोई और ही हो जाता है। उस रखवाले का फिर विनाश होता है। इस प्रकार यहाँ भले ही वह भोगविलास कर ले, अन्त में उसे नर्क ही मिलता है। उस सुहागिनी के गले में हार सुशोभित होता है जो संतों को विष के समान लगता है, यद्यपि सांसारिक प्राणी उसे देखकर प्रसन्न होते हैं। वह कर्कशा श्रृंगार करती है, किन्तु संतों के सामने बिचारी ठिठकी फिरती है। संत जब भागता है तब यह उसके पीछे पड़ जाती है, किन्तु गुरु के शब्दों की मार से डरती है। शाक्त की यह पिंडपरायणा है, किंतु मेरी दृष्टि में प्यासी डाइन जैसी लगती है। अब मैंने इसका भेद पा लिया जबकि गुरुदेव कृपालु होकर मुझे मिले। कबीर कहता है कि अब यह मुझसे दूर टल गई और संसारी व्यक्तियों के अंचल (निकट) जा पड़ी है।

पखिआरी=पक्ष या दुराग्रह करने वाली, झगड़ालू, कर्कशा। परांइनि (सं० परायणा)--प्रवृत्त, तुल० सत्यपरायण। त्रिखि=तृषार्त, प्यासी

[४३]

राम दुहाई अर्थात् राम साक्षी है, कबीर तो बिगड़ गया; ऐ मेरे भाई, तुम मत बिगड़ो !! चन्दन के पास जो वृक्ष हुआ वह बिगड़ते-बिगड़ते चन्दन हो गया। पारस मणि को जो लोहा छूता है, वह बिगड़ते-बिगड़ते कंचन हो जाता है। गंगा में जो जल मिलता है, वह बिगड़ते-बिगड़ते गंगोदक हो जाता है। कबीर कहता है, इसी प्रकार जो राम कहता है वह बिगड़-बिगड़ कर राम ही हो जाता है !!

राम दुहाई—जिसके नाम की दुहाई दी जाती है या जिसकी गुहार (आह्वान) लगाते हैं उसे साक्षी बनने के लिए कहा जाता है; अतः 'राम दुहाई' = राम साक्षी है। संसार की दृष्टि से जो बिगड़ना है, वही कबीर की दृष्टि से बनना है। बड़ा तीक्ष्ण व्यंग है।

[४४]

ऐसे लोगों से क्या कहा जाय ? जो जोग भक्ति से पृथक् हो गये हैं उनसे सदैव भयभीत रहना चाहिए। न हरि का यश सुनते हैं, न हरिगुण गाते हैं लेकिन बातों से आसमान गिराते है। स्वयं तो चुल्लू भर भी पानी नहीं देते और निंदा उसकी करते हैं जो गंगा को लाया। ऐसे लोग स्वयं भी नष्ट होते हैं और दूसरों को भी बिगाड़ते हैं। (इतने मूर्ख होते हैं कि) उसी घर में आग लगा कर उसी में सोते हैं। औरों पर हँसते हैं और स्वतः काने हैं; ऐसे मूर्खों को देखकर कबीर लज्जित है।

[४५]

'राम राम राम' में रमे रहिए, लेकिन शाक्त से यह नाम भूलकर भी न कहिए। कुत्ते को स्मृति सुनाने से क्या, और शाक्त से परमात्मा का गुणगान करने से क्या ? कौवे को कपूर चराने से क्या और विषधर को दूध पिलाने से क्या ? अमृत ले लेकर नीम को सींचा जाय, लेकिन, कबीर कहता है, उसकी कड़वाहट की बान (स्वभाव) नहीं जाती।

[४६]

हाय, हरिजन से जगत् लड़ता है लेकिन भला कहीं पतिंगा गरुड़ को खा

सकता है ? संसार मे एक ऐसा आश्चर्य देखो कि श्वान हाथी के सवार को खदेड़ता है ! मैंने एक ऐसा अचम्भा देखा कि जम्बुक केसरी से लेखा कर रहा है ! कबीर कहता है कि ऐ भाई, राम का भजन करो अन्यथा दास की अधम गति कभी न जायगी।

विशेष—सांसारिक व्यक्ति और हरिभक्त मे इतना अन्तर है जितना पतिंगे तथा गरुड़ में, श्वान तथा हाथी के सवार में और गीदड़ तथा शेर मे होता है।

[४७]

विचार कर चलो और सँभलकर रहो जो कि मैं पुकार कर कह रहा हूँ। यदि तुम्हारे हृदय के अंतर्गत राम का नाम नही आया तो तुम अपने जीवन को जुए के समान हार गये। मूड मुड़ाकर और कानो में मजूषा पहन कर फूले क्या बैठे हो ? बाहर भले ही देह मे खेह (राख, भभूत) लिपटी हो किन्तु भीतर तो घर (हृदय) लुट चुका है। तुमने (मिथ्या) गौरव मे नगरी और ग्राम बसाए जिससे तुम्हे हाम काम हो गया और तुम अहकारी हो गये किन्तु यम जब तुम्हारे गले में रस्सी डालकर खींचेगा तब तुम्हारी क्या प्रतिष्ठा रहेगी ? कपूर छोड़कर तुमने गाँठ मे विष बाँधा इसलिए तुम्हारे पास न मूलधन रह गया न उसका लाभ रह गया अर्थात् सब कुछ गँवा बैठे। किन्तु मेरे राम की अभयपद नगरी है, ऐसा जुलाहा कबीर कहता है।

अंतरगति='अंतर्गत' का अधिकरण रूप। मंजूसा=बहुमूल्य पत्थर। बहुमूल्य पत्थर (लाल, जवाहिर आदि) सुरक्षा के लिए मंजूषा (पिटारी) मे रखे जाते थे। कदाचित् इसीलिए कालांतर मे उन्हें 'मंजूषा' ही कहा जाने लगा।

गालिव=सं० गौरव>गारव>गारिव>गालिब। तुल० नानक-वाणी वडहंसु अलहणीआ १-२ :

आगै सर पर जाणा जिउ मिहमाणा काहे गारबु कीजै।

हाम काम=अमुक कार्य मैंने किया, इस प्रकार की वासना।

[४८]

ऐ मुल्ला, तुम ईश्वरीय न्याय कहो अन्यथा इस प्रकार (बाह्याचार से) जीव का भ्रम नही जाता है। तू सजीव प्राणी (पशु) को उसके शरीर का

विनाश करने के लिए लाया और उसकी मिट्टी (मृतकाया) को बलि चढ़ा दिया, किन्तु जो ज्योति स्वरूपी खुदा था वह तो हाथ आया नहीं, फिर बताओ तूने हलाल क्या किया ? वेद और किताब को क्यों झूठ कहते हो ? झूठा वह है जो इन पर विचार न करे। सभी घटों में जब तू एक (अल्लाह) को ही समझता है, फिर क्यों बलि के पशुओं को भिन्न मानकर मारता है । तू मुर्गी मारता है, बकरी मारता है और साथ ही 'हक़-हक़' करके अल्लाह की दुहाई देता है । जब सभी जीव मालिक के प्यारे हैं तो तुम्हारा किसकी ओट में उद्धार होगा ? तेरा हृदय अपवित्र है इसलिए तूने पाक अल्लाह को पहचाना नहीं और उसका मर्म जाना नहीं । कबीर कहता है कि इस प्रकार बिहिश्त (स्वर्ग) छोड़कर तेरा मन दोज़ख (नरक) पर ही लगा है ।

माटी=मिट्टी, शव, शरीर । कतेब=किताब, मुसलमानों का धर्मग्रंथ (क़ुरआन मजीद) । भी=पुनः । तुल० ढोला मारूरा दूहा १८२ :

भरइ पलट्टइ भी भरइ भी भरि भी पलटेहि ।
ढाढ़ी हाथ संदेसड़ा धण विललंती देहि ॥

हक्क (अ० हक़्क़)=सत्य, सत्यस्वरूप परमात्मा । ओलै = ओट में, शरण में । भिसति (फ़ा० बिहिश्त)=स्वर्ग, जन्नत । दोजग (फ़ा० दोज़ख)= नर्क, जहन्नम ।

[४६]

ऐ मियाँ, तुमसे बात करना निरर्थक है । हम दीन हीन, खुदा के सेवक हैं और तुम्हारे मन को रजोगुण अच्छा लगता है । आदि धर्म के स्वामी अल्लाह ने कभी जोर जुल्म का आदेश नहीं दिया, तुम्हारे मुर्शिद और पीर (जो हिंसा को धर्मविहित बतलाते हैं) कौन हैं और बताओ वे कहाँ से आए ? रोजा करने, नमाज गुजारने और कलमा पढ़ने से बिहिश्त नहीं मिलेगा, सत्तर काबे शरीर के ही भीतर हैं, अगर उन्हें कोई करना जान ले । मालिक को पहचान कर तू अपने जी मे दया का भाव ला, तभी तू बिहिश्त में साझीदार होगा । एक मिट्टी के नाना वेष धारण कर सभी में ब्रह्म समाया हुआ है (लेकिन इस भावना से वंचित

होने के कारण) कबीर कहता है कि बिहिश्त (स्वर्ग) छोड़कर तेरा मन दोज़ख (नरक) से ही प्रसन्न है।

मसकीन (अ० मिस्कीं)=दीन, दरिद्र, सरल। राजस=रजोगुण, भौतिक ऐश्वर्यों की ओर प्रवृत्ति। अवलि दीन=अव्वल दीन, प्रथम धर्म, आदि धर्म। फुरमाया=फ़र्माया, आदेश दिया। बोलियों में 'फुरमाना' रूप ही प्रचलित है। मुरसिद=(अ० मुर्शिद)=धर्मगुरु। पीर=गुरु। मालमनीं=धन दौलत। तुल० नानक-वाणी जपु ३३-३—

जोरु न जीवणि मरणि नह जोरु। जोरु न राजि मालि मनि सोरु॥

[५०]

ऐ लोगो, ऐ भाइयो, इसे जान-बूझ कर भूलो नहीं कि सृष्टिकर्त्ता में सृष्टि समाई रहती है और सृष्टि में सृष्टिकर्त्ता उसके समस्त जीवों में समाया रहता है। अल्लाह ने प्रथमतः एक नूर (प्रकाश) उत्पन्न किया, उसी कुदरत के सब बन्दे हैं। जब एक ही नूर से उसने सारे जगत् की सृष्टि की तो कौन भला है और कौन बुरा है ? उस अल्लाह की गति किसी ने जानी नहीं, गुरु ने ही गुड़ के समान मीठा उपदेश दिया है जिससे, कबीर कहता है, मैंने पूरे (ब्रह्म) को पा लिया और समस्त जीवों में मैंने उसी एक साहब को देखा।

कुदरति (अ० कुद्रत)=प्रकृति, दैवी शक्ति। नूर=प्रकाश।

[५१]

ऐ जीव, तू एक दिन चला जायगा, यह मैंने जान लिया है क्योंकि जिसको देखता हूँ उसको फिर नहीं देखता हूँ, वे माया में लिपटे रहते हैं (और विनष्ट हो जाते हैं)। वल्कल-वस्त्र पहनने से क्या और वन में निवास करने से क्या ? ऐ मूर्ख, पत्थर अर्थात् मूर्ति पूजने से क्या और शरीर पर जल डालने अर्थात् स्नान करने से क्या ? ज्ञानी, ध्यानी और अनेक उपदेष्टा इस संसार में हैं लेकिन यह सब पाखण्ड है। कबीर कहता है, एक राम नाम बिना यह जगत् माया में अन्धा बना रहता है।

धंधा=ढकोसला, पाखंड। तुल० क० ग्र०, सभा संस्करण, रमैणी

पृ० २२६ : धंध बंध कीन्हें बहुतेरा। 'धोग धरम धज धंधक धोरी' (मानस बालकांड) में 'धंधक' = धंध + क अर्थात् ढोंगी।

[५२]

यह मालिन भूली है, केवल सद्गुरु देव जाग्रत है। मालिन पत्ती तोड़ती है लेकिन पत्ती-पत्ती में जीव है और जिस मूर्ति के लिए वह पत्ती तोड़ती है वह मूर्ति निर्जीव है। गढ़ने वालों ने तेरी छाती पर पाँव रखकर तुझे गढ़ा। ऐ मूर्ति, यदि तू सच्ची है तो उस गढ़ने वाले को खा जा। लड्डू, घृत, लपसी आदि अपार पूजा चढ़ती है, किन्तु पूजा कर उसे पुजारी ले जाता है—मूर्ति के मुख में छार देकर। पत्ती मे ब्रह्मा, पुष्प में विष्णु और मूल-फल में महादेव हैं। तीन देवताओं को तू प्रत्यक्ष तोड़ती है तब सेवा किसकी करती है? मालिन भूली है दुनिया भूली है, हम नही भूले हैं। कबीर कहता है, हम राम द्वारा रक्षित हैं, इसलिए ऐ हरिराय, मेरे ऊपर कृपा कर।

लावन = स्निग्ध पदार्थ, घृत।

पाती ब्रह्मा पुह्रप बिसनूं...आदि के लिए तुलनीय—

मूलो ब्रह्मा त्वचा विष्णुः शाखा शङ्करएव च।

[५३]

मेरी जिह्वा पर विष्णु हैं, नयनो मे नारायण हैं, हृदय मे गोविन्द निवास करते हैं। यम दरवाजे पर जब लेखा मांगने लगा तब तू क्या मुकुन्द कहता है (मुकुन्द का नाम लेता है)? तू ब्राह्मण है, मैं काशी का जुलाहा हूँ; तू मेरा ज्ञान नही जानता। तूने सब सासारिक राजाओं-महाराजाओं से याचना की, मेरे यहाँ (अथवा मेरा) राम पर ध्यान है। पूर्व जन्म में मैं ब्राह्मण था—जब कि मेरे भाग्य ओछे हो गए थे और मैं तपस्या से हीन हो गया था। फिर राम देव की सेवा मे चूक (त्रुटि) पड़ी, उसने मुझे पकड़ कर इस जन्म में जुलाहा बना दिया (व्यंजना यह है कि वही ग़ल्ती मत दुहराओ; नही तो तुमको भी मेरी तरह जुलाहा होना पड़ेगा)। मैं गोरू (पशु) हूँ और हे ब्राह्मण ! तुम ग्वाले और गुसैयाँ (स्वामी) हो—हम जैसे अज्ञानियों के तुम जन्म-जन्मान्तर के संरक्षक हो। लेकिन तुमने मुझे कभी पार उतार कर (बेहद्दी मैदान में) नही चराया

(सदैव एक सीमित चारागाह में चराया अर्थात् सांसारिकता का ही पाठ पढ़ाया) तुम मेरे कैसे स्वामी हो ? भवसागर में डूबते हुए मुझे कुछ उपाय करना चाहिए जिससे इसका संतरण कर तू तीर लग सके। राम नाम का जप कर उसी का बेड़ा बांधो, तुम्हारे लिए यही उपदेश कबीर कह रहा है।

कहसि =कहता है (म० पु० वर्तमानकालिक क्रियापद)। गोरू<सं० गोरूप=ढोर, पशु अर्थात् अज्ञानी। गुआर<सं० गोपाल=ग्वाला, पशुपालक अर्थात् हम जैसे अज्ञानियों के संरक्षक। गुसांई<सं० गोस्वामी=मालिक, स्वामी (जनपदीय बोली में पशुओं के स्वामी को उनका गुसैयाँ कहा जाता है)। खसम (अ०)=पति, स्वामी। बेरा<बेड़ा—लट्ठों का समुच्चय जिसपर आदमी या सामान आदि नदी के पार उतारे जाते हैं।

विशेष—समस्त पद वक्रोक्तियों तथा व्यंजनाओं से पूर्ण है। 'पूरब जनम हम बाम्हन होते'''''आदि' में गीता का सदर्भ है (तु० ६-४१ : शुचीना श्रीमतां गेहे *योगभ्रष्टोभिजायते—अर्थात् योगभ्रष्ट व्यक्ति पवित्र आचरण वाले श्रीमानों के* घर में जन्म लेता है) और व्यंग्य यह है कि 'ओछे करम तपहीना' अर्थात् योग-भ्रष्ट होने पर ही ब्राह्मण कुल में जन्म होता है, अतः ब्राह्मण होने का बहुत घमण्ड मत करो ! कबीर जब यह मानते हैं कि उनको जुलाहा इसी कारण बनना पड़ा कि पूर्वजन्म में ब्राह्मण होने के बावजूद उनसे ईश्वर की आराधना में त्रुटि हो गई थी तो उसकी व्यंजना यह है कि तुम (ब्राह्मण) भी वही त्रुटि कर रहे हो जिससे मुझे डर लग रहा है कि कहीं तुम भी अगले जन्म में पकड़ कर जुलाहा न बना दिए जाओ। कुछ लोग इस उक्ति की व्यंजना न समझ कर इसका यह तात्पर्य लेते हैं कि कबीर जाति-पाँति में विश्वास करते थे अथवा ब्राह्मण कुल में जन्म लेने की साध उनके मन में बनी ही रही। किन्तु यह कल्पनाएँ निराधार हैं, जैसा कि उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है। अगली द्विपदी में तो कबीर का व्यंग बड़ा ही तीखा है। उनका कथन है कि सामान्य जन तो ढोरों की तरह अज्ञानी होते हैं, उनकी सुरक्षा तथा कल्याण का भार सम्पूर्ण रूप से उनके मालिक पर अर्थात् ज्ञानी ब्राह्मणों पर रहता है; लेकिन वह गुसैयाँ कैसा जो एक ही जगह रोज जानवरों को चरने के लिए छोड़ कर स्वयं चैन की नींद

सोए और कभी भी पार उतार कर अच्छी चरागाह न दिखावे ? आक्षेप है ऐसे ब्राह्मणों पर जो बासी शास्त्रों तथा कर्मकाण्डों में लोगों को उलझा कर उनका शोषण करते हैं।

[५५]

, यदि मैं बावला हूँ तो भी, ऐ राम, तुम्हारा ही हूँ; दुनिया के लोग मेरा मर्म क्या जानें ? मनमाना माला-तिलक धारण कर लोगों ने राम को खिलौना समझ रक्खा है। किन्तु मैं न पत्ती तोड़ता हूँ न देवमूर्ति की पूजा करता हूँ, क्योंकि राम-भक्ति के विना यह सारी सेवा निष्फल है। सद्गुरु को पूजता हूँ, उसी की सदा आराधना करता हूँ और इसी प्रकार की सेवा से उसके दरबार में सुख पाता हूँ। (इस आचरण पर) लोग कहते हैं कि कबीर पगला गया है, लेकिन कबीर का मर्म राम भलीभाँति जानता है।

[५५]

सारी दुनिया सयानी है, केवल मैं ही बावला हूँ। मैं तो बिगड़ गया, मेरे साथ कोई दूसरा न बिगड़े। मैं न विद्या पढ़ता हूँ और न शास्त्रार्थ करना जानता हूँ। मैं तो हरि-गुण कहते सुनते बावला हो गया हूँ। मैं स्वयं बावला नहीं हुआ हूँ, राम ने मुझे बावला बना दिया है और मेरे सद्गुरु ने मेरा सारा भ्रम जला दिया है। मैं अपनी मति भ्रष्ट करके बिगड़ गया हूँ लेकिन मेरे सम्बन्ध में कोई भ्रम मे भूलो नही। बावला वह है जो अपने को न पहचाने। जो अपने को पहचानता है वही उस एक (राम) को जानता है। जो अब (राम को जान लेने पर) उन्मत्त नही हुआ वह कभी उन्मत्त नही हो सकता। कबीर कहता है, मैं तो राम ही के रंग मे रँग गया हूँ।

[५६]

क्यो रे पंडितो, तुम किस कुमति मे उलझे हो ? सारे परिवार सहित डूब जाओगे—ऐ अभागे, जो तुम राम का जप नही करते ! तुम्हारे वेद पुराण पढ़ने की क्या अच्छाई समझी जाय ? वह वैसा ही है जैसे गधे के ऊपर चन्दन लाद दिया ! राम नाम का रहस्य जान नही पाए, कैसे पार उतरोगे (तुम्हारा कैसे उद्धार होगा) ? जीव वधते हो और उसे धर्म के रूप मे प्रतिपादित करते हो;

तो कहो भाई; अधर्म कहाँ है ? परस्पर को तो मुनिवर मान बैठे—फिर किसको कसाई कहा जाय ? ज्ञान-नेत्र से वंचित अन्धे लोगो, तुम स्वयं तो कुछ जानते नहीं (अथवा तुम्हें अपनी तरु तो जानकारी नहीं—निज स्वरूप की पहचान नहीं); किसको समझाते फिरते हो ? पूंजी के लिए विद्या बेचते हो (उपार्जन के लिए शास्त्र-ज्ञान का उपयोग करते हो), इस प्रकार जीवन व्यर्थ चला जाता है। नारद का वचन है, व्यास उसी का पुराणों मे प्रतिपादन करता है, शुकदेव से जाकर पूछो, कबीर भी वही कहता है कि राम का ही रमण करने से उद्धार होगा—नहीं तो भाई, तुम डूबे ही हो !

पंडिआ < सं० 'पंडित' का तिरस्कारसूचक सबोधन (तुल० अवधी-'पंडितवा') सिउं = समेत। खर चन्दन जस भारा = गधे की पीठ पर चन्दन (जिसकी सुगन्धि से गधे को कुछ नहीं लेना देना)। उसी प्रकार पोंगापन्थी ब्राह्मण भी शास्त्रों की तोतारटन्त करता है—उनमें छिपे गम्भीर ज्ञान से उसका कोई सरोकार नहीं रहता। थापहु < सं० स्थापय् = उपस्थापित करते हो, प्रतिपादित करते हो, मानते हो। जीअ बधहु...धादि—इस द्विपदी मे भी पूर्ववर्ती पद की भाँति कबीर के व्यंग की तीक्ष्णता का परिचय मिलता है जिस कला मे कबीर हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं। अबिरथा—स० व्यर्थ < हिं० 'बिरथा' मे 'अ' का निरर्थक आगम। बोलियों मे इस प्रकार के और भी रूप मिलते हैं, जैसे स० स्नान < अवधी असनान, राज० इसनान।

[५७]

कहो पंडित, कौन जगह पवित्र है जहाँ बैठ कर मैं भोजन कर सकूं ? (ससार मे पवित्र कुछ भी नहीं है) माता अपवित्र है, पिता भी अपवित्र है, जो फल लगते हैं (सतति होती है) वे भी अपवित्र हैं। आना भी अपवित्र, जाना भी अपवित्र, अभागों का मरना भी अपवित्र। अग्नि भी अपवित्र, पानी भी अपवित्र, अपवित्र स्थान में बैठ कर भोजन भी पकाया जाता है। अपवित्र कलछी से अन्न परोसा जाता है और अपवित्र ही अपवित्र को खाता है। गोबर भी अपवित्र, चौका भी अपवित्र, चौके में जो रेखा खींची गई वह भी अपवित्र है। कबीर कहता है, वे ही लोग पवित्र हैं जो हरि का भजन कर निर्विकार हो जाते हैं।

बैसि<सं० विश्, स्था =बैठकर। कारा (देशज)—रेखा (दे० पाइअ० पृ० २३७)। ब्राह्मण लोग भोजन बनाते या करते समय एक रेखा खींच देते हैं जिसके भीतर दूसरों का प्रवेश वर्जित रहता है। विशेष—कबीर ने ब्राह्मणों की छुआछूत के ढकोसलों से चिढ़ कर उनके सारे खटराग को अपवित्र घोषित कर दिया—यहाँ तक कि माता-पिता तक को अशुद्ध बता दिया, क्योंकि हाड़मांस के शरीर मे इतनी गंदगी भरी हुई है कि उसके रहते हुए पवित्रता का दावा कौन कर सकता है? इसीलिए कबीर ने मन की निर्मलता पर बल दिया है जो उनके अनुसार हृदय से हरि का स्मरण करने से ही संभव है, वाह्याडंबर से नही।

[५८]

न आऊँगा, न जाऊँगा और न मरूँगा, न जिऊँगा (आवागमन तथा जीवन-मरण आदि से मुक्त हो जाऊँगा); गुरु के सकाश मे भक्ति का अमृत रस पिऊँगा। कोई माला फेरता है, कोई तस्वी फेरता है, किन्तु ऐ लोगो, देखो ये दोनों पेशेवर (व्यवसायी) हैं। कोई मक्के जाता है कोई काशी; किन्तु दोनों के गले में (कामना का) पाश पड़ा हुआ है। कबीर कहता है—ऐ नर लोगो (मनुष्यो) सुनो न हम किसी के हैं, न हमारा कोई है (अर्थात् कोई किसी का नही, यही परमार्थ है; अतः सारे सांसारिक बंधन व्यर्थ हैं)।

तसबी<अ० तस्बीह =मुसलमानों की सुमिरनी (हिन्दुओं मे जो माला है, वही मुसलमानों में तस्बीह है)। कसबी<अ० कसब (=अध्यवसाय, व्यवसाय, वेश्या-वृत्ति) =पेशा करने वाले, व्यवसाय वृत्ति वाले (स्त्री० रूप में इसका अर्थ 'वेश्या' भी होता है, किन्तु यहाँ उसका केवल लाक्षणिक अर्थ ही लिया जा सकता है)। पासी<सं० पाश =बंधन; फंदा। लोई—सं० लोक>प्रा०लोय>पुरानी हिन्दी 'लोइ', इसी का दीर्घ रूप 'लोई' =लोग।

[५६]

कौन मरता है, कौन फिर आकर जन्म लेता है? और स्वर्ग-नर्क की गति कौन भोगता है? पाँचों तत्व अविगत ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, वही एक इन सब में निवास करता है। तत्त्वों के बिछुड़ जाने पर (विघटन होने पर) फिर वह (आत्मा) अपनी सहज दशा (स्वाभाविक या मूल स्थिति) में पहुँच जाता है जहाँ

न कोई रूप रेखा अथवा सीमा है, न आशा (अथवा दिशा) है। जल में कुम्भ है, कुम्भ में जल है—उसके बाहर और भीतर पानी ही पानी है। कुम्भ फूट जाने पर उसका जल बाहर के जल में समा जाता है—यह तत्त्व ऐ ज्ञानी, जरा समझाकर कहो। अरे भाई, जब आदि में आकाश, मध्य में आकाश, अंत में आकाश (आदि मध्यावसानेषु वही ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है), तो फिर कबीर कहता है, कर्म किसको लगता है ? (कर्म-भोग की) यह सारी शंका झूठ-मूठ उत्पन्न की गई है।

पद का भाव यह है कि मूल तत्त्व वस्तुतः ब्रह्म है; उसी से नाना नामरूपात्मक सृष्टि बनती है और उसी में जाकर फिर वह विलीन हो जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि वही कर्म कराने वाला भी है, वही करने वाला भी है—यह सब निमित्त मात्र के लिए है, अंततोगत्वा यह सारा जंजाल व्यर्थ सिद्ध होता है।

रेख < रेखा = आकार, रूपरेखा, तथा लकीर या सीमा रेखा।

आसा = आशा; दिशा (पाइअ० पृ० १२६)। तुल० मानस लंका० : देखु बिभीखन दच्छिन आसा। जल में कुम्भ...आदि—अद्वैतवाद के प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त प्रसिद्ध दृष्टांत। आदै गगनां...आदि—तुल० छान्दोग्य उपनिषद् १।९।१—अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति हो वाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्। अर्थात् "इस लोक की गति क्या है—आकाश (ऐसा प्रवाहण ने कहा); क्योंकि ये सब प्राणी आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही अस्त होते हैं। आकाश ही महत्तम है, आकाश ही उनका परायण है।"

डॉ० आनंद कुमारस्वामी का कहना है कि यह आकाश वस्तुतः पंचभौतिक आकाश नहीं है, बल्कि वेदांतसूत्रों का ब्रह्म या गणित का शून्य अथवा बिन्दु है। विश्व का मूल अव्यक्त अवस्था से व्यक्त में आता है, इसी को सृष्टि कहते हैं—जैसे केन्द्र का व्यक्त रूप परिधि है। यही गति जब उल्टी होती है तो व्यक्त अव्यक्त में समा जाता है—वृत्त केन्द्र में समा जाता है। इसी भाव को भास्कराचार्य ने बीजगणित में अनंत की परिभाषा करते हुए व्यक्त किया है—"अयमनन्तो राशिः खहर इत्युच्यते। अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।" अर्थात् वह राशि अनन्त कहलाती है जिसमें हर भाग शून्य या

विन्दु हो। इस राशि में चाहे कितना ही जोड़ या घटा दें, कोई विकार नही उत्पन्न होता (दे० 'ख' आदि शून्यवाची शब्द एवं आकाश के साथ उनका दार्शनिक संबंध, विश्वभारती पत्रिका, शांतिनिकेतन, खंड १ अंक १, जनवरी १९४२ ई०)।

इस प्रकार के उल्लेखों से कबीर के संबंध मे कुछ मान्य विद्वानो की यह धारणा कि कबीर को हिन्दू धर्म के तत्त्ववाद की गहरी जानकारी नहीं थी, बल्कि दूर पर बैठे हुए दर्शक की ही भांति उन्होंने उसे देखा था, न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती।

[६०]

ऐ सन्तो, वे भक्त पार उतर गये जिन्होंने मन मे अहंभाव निकाल दिया है। ऐ भाई, कोई कहता है कि मैं ज्ञानी हूँ और कोई कहता है कि मैं त्यागी हूँ, कोई कहता है, 'मैंने इंद्रियाँ जीत ली हैं'—इस प्रकार अहं की भावना सब में लगी हुई है। ऐ भाई, कोई कहता है कि मैं योगी हूं, कोई कहता है कि मैं भोगी हूँ लेकिन 'मैं' और 'तुम' तथा अहंकार यदि दूर नही फेका तो (इन व्याधियों से ग्रस्त) रोगी कैसे जिएगा ? ऐ भाई, कोई कहता है कि मैं दानी हूँ, कोई कहता है कि मैं तपस्वी हूँ, किन्तु आत्मतत्व और नाम (का महत्व) यदि निश्चयपूर्वक नही जाना तो सब माया में खप जायँगे। कोई कहता कि मैं युक्तियाँ जानता हूँ और कोई कहता है कि मैं रहनी (दिनचर्या का नियंत्रण) जानता हूँ, लेकिन यदि आत्मदेव से परिचय नहीं है तो यह सारी कथनी झूठी पड़ जायगी। कोई कहता है कि मैंने सारे धर्म साध लिये और सारे व्रत कर लिये, किन्तु अहंकार की गाँठ खुली नहीं और भारी कर्ज सिर पर लाद लिया। जो सारे गर्व और गुमान को दूर कर दे और जिसे अपनी निजी करनी का बल न हो (ईश्वर के किये पर विश्वास करे), कबीर कहता है, वही साहब का बन्दा ब्राह्मी स्थिति में पहुँच सकता है।

[६१]

ऐ मेरे ब्राह्मण, तू क्यों हरि का नाम नही कहता ? राम नही कहता, इसलिए ऐ पांडे, तू नर्क भोगता है। जिसके मुख मे वेद तथा गायत्री मंत्र

उन्नरित होते हैं वह ब्राह्मण क्यों बिसरण (भूल) करता है ? जिसके पाँव पर सारा संसार पड़ता है वही पंडित जीवघात (जीवहिंसा) करता है। स्वतः उन्न है, किन्तु नीच के घर भोजन करता है, घृणित कर्म करके अपना उदर भरता है। ग्रहण और अमावस्या पर खूब तल्लीनता से (भरपूर) भिक्षा माँगता है, इस प्रकार हाथ में चिराग़ रहते हुए भी तू कुएँ में गिरता है (ज्ञान का दंभ करते हुए भी पतन के गड्ढे में गिरता है)। तू ब्राह्मण है और मैं काशी का जुलाहा हूँ; मेरी तेरी बराबरी कैसे बन पड़ेगी ? कबीर कहता है—मैं तो राम का आश्रय लेकर उबर गया, लेकिन ऐ पाड़े, तू वेद के भरोसे डूब मरता है ! मुझमें तुझमें इतना बड़ा फ़र्क है !

दोजग<फ़ा० दोज़ख़=नर्क (मुसलमानों के अनुसार)। दोज़ख़ भरना=नर्क भोगना (मुहावरा)। बिसरु<सं० विस्मरण=भूल ('भूला-बिसरा' का प्रयोग युग्म रूप में भी होता है)। घींन<सं० घृणित (विशेषण), घृणा (संज्ञा); किन्तु यहाँ विशेषण के ही अर्थ में प्रयुक्त है। रुचि रुचि=मन लगा कर। कर दीपक लै...आदि—चिराग़ हाथ में लेकर कुएँ में गिरना (मुहावरा)।

[६२]

राम का रमण नहीं करता है, तू किस दंड से दंडित है ? ऐ अभागे, तू इसी तरह मर जायगा तो क्या करेगा ? कोई तीर्थ करता है, कोई केशों का मुंडन कराता है, इस प्रकार पाखण्ड-मंत्र और भ्रम का उपदेश प्राप्त करता है। विद्या और वेद का अध्ययन कर अहंकार करता है और अंतिम समय में मुँह के बल गिरता है। दुखी-सुखी होकर कुटुम्ब को जिमाता है किन्तु मरते समय अकेले ही अग्रसर होकर दुःख भोगता है। कबीर कहता है, यह कलियुग बड़ा खोटा है। जो कुल्हड़ में होता है वही उसकी टोंटी से निकलता है अर्थात् कलियुग में सबके हृदय में खोटापन भरा रहता है, वही उनके मुख से भी प्रकट होता है।

[६३]

सभी मद में मत्त हैं, कोई जाग नहीं रहा है, इसके साथ ही साथ १ (शरीर) को चोर (मनोविकार) मूसने लगे हैं। पंडित पुराण पढ़ कर म

है, योगी ध्यान धर कर मत्त है, तपस्वी तप के भेद में मत्त हैं और संन्यासी अहंकार में ही मत्त हैं। शुकदेव, उद्धव और अक्रूर जागते हैं, हनुमान अपना लांगूल लेकर जागते हैं; शंकर राम के चरणों की सेवा करते हुए जागते हैं, और कलियुग में नामदेव और जयदेव जागे हैं। जागना-सोना अनेक प्रकार का होता है, जो गुरुमुख होकर जागता है वही सच्चा जागने वाला है। चंचल मन के कारनामे अधम होते है इसलिए कबीर कहता है (मनमुखी न होकर) राम नाम का भजन करो।

गुरमुखि=गुरु के उपदेशों की ओर उन्मुख होकर। संत साहित्य में 'गुरुमुख' और 'मनमुख' परस्पर विरोधी भाव व्यक्त करते हैं। सामान्य सांसारिक जन 'मनमुखी' होते हैं, जबकि सच्चे संत 'गुरुमुख' होते हैं।

[६४]

बिना हरि (भजन) गंदा प्राणी भ्रम और असमंजस में पड़ कर विनष्ट हो गया। जिसके पास अपने उद्धार के लिए जाता हूँ वह स्वयं अनेक (सांसारिक) बन्धनों में बँधा मिलता है। योगी कहते हैं, 'योग ही अति मधुर है और भाई, कुछ नहीं'। लुंचित, मुंडित, मौनी और जटाधारी—ये लोग कहते हैं, सिद्धि प्राप्त हो गई है। पंडित, कलाकार, शूरवीर, कवि और दाता—ये लोग कहते हैं कि हम ही बडे है, लेकिन हरि पद (भक्ति-भाव) का विस्मरण हो जाने पर जैसे उपजते है वैसे ही व्यर्थ विनष्ट हो जाते हैं। विकारों को बाएँ-दाहिने छोड़ कर भक्तिभाव को दृढतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए (दाहिने-बाएँ न भटक कर सीधा मार्ग अपनाना चाहिए)। कबीर कहता है, (हरिपद या सहज दशा में इतना आनन्द है) जैसे गूंगा गुड़ खा ले—वह पूछने पर भला क्या उत्तर देगा ? तात्पर्य यह है कि भक्ति का आस्वाद केवल अनुभव की वस्तु है, वर्णन उसका नही हो सकता।

बिगूचे<सं० विकुंचित=असमंजस में पडे, विनष्ट हो गए। **आपु छुटकावन** -अपने को छुड़ाने के लिए, अपने उद्धार के लिए। **लुंचित मुंडित ...आदि**—दे० पीछे पद २८-८ की टिप्पणी। **गुनीं**<सं० गुणी -हुनरमंद, कलाकार। **हरि पद** -निस्त्रैगुण्य होने की स्थिति, सहज दशा, भक्ति भाव।

[६५]

ऐ लोगो, तुम बुद्धि के बड़े भोले (मूर्ख) हो। अगर कबीर काशी मे शरीर त्यागे (और उसे मुक्ति मिल जाय, जैसा कि हिन्दुओ का विश्वास है) तो फिर उसमें राम का क्या एहसान ? जो सेवक कुछ भी भावभक्ति का रहस्य जानता है, उसके लिए राममय हो जाना क्या अचरज की बात है ? जैसे जल ढुलक कर जल मे मिल जाता है, वैसे ही जुलाहा (कबीर) भी ढुलक कर (अपने मूल अंशी राम से) मिल गया। कबीर कहता है, ऐ लोगो, सुनो—कोई भ्रम में न भूलो। यदि हृदय में राम है तो क्या काशी और क्या मगहर ऊसर ?

भोरा=भोला, अज्ञानी। निहोरा<सं० मनोहार (?)=एहसान, कृतज्ञता, भरोसा। भाउ भगति<सं० भाव भक्ति = प्रेमा या अनुरागात्मिका भक्ति। ढ़रि =ढुलक कर। लोई—सं० लोक > प्रा० लोय > हिं० लोई = लोग। ऊखर<सं० ऊषर=ऊसर। बोलियों में मूर्धन्य 'ष्' के स्थान पर 'ख्' हुआ—जैसे सं० अभिलाषा>बोली 'अभिलाख'—अतः सं० 'ऊषर' का जनपदीय रूप 'ऊखर' हुआ।

विशेष—कबीर अपने जीवन के अंतिम दिनों मे कुछ कारणवश काशी छोड़ कर मगहर चले गए थे—जैसा कि उनके उपर्युक्त पद से तथा कुछ अन्य उल्लेखों मे स्पष्ट है। लोगों में यह अंधविश्वास था कि मगहर मे मरने मे मुक्ति नहीं मिलती। जीवन भर अंध मान्यताओं के विरोध मे संघर्ष करने वाले कबीर ने इसका निरसन किया है। उनके अनुसार हृदय में राम के प्रति भक्तिभाव होना चाहिए—फिर चाहे कोई काशी मे मरे, चाहे मगहर के ऊसर में, उसे मोक्ष अवश्य मिलेगा। भक्ति मे कबीर की पूर्ण निष्ठा थी। भक्ति का ही माहात्म्य बताने के लिए उन्होंने लोगों के सामने यह आदर्श रखा कि निकृष्ट जुलाहों के परिवार मे पोषित हो कर और मगहर जैसे अपवित्र स्थान मे शरीर-त्याग करने पर भी भक्ति के बल पर कबीर भवसागर से मुक्त हो सकता है (जिसका कि उन्हें पूर्ण विश्वास था—अन्य कोई विश्वास करे या न करे), आत्मश्लाघा के भाव से नहीं।

साखी

(१) सतगुर कौ अंग

राम नाम (जिसे गुरु ने दिया) की बराबरी में मेरे पास देने को कुछ नहीं है। क्या लेकर अर्थात् किस दक्षिणा के बल पर गुरु को तुष्ट किया जाय, यह साध मन में बनी बनी ही रही ।१।

पटंतरै—सं० पट्ट+तल>हि० पटतर=बराबरी में, उपमा में, तुल० क० ग्रं० प्रयाग, साखी ४-११, २ : तासु पटंतर नां तुलै, हरिजन की पनिहारि; तथा मानस, बाल० २४७-४ : जौ पटतरिअ तीय सम सीया । हौंस—अ० हवस् =चाह; साध, लालसा, हौंसला, अरमान । तुल० दादू, साखी २-११८,२: हौंस रही यह जीव मैं, पछितावा मन मांहि ।

सद्गुरु के समान दूसरा कोई सगा नहीं, ज्ञान अथवा चित्तशुद्धि के समान दूसरा कोई दान नहीं, प्रभु के समान दूसरा कोई हितैषी नहीं और हरिजन के समान दूसरी कोई जाति नहीं ।२।

सवां—सं० समान>हि० सवांन>सवां (जैसे : 'जहान' से 'जहां') । अन्य टीकाकारों ने अगले 'न' के साथ मिलाकर इसका अर्थ 'सवांन' के रूप में और 'को' का अर्थ 'कौन' के रूप में किया है, किन्तु पूरी साखी की वाक्य-रचना को दृष्टि में रखते हुए इन्हें पृथक् रखना युक्तिसंगत लगता है । आगे इसका स्त्रीलिंग रूप 'सइं' मिलने से इस धारणा को और भी अधिक पुष्टि मिल जाती है । को—यहां 'कोइ' (=कोई) का संक्षिप्त रूप ज्ञात होता है, 'कौन' के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है । सोधी =सुधि अथवा ज्ञान । जैसे 'भूल' से 'भोल' (क०ग्रं० साखी १-१८), 'छूत' में 'छोत' (क० ग्रं० साखी ६-५), 'सूझ' से 'सोझी', उदाहरण-तया 'गुरुग्रन्थसाहब' पृ० २७५-४ : तिस दास कउ सभ सोझी परै (गुरु अर्जुनदेव) पृ० ३०३-७ : बिनु सतगुर सोझी न पवै (वही) । 'सोधी' को अधिकांश टीकाकारों ने सं० 'शोधी' से व्युत्पन्न मानकर इसका 'शोधक' या 'साधु' अर्थ

किया है, किन्तु यह भ्रमात्मक ज्ञात होता है। वस्तुतः यह 'सुधि' या ज्ञान का बोधक है जो निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है—स्वामी रामचरण, अणभै-वाणी, साखी ३-६६ : सुमरण से सोधी भई, मास्यौ सार असार। दादू, साखी, १-११८-१ : सोधी नहीं सरीर की, औरों को उपदेस; १-११६-१ : सोधी नहीं सरीर की, कहै अगम की बात; १२-८६-१ : सूना घट सोधी नहीं, पंडित ब्रह्मा पूत; तथा १३-१२६-२ : सोधी नहीं सरीर की, तासनि का समझाइ (सोधी नहीं=समझ या ज्ञान नहीं)। सं० शुद्धि (=चित्तशुद्धि) से भी इसकी व्युत्पत्ति मानी जा सकती है, लेकिन 'सुधि' से इसकी व्युत्पत्ति मानना अधिक निरापद ज्ञात होता है। सईं—'सवां' का स्त्री० रूप। दाति—सं० 'दत्त' (=दिया हुआ) > दत्ति > दाति = दी जाने वाली वस्तु, दान या देन। दे० पाइअ० दत्ति= एक बार में जितना दान दिया जाय वह, अविच्छिन्न रूप से जितनी भिक्षा दी जाय वह। उदाहरणतया गुल० गुरुग्रन्थसाहब, पृ० ७३-१८ : दाति करहु मेरे दातारा (अर्जुनदेव); वही, पृ० १५०-६ (नीचे से) : लदे भराति होवै जिनु दाति (नानक); वही, पृ० ४४३-४ : नानक दाति दया करि देवै राम नामि निसतारी (रामदास); वही, पृ० ५०४-३ : सरवे जाचिक तूं प्रभु दाता दाति करे अपनै बीचार (नानक); तथा जायसी, पदमावत, ३६६-४ : दत्त सत्त एइ दूनौ भाई (दत्त = दिया हुआ)। सन्त-साहित्य में 'दाति' से ही बना हुआ 'दाती' (='दाति' करने वाला या दाता) शब्द मिलता है। उदाहरणतया दे० गुरुग्रन्थसाहिब, पृ० ८३-१४ : दाती साहब संदीआ किआ चलै तिसु नाल (नानक); जेवड़ साहिबु तेवड़ दाती दे दे करे रजाई (वही)। 'दाति' शब्द का प्रयोग राधास्वामी सत्संग में अब तक इसी अर्थ में होता है।

'सोधी' तथा 'दाति' सन्त-साहित्य के विशिष्ट शब्द हैं जिनके अर्थ से पूर्णतया अवगत न होने के कारण कबीर के लिपिकारों तथा टीकाकारों को प्रायः इनके सम्बन्ध में भ्रम हुआ है। 'दाति' का अर्थ अन्य टीकाकारों ने 'दाता' (<सं० दातृ) किया है।

चौंसठ दीपक जला कर चौदहों चाँद भी उगा ले (उद्भासित कर ले), किन्तु जिसके घर में सद्गुरु नहीं उसके घर किसका प्रकाश हो? ।३।

चौसठि दीवा—चौंसठ कलाएँ जिनका उल्लेख कामशास्त्र के ग्रन्थों में है, दे० वात्स्यायनकृत कामसूत्र। जोइ<सं० ज्योति=ज्योतित करना या जलाना।

चौदह चंदा—दूज से लेकर पूर्णिमा तक चांदनी के चौदह दिन होते हैं। इसी कारण इस्लाम मत मे चौदह कलाओं वाले चांद की कल्पना है, तुल० जायसी, पदमावत ३३८-२ : पदुमावति मे पूनिवँ कला; चौदह चांद उए सिंघला। कबीर का यह प्रयोग इस्लामी परम्परानुसार है, किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में 'चौदह चंदा' का तात्पर्य चौदह विद्याओं से है जिनका मनुस्मृति मे इस प्रकार उल्लेख है—

अङ्गानि वेदाश्च चत्वारो मोमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याह्येतांश्चतुर्दशः॥

अर्थात्, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस्, ज्योतिष, ऋक्, साम, यजुः, अथर्व, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये चौदह विद्याएँ हैं। मांहि<सं० 'मा' धातु=अटाना या पूरित करना। 'मांहि' यहाँ क्रि० वि० नही है, प्रत्युत क्रियापद है। घर=घट या अन्तःकरण। चांदिनौं<सं० चन्द्रिका=चाँदनी, रोशनी। तात्पर्य यह है कि कोई चौंसठ कलाओ तथा चौदह विद्याओं मे पारगत भले ही हो जाय, किन्तु यदि उसे गुरु का ज्ञान नही प्राप्त हुआ तो उसके हृदय का अज्ञानांधकार दूर नही हो सकता। गुरु-ज्ञान के अभाव मे पुस्तकीय विद्या को व्यर्थ बताया गया है।

अंधेरी रात के कारण (अज्ञानांधकार दूर करने के लिए) चौरासी लाख चंद्रमा पूरमपार उदित हुए, किन्तु बिना गुरु के सुझाए दृष्टि मंद ही रही।४।

चौरासी लख चंद=चौरासी लाख की संख्या जीव-योनियों के लिए अधिक प्रसिद्ध है, किन्तु कबीर का तात्पर्य यहाँ उनसे नही ज्ञात होता। 'रत्नकोश' नामक अप्रकाशित ग्रन्थ के आधार पर श्री अगरचंद नाहटा ने हेतु, तत्व, मोहन, कर्म, चित्र, अध्यात्म आदि चौरासी विज्ञानों के नाम दिए हैं (हिन्दुस्तानी, भाग १८, अंक १-२, जनवरी-जून १९४८, पृ० १३ पर उद्धृत)। चौरंगीनाथ के नाम से मिलने वाली 'प्राण सकली' में 'चौरासी खंड गनान (=ज्ञान) सवा लाख उपदेस' का संकेत है। संभव है, कबीर का तात्पर्य चौरासी ज्ञान-विज्ञानों से ही हो। चौरासी के लिए चौरासी लाख का प्रयोग अतिव्याप्ति के आधार पर माना

जा सकता है, जैसे बहत्तर कोठा के लिए कहीं-कहीं बहत्तर हज़ार संख्या भी मिलती है, अथवा तैंतीस देवताओं के लिए तैंतीस कोटि संख्या का प्रयोग होता है। अति अदै भए = भलीभाँति या पूरमपार उदय हुए।

यदि चेला में ही त्रुटि हो तो सद्गुरु बिचारा क्या करे? अन्यथा उसे चाहे जैसा उपदेश दिया जाय—जैसे बाँस की बाँसुरी को फूंक मार कर चाहे जैसा बजा लिया जाय। तात्पर्य यह है कि निर्मलहृदय शिष्य को प्रबोधन देना उतना ही सरल है जितना बाँसुरी बजाना।५।

परमोधिए < सं० प्रबोधनं=उपदेश दे। तुल० साखी २१-१,१ : औरां कौं परमोधतां, मुह्डे पड़िया रेत। तथा २१-३४,२ : औरां कौं परमोधतां, गया मुहरका माँहि।

जिसका गुरु भी अंधा है और चेला जनम का अंधा है तो दोनों अंधों में परस्पर ठेलमठेल होने से दोनों कुएँ में गिर मरते हैं।६।

जाचंध=सं० जा+अंध=जन्म से अंधा, तुल० दादू, साखी १२-४३ : झूठा सब अब झूठा जाचंध कहा मधु खानै। 'अंध' और 'जाचंध' में अंतर यह है कि पहला कुछ समय तक दिठियारा रह कर बाद में किसी कारणवश दृष्टि-विहीन हो सकता है जब कि दूसरा जन्म से ही वैसा रहता है।

अंधै अंधा ठेलिया—'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' न्याय में एक प्रसिद्ध दृष्टान्त है। समान भाव के लिए तुल० सरह—

जाव ण अप्पा जाणिज्जइ ताव ण सिस्स करेइ।
अंधे अंध कढाव तिम वेण वि कूव पड़ेइ।८।

—बागची, दोहाकोश, पृ० ५।

संशय ने सारे संसार को खा लिया, किन्तु संशय को किसी ने नहीं खाया। जो गुरु के शब्दों से अर्थात् उपदेशों से बिंधे हैं उन्होंने संशय को ही चुन-चुनकर खा लिया अर्थात् उनका संशय विनष्ट हो गया।७।

संसा < सं० संशयं। खद्ध=सं० खाद्+क्त प्रत्यय, भूतकालिक कृदंत। तुल० गोरखबानी पद ६०-६ : 'करसन पाहू रखवालू खाधू' अर्थात् पकी हुई खेती ने रखवाले को ही खा लिया है। जायसी ने 'खाधू' या 'खाधुक' का प्रयोग

कर्ता कारक में किया है, तुल० पदमावत ७२-५ : भै बियाधि तिस्ना सग खाधू। तथा ७८-६—

जौ न होत अस परमँस खाधू। कत पंखिन्ह कहं धरत बियाधू॥

अक्खिरां=अक्षरों द्वारा; आध्यात्मिक पक्ष में गुरु के उपदेश द्वारा। अवधी या भोजपुरी मे 'आखर' शब्द या वाक्य का बोधक है।

विशेष—श्री राहुल सांकृत्यायन संपादित 'दोहाकोश' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० ३२-३४) में उक्त दोहा सरह के नाम से भी मिलता है। वहाँ इसका पाठ है—

साङ्के साद्धउ सअल जगु, सङ्का ण केणवि लद्ध।
जे सङ्का सड़्कअउ, सो परमत्थ वि लद्ध॥

किंतु यह दोहा न बागची संपादित 'दोहाकोश' मे मिलता है और न महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री संपादित 'बौद्धगान ओ दोहा' में ही। भोट अनुवाद में भी इसकी छाया नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त ऊपर उद्धृत दोहे की द्वितीय पंक्ति के भ्रामक पाठ से भी यही प्रतिपादित होता है कि सरह की रचनाओं में यह प्रक्षिप्त है।

सद्गुरु सिकलीगर जैसा बनाइए जो ज्ञान रूपी मसकला फेर कर और शब्द रूपी छोलना से छील कर शिष्य के चित्त को दर्पण के समान निर्मल बना ले।८।

सिकलीगर—अ० सैकल+फ़ा० गर=सान धरने वाला, बर्तन या शीशे पर मुलम्मा करने वाला। मसकला—अ० मिसकलः=सिकलीगरों का हंसिए के आकार का एक औजार जिससे रगड़कर धातुओं पर चमक लाते हैं। सिकलीगर लोग मसकला फेरकर आरसी का मोर्चा छुड़ाते और उस पर चमक लाते थे, इसका उल्लेख बखना-वाणी में भी है, दे० पद १६४—३-६ :

काम क्रोध का मोरचा धरम करम को काठ।
आरसड़ी दीठे नहीं कबहूं सिकलीगर को हाठ॥
कारीगर सतगुर मिलै सबद मसकला लाइ।
आतम कीन्हीं ऊजली तामैं निरमल दरसन पाइ॥

यह रूपक संतों को इतना प्रिय है कि १७वीं शताब्दी के संत दरिया साहब (बिहार वाले) की वाणी में भी इसका प्रयोग मिलता है, दे० दरिया-ग्रंथावली, ज्ञान-स्वरोदय १२५-२६—

संत सिकलीगर खोजहु जाई। सुरचा सिकलि करहु तुम भाई॥
दिल ऐना होइ साफ तुम्हारा। दिन दिन अधिक जोति उजियारा॥

सद्गुरु सच्चा बहादुर है; उसने एक शब्द रूपी बाण जो फेंका तो उसके लगते ही मैं धराशायी हो गया और मेरे कलेजे में छेद हो गया।९।

सूरिवां<सूरमा=शूर वीर। **छेक**=छेद, छिद्र, तुल० साखी १५-१८, १ : कबीर बेड़ा जरजरा, फूटे छेक हजार। प्रा० 'छेव', तुल० जायसी, पदमावत ३०५,५,२ : तुम्ह काँटे मैं जिव पर छेवा। **परा करेजै छेक**—कलेजे में छेद हो जाना (मुहावरा) अर्थात् हृदय पर ऐसा आघात लगना जो जीवन भर न भुलाया जा सके। कबीर का तात्पर्य यह है कि सद्गुरु का उपदेश मन पर इतनी गहरी चोट कर गया है कि जीवन भर क्षण मात्र के लिए भी न भूलेगा।

(भवसागर में) डूब चुका था, किन्तु गुरु की (ज्ञान-) लहर चमक उठने पर उबर गया, क्योंकि जब देखा कि नाव जर्जर है तो उससे अलग उतर पड़ा।१०।

चमंकि=चमकि। **फरंकि**=फरकि। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी कबीर में मिलेंगे, जैसे सा० ९-४० में 'बिलगा' तथा 'बिलंगि'='बिलग्गा' तथा 'बिलग्गि'। प्राचीन नागरी प्रतियों में द्वित्व के लिए प्रायः अनुस्वार लगाते थे और पढ़ते समय उसे द्वित्व के रूप में पढ़ते थे जिसे आगे चलकर भ्रमवश मूल उच्चरित रूप ही समझ लिया गया। **बेरा**<बेड़ा=नाव, जहाज। यहाँ लौकिक, वैदिक कृत्यों से तात्पर्य है जिनके आश्रय से उद्धार पाना कठिन है। **जरजरा** (सं० जर्जर)=जीर्ण, छिद्रयुक्त-(विशेषतया नाव के प्रसंग में) तुल० अवधी 'झाझर'=छिद्रयुक्त। 'झाझर नैया' के प्रसंग लोकगीतों में बहुधा मिलते हैं। **फरंकि**<फ़ा० फ़र्क़=फ़ासले पर, पृथक्, तुल० अवधी **फरांके**=दूर।

सद्गुरु ने धीरज बँधाया जिससे दृढ़ता मिली और चित्त में स्थिरता आई। (इस प्रकार निश्चल) 'मानस' के तट पर कबीर ने राम नाम रूपी हीरों का व्यापार किया।११।

थापनि—सं० स्थापनं। थिति<सं० स्थिति=स्थिरता, थिराई, चित्त की निश्चंचलता। बनिजिया=व्यापार किया; सं० 'वाणिज्य' से हिं० बनिज और उससे नाम धातु बनिजना का भूतकालिक रूप।

संत-साहित्य में उत्कृष्ट साधक की हंसगति मानी गई है। राजहंसों का निवास मानसरोवर में माना गया है जहाँ वे मोती (अतिव्याप्ति से हीरा भी) चुगते हैं—दे० पद २८-१, २—

हरिजन हंस दसा लिए डोलें। निरमल नांव चवैं जस बोलें॥
मांन सरोबर तट के वासी। रांम चरन चित आंन उदासी॥

मानसरोवर का जल स्थिर रहने पर ही हीरे की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार मन के स्थिर होने पर ही हरि की प्राप्ति होती है, और मन की स्थिरता गुरु की कृपा से ही प्राप्त होती है। उक्त साखी की दोनों पंक्तियों में विचारों का यही पूर्वापर संबंध ज्ञात होता है।

सद्गुरु ने जब शब्द रूपी बाण मारा तो मैं गूंगा और बावला हो गया, कानों से बहरा हो गया और पाँवों से पंगु हो गया।१२।

यहाँ उन्मनी दशा का वर्णन है जिसमें सभी इन्द्रियाँ अपना कार्यव्यापार स्थगित कर देती हैं और साधक की दशा जीवन्मुक्त की सी हो जाती है।

सद्गुरु की महिमा अनन्त है, और उन्होंने मेरे प्रति अनन्त उपकार किए। उन्होंने मेरे अनन्त नेत्र खोल दिए (अर्थात् मेरे नेत्रों में ज्ञान की अनन्त ज्योति प्रदान की) जिससे मैं अनन्त प्रभु के दर्शन कर सकता हूँ।१३।

उपगार=सं० उपकार (अघोष अल्पप्राण का सघोष अल्पप्राण में परिवर्तन)।

उघारिया—सं० उद्घाटितं<प्रा० उग्घाडिया<हिं० उघारिया। तुल० मानस, बाल० १-५,४—

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियं होती॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥

लोक-वेद के पीछे लगा चला जा रहा था कि राह में सद्गुरु मिल गए जिन्होंने हाथ में ज्ञान का दीपक दिया अर्थात् सही रास्ता बताया। तात्पर्य यह कि लोक-

वेद द्वारा उपदिष्ट मार्ग वाह्याचार-प्रधान है जब कि सन्त-साधना अन्तर्मुखी है जिसका उपदेश कबीर को उनके गुरु द्वारा प्राप्त हुआ।१४।

पैंड़ा (देशज ?)=मार्ग।

(सद्गुरु ने) दीपक में (प्रेम भक्ति का) तेल भर दिया और कभी न समाप्त होनेवाली (ज्ञान की) बत्ती डाल दी। इस प्रकार उन्होंने मेरा सौदा पूरा कर दिया जिससे (संसार रूपी) हाट मे मुझे फिर आने की आवश्यकता नहीं रह गई।१५।

अघट्ट=न घटने वाली, असमाप्य। विसहूनां—सं० विसाधनं < अप० विस्साहण > हिं० विसाहन=क्रय की जाने वाली सामग्री, सौदा-सुलफ़। अवधी मे 'बेसहनो' शब्द इस अर्थ मे अब भी प्रचलित है। हट्ट=हाट, बाजार। संसार के लिए हाट का रूपक प्रसिद्ध है।

ज्ञान का प्रकाश करने वाला गुरु मिला है, इसे (तू कहीं) बिसरा मत देना, क्योंकि जब गोविंद ने कृपा की तभी ऐसा गुरु तुझे आकर मिला।१६।

(शिष्य को) सच्चा गुरु न मिला और न (गुरु को) सच्चा शिष्य मिला तो (समझो कि) लोभ का दाव खेला गया। (परिणामतः गुरु शिष्य) दोनो (लोभ रूपी) पत्थर की नौका पर बैठ कर मँझधार में डूब मरे।१७।

डांव=दाव (दन्त्य स्पर्श का मूर्धन्यीकरण), पाँसे या कुश्ती आदि की चाल।

पाथर की नाव—पत्थर की नौका पानी में कभी तैर नहीं सकती। सांसारिकता का आनन्द लेते हुए भी परमार्थ साधने का उपक्रम करने वालो के लिए पत्थर की नाव पर चढ़कर नदी पार करने का रूपक भक्ति-साहित्य मे बहुधा प्रयुक्त हुआ है।

सद्गुरु के मिलने से क्या हुआ, यदि मन में भ्रम बना है। यदि पास चढाने मे ही अथवा गोवर आदि मे वस्त्र नष्ट हो जाय तो विचारी मजीठ क्या करे।१८।

मनि=मन मे। पाड़ी=डाल रखी है, तुल० सा० २६-२ : पंडित पाड़ी वाट। पासि (देशज)=पास चढाने मे या कुछ वस्तुओं के मिश्रण के साथ पानी में भिगोने की प्रक्रिया मे। तुल० पाइअ० अन्य वस्तु का अल्प मिश्रण, यथा :

'निच्चुन्नो तंबोलो पासेण विणा न होइ जह रंगो' (पृ० ५६३)। कई वृक्षों की छाल या जड़ी-बूटियों को एक में मिलाकर किसी द्रव मे भिगो रखने की प्रक्रिया को अब भी ग्राम्य बोली में 'पास डालना' कहते हैं। पांशु (=गोबर खाद) से भी इसकी व्युत्पत्ति संभव है। दोनों अर्थ समान रूप से उपयुक्त प्रतीत होते हैं। **बिनंठा**—स० विनष्ट>प्रा० विणट्ठ>हिं० बिनट्ठा, बिनंठा (यथा 'बिलग्गा' से 'बिलंगा') तुल० साखी २४१ मूल बिनंठा मानई। **चोल**=मजीठ, तुल० चोली पंन=मजीठ का पत्ता, दे० बिहारी-रत्नाकर, दोहा ६६८, पृ० २७४: फीको परै न बरु फटै, रंग्यो चोल रंग चीर। तथा ढोला मारूरा दूहा, १३६—

ढोला ढोलाहर मुझे, दीठउ घणे जणेह।
चोल बरन्ने कप्पड़े, सावर घन अणेह॥

ऐ सद्गुरु, मैं सौ-सौ बार आपकी बलिहारी जाता हूँ जिन्होंने मुझे मनुष्य से देवता बना दिया और ऐसा करने में तनिक भी देर न लगी।१६।

द्यौहाड़ी—सं० दिवस (हिं० द्यौस) से व्युत्पन्न दीहाड़ै, दिउहाड़ी या द्यौहाड़ी संत-साहित्य मे प्रायः मिलते हैं। क० ग्र० (सभा) के पाठ 'द्यौ हाडी के बार' को ग्रहण कर टीकाकारों ने पृथक पृथक् अर्थ दिया है—यथाः रामचन्द्र श्रीवास्तव, कबीर-साखी-सुधा, पृ०२—"जैसे कि वह गुरु हाँडी के द्वार अर्थात् मुख के सदृश है। हाँडी में पड़कर जिस प्रकार अन्न पक जाता है उसी प्रकार गुरु के उपदेश में पड़कर शिष्य साधक बन जाता है। अथवा "मैं जन्म जन्मातर से दाँव हारता चला आ रहा था।" तारकनाथ बाली, कबीर-साखी-सार, पृ० १: "अनेक जन्म कितनी बार लिए" (हाडी=हड्डी अर्थात् शरीर या जन्म)। मुंशीराम शर्मा कबीर वचनामृत, पृ० १: "माया (शरीर-हाडी) को उनके ऊपर न्योछावर करता हूँ।" पुष्पपाल सिंह: "मैं इस शरीर को गुरु के ऊपर न्योछावर करूँ।"

अपने सच्चे दिल का सद्गुरु के प्रति सदका (निछावर) किया तो कलियुग हमसे लड़ पड़ा कि मेरा (कलि का) ही वचन पक्का है। अर्थात् मेरा सद्गुरु की शरण में जाना कलियुग को अच्छा न लगा, यह सोच कर कि अब उसके माया-जाल का मेरे ऊपर कोई प्रभाव न पड़ेगा।२०।

सदकै<अ० सदक़ा=निछावर; तुल० गुरु अर्जुनदेव, गुरग्रन्थसाहब, पृ०

८१-२० : कयतु न जाइ अकथु मुआमी सदकै जाइ नानकु वारिआ; अथवा दादू, पद ३१६-४,५ : सदिके करूँ संसार, सब जग वारनैं । दिल अपनीं का सांच = अपनी सांच दिल का । कबीर ने कहीं-कहीं विशेषण विशेष्य के पश्चात् रखा है जो उनकी भाषा की एक विशिष्टता है । उन्होंने 'दिल' का प्रयोग भी सर्वत्र स्त्रीलिंग में किया है—कदाचित् 'रूह' या 'आत्मा' (दोनों स्त्रीलिंग) का समानार्थी होने के कारण । मुहकम (अ०)=दृढ़, पक्का, मुस्तैद, तुल० क० ग्रं० पद ७२-४ : जौ गढपति मुहकम होई; तौ लूटि सके नहिं कोई । सांच=वचन, बात, कथन ।

सद्गुरु हाथ में धनुष ले (शब्द के) तीर चलाने लगा और एक जो प्रेमपूर्वक फेंका तो वह शरीर के भीतर तक भिद गया ।२१।

बाहन लागा = बहाने लगा, फेंकने या चलाने लगा । बाहा = बहाया, फेंका । भिदा<सं० भिद्=वेध दिया या विध गया ।

कबीर कहता है कि सद्गुरु का हथियार (शब्द) भीतर (=हृदय में) धँस गया है, उसने चंचल मन को मार डाला और (शिष्य) न अब हँसता है न बोलता है, उसकी उन्मनी (या अनमनी) दशा हो गई है ।२२।

उनमनीं—योग की एक स्थिति जिसमें मन अपनी चंचलता छोड़ निश्चल हो जाता है और उसकी वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है—"यो मनः सुस्थिरो भावः सैवावस्था मनोन्मनी" (हठयोगप्रदीपिका २-४०) । यहाँ विशेष बात यह उल्लेखनीय है कि कबीर के 'उनमनी' शब्द का कहीं-कहीं दुहरा, तिहरा अर्थ होता है । उससे योग की स्थिति का बोध होता ही है, साथ ही 'इस मन' (जीव) की तुलना में 'उन मन' (अर्थात् परम मन या परमात्मा) का और अनमने होने (लोक प्रचलित अनमनेपन) का भी बोध हो जाता है । मेला मारि=मारि मेला, मार डाला (मुहावरा) ।

मन को मारने का तात्पर्य उसकी चंचलता दूर कर उसे निश्चंचल बनाने से है । मन की स्थिरता में ही चरम सिद्धि है, यह विचार सिद्धों, नाथों तथा संतों में समान रूप से मान्य है—तुल० सरहपा—

पजरे जिम पगि पक्खि णिच्चल । तिमि मणराउ सगइ सुद्ध सचल ॥

सो जइ लइअइ अहूंत विरालें। चलइ न बुल्लइ टिठअइ निरालें ॥
—राहुल संपादित दोहाकोश, दो० १२३, पृ० २८।

कण्हपा : सहजे णिच्चल जेण किअ समरसे णिअ मणराअ।
सिद्धो सो पुण तक्खणे णउ जरामरणहं भाअ ॥
—बागची, दोहाकोश १६, पृ० २५।

गोरखनाथ : कथंत गोरख मुकति लै मानवा मारि ले रे मन द्रोही।
जिनि मन ग्रासे देवदांण। सो मन मारिलै रे गहि गुरग्यांन बांण ॥
—गोरखबानी, सबदी २२८, २२९।

अवधू गुर परिचय मन प्रतीत। निसचल असथिर चंचल चीत ॥
—वही, गोरखदत्त गुष्टि, सबदी ४०।

सद्गुरु ने शब्द रूपी बाण (=फलक) भर कर उसे सीधी मूँठ से पकड़ कर मारा। वह शिष्य के नंगे शरीर पर जो लगा तो उससे दावाग्नि-सी फूट निकली अर्थात् ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो उठी।२२।

मूंठि=मुट्ठी, चुटकी, उँगलियों का संपुट जिससे बाण का निचला सिरा पकड़ा जाय। परि करि सूधी मूंठि =निशाना सही कर, खूब सम्हलकर।

उघारै—सं० उद्घाटितं>अप० उग्घाडिअ>हि० उघाड़ै>उघारै= अनावरण, नग्न; साधक के निर्मल (=कोरे) चित्त से तात्पर्य है।

दवा=दावाग्नि, आध्यात्मिक पक्ष में ज्ञानाग्नि।

कबीर कहता है कि मुझे भारी गुरु मिल गया (जिसमें मेरा अस्तित्व उसी प्रकार घुलमिल कर एकमेक हो गया) जैसे आटे में नमक मिल जाय। मेरी जाति-पाँति और कुल सब मिट गए, अब मुझे किस नाम से पुकारोगे ?।२४।

गरुआ—गुरु, गंभीर; गरिमावान्। मिलि गया आंटे लौंन—आटे में नमक मिल जाने पर नमक की कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती, उस मिश्रण को आटा ही कहा जायगा। इस दृष्टान्त से कबीर का तात्पर्य यह है कि उनका लघु व्यक्तित्व सद्गुरु के महान् व्यक्तित्व में एकमेक होकर अपनी पृथक् सत्ता खो बैठा है।

अच्छा हुआ जो गुरु मिल गए, नहीं तो हानि हो जाती। दीपक की ज्योति

पर जैसे पतिंगा पड़ता है वैसे ही तू भी माया-मोह में पड़कर विनष्ट हो जाता, इसे (ऐ कबीर) तू भलीभांति जान ले ।२५।

नहितर—नहीं तो, अन्यथा । पूरी जांनि—भलीभांति जान ले ('जांनि' आज्ञा सूचक क्रिया) ।

माया दीपक के समान है और मनुष्य पतिंगे के समान मँडराकर उसी में पड़ता है । कबीर कहता है कि गुरुप्रदत्त ज्ञान से एकाध ही उबरते हैं ।२६।

परत, उबरत—वर्तमान काल, अन्य पुरुष, एकवचन क्रिया रूप, तुल० साखी १६-२६, २ : थिर थिर कांम करत, त्यौं त्यौं काल हसत ।

कबीर कहता है कि सद्‌गुरु ने ज्ञान की चौकी पर आसीन होकर यह दिखाया दिया कि निर्भय और निश्शंक होकर केवल ब्रह्म (=कैवल्य स्वरूप) का चिंतन कर ।२७। केवल=केवल ब्रह्म, अद्वैत ब्रह्म ।

गुरु और गोविंद तो वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं, दूसरा तो यह आकार (शरीर) है । अहंभाव मिटा कर प्रभु का भजन करे तभी उसका दर्शन मिल सकता है । ।२८।

दूजा=द्वैत, द्विविधा । आकार=शरीर, क्षणभंगुर रूप ।

कबीर कहता है कि जिसे सच्चा गुरु नहीं मिला उसकी (आध्यात्मिक) शिक्षा अधूरी रही, वह यति का स्वांग बना कर व्यर्थ घर-घर भिक्षा मांगता फिरता है ।२९। सीख—सिखाई जाने वाली बात, शिक्षा, उपदेश ।

मेरा सद्‌गुरु ऐसा सूरमा है जैसे लोहार गरम लोहे को कसनी देकर कंचन (=स्वच्छ) बना देता है और उसका सार तत्त्व निकाल लेता है ।३०।

यहाँ गुरु द्वारा शिष्य के चरित्र-निर्माण का रूपक लोहार द्वारा कच्चे लोहे से पक्का लोहा बनाने की प्रक्रिया से बाँधा गया है ।

तातै लोहि—गरम लोहे को । कसनीं—आग में तपाकर परीक्षा लेने की क्रिया, तुल० दादू, पद ९९-३—

भाव भगति भाठी भई काया कसणी सारो रे ।

तथा पद १९१ : कनक कसौटी अगिन मुख दीजै कंप सबै जलि जाई ।
यौं तो कसनी सांच सहैगा झूठ सहै नहिं भाई ॥

कंचन=स्वच्छ (विशेषण)।

सद्गुरु द्वारा प्रदत्त साहस तथा धैर्य से तत्व रूपी निश्चल निधि प्राप्त हुई, अब मुनाफ़े अथवा सिद्धि में अनेक साझीदार खड़े हो गए हैं, किन्तु कबीर किसी को बाँटेगा नहीं।३१।

निपजी—सं० निस् (उपसर्ग)+पद् (धातु)=लाभ, उपज, सिद्धि।

ऊँचे नीचे बाजार के चौरस्ते पर या चौक में चौपड़ की बिसात बिछी है। सद्गुरु के साथ खेलने में कभी हार न होगी। अर्थात् इड़ा-पिंगला अथवा श्वास-प्रश्वास के मिलन बिंदु (=त्रिकुटी) में चौपड़ का खेल रचा है। सद्गुरु की सहायता से साधना करने पर ही उसमें सिद्धि की आशा है।३२।

चौपड़—सं० चतुष्पट्ट (?)=बिसात पर चार रंगों की चार-चार गोटों से खेला जाने वाला एक खेल। चौहटै—चौ (=चार)+हाट, चौमुहानी या चौक में, आध्यात्मिक पक्ष में त्रिकुटी। अरध उरध—इड़ा-पिंगला अथवा श्वास-प्रश्वास, तुल० गोरखबानी पद २७-२ : अरध उरध बाजार मड्या है, गोरख कहै बिचारं। तथा सबदी ७८-१ : अरध उरध बिच धरी उठाई। मधि सुंनि मैं बैठा जाई॥ महात्माओं की बाणी (भुरकुड़ा, गाज़ीपुर) पद ४०६-३ अर्ध उर्ध के मद्धि निरंतर जगमग जगमग जोति जगावन। कबीर, पद १३०-१० : अरध उरध बिच लाइलै अकास। सुंनि मंडल महिं करि परगास।

प्रेम का पांसा पकड़ा और शरीर को बिसात बनाया, सद्गुरु ने खेलने के दाँव-पेंच बतलाए—कबीरदास (ऐसा चौपड़ का खेल) खेलता है।३३।

पांसा—सं० पाशक>प्रा० पासग>अप० पासअ>हि० पाँसा - हाथीदाँत का बना चौपहल टुकड़ा जो चौपड़ के खेल में प्रयुक्त होता है। डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल ने पदमावत छंद ३१२ की टीका (पृ० ३०४) में इस खेल का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताया है कि चौपड़ के खेल में तीन पाँसे होते हैं। प्रत्येक पाँसे के एक पहल में एक बिंदी (इक्का) और दूसरे में दो (दुआ) तथा तीसरे में पाँच (पंजा) और चौथे पहल में छः (छक्का) बिंदियाँ होती हैं। तीनों पाँसों को हाथ में लेकर ढरकाते हैं। जो बिंदियाँ तीनों पाँसों के ऊपर के पहल में दिखाई पड़ती हैं उन्हीं का जोड़ दाँव कहलाता है। सबसे छोटा दाँव १+१+१

+१ = तीन का और सबसे बड़ा दाँव ६+६+६ = अठारह का होता है।

सारी—सं० शारि = (१) गोट, (२) चौपड़ का कपड़ा या बिसात। यहाँ दूसरा ही अर्थ अभिप्रेत है, तुल० पाइअ० पृ० ११११ : सारि = पाँसा खेलने का रंगबिरंगा साँचा। जायसी ने 'पद्मावत' में इसका प्रयोग पहले अर्थ में किया है। चौपड़ की बिसात में चार 'फड़ें' होती हैं। प्रत्येक फड़ पर तीन पंक्तियों में घर बने रहते हैं, प्रत्येक पंक्ति में आठ घर, इस प्रकार प्रत्येक फड़ में २४ और चारों फड़ों में ९६ घर होते हैं। चारों फड़ों के बीच में एक बड़ा घर होता है जिसे 'कोठा' कहते हैं। 'घर' को संस्कृत में 'पद' कहते हैं।

सद्गुरु ने रीझ कर मुझे एक ऐसा प्रसंग सुनाया कि प्रेम का बादल बरस गया जिससे सारा अंग तरबतर हो गया।३४।

(२) प्रेम विरह कौ अंग

विरह रूपी सर्प शरीर में निवास करता है, उस पर कोई भी मंत्र काम नहीं कर रहा है। राम का वियोगी पहले तो जी नहीं सकता, अगर जीता है तो बावला होकर।१।

भुवंगम—सं० भुजंगम : = सर्प।

विरह रूपी सर्प ने अन्दर पैठ कर कलेजे में घाव कर दिया अर्थात् डँस लिया, किन्तु साधु उससे अपना अंग मोड़ेगा नहीं (हार नहीं मानेगा)—वह जैसे चाहे वैसे डँसे। २।

अंग मोड़ना—पीठ दिखाना (मुहा०)।

आकाश में क्रौंच पक्षी बोले तो गरज कर वर्षा हुई जिससे सब ताल भर गए। जो स्वामी से वियुक्त हैं उनके क्या हाल हुए होंगे ? । ३ ।

इसकी कई व्यंजनाएँ हो सकती हैं—

(१) वर्षा ऋतु में प्रिय का वियोग असह्य होता है। ऐसी वर्षा में जिसके स्वामी परदेश होंगे, उन पर क्या बीतती होगी ?

(२) क्रौंच के बोलने पर मेघ द्रवीभूत होकर वर्षा से ताल तलैया भर देते हैं। जिसका प्रियतम वियुक्त होने के कारण अपनी प्रिया की पुकार सुन ही नहीं सकता उसके ऊपर क्या बीतती होगी ?

(३) कवि समय है कि सारस की जोड़ी कभी नहीं विछुड़ती, दे० पदमावत ३३-६ : कुरलहिं सारस भरे हुलासा। जिअन हमार मुवहिं एक पासा ॥ वही, ४०८-४,५ : जस बिछुरी सारस के जोरी। वर्षा के पूर्व सारस का बोलना भी प्रसिद्ध है। व्यंजना यह है कि जिसको कभी वियोग का अनुभव नहीं हुआ ऐसे सारस के कुरलने पर जब ताल तलैया भर जाते हैं तो फिर किसी वियोगी की पुकार पर क्या दशा होगी—तब तो कदाचित् प्रलय ही हो जायगा।

कुंजां—सं० क्रौंच>प्रा० कुंज (बहुवचन रूप)।

कुरलियां—अ० क्रि० बहु० व० बोले, तुल० पाइअ० कुरुल—अ० क्रि० आवाज करना, कौए का बोलना (पृ० ३२१)। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ कुररी पक्षी किया है जो भ्रमात्मक है। यह दोहा 'ढोला मारूरा दूहा' (रचनाकाल सं० १४५० से पूर्व) में भी मिलता है—

राति जु सारस कुरलिया, गूंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल ॥

किन्तु यह कहना कठिन है कि कबीर की रचनाओं में यह साखी 'ढोला मारू' से ली गई है। स्वाभाविकता और सार्थकता की दृष्टि से भी कबीर की साखी का पाठ उक्त दोहे से प्राचीनतर लगता है। (उत्तर भारती, भाग ६, अंक१ में डॉ० माताप्रसाद गुप्त का निबंध भी द्रष्टव्य)। अधिक संभव यह लगता है कि कदाचित् यह दोहा अपभ्रंश-काल से ही लोकप्रचलित रहा होगा और 'ढोला मारूरा दूहा' तथा कबीर की रचनाओं में वह पृथक्-पृथक् रूप से आ गया होगा, क्योंकि दोनों में ही लोक तत्वों का अधिक प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

रात की बिछुड़ी चकई सवेरे चकवा से आ मिलती है, किन्तु जो राम से विमुख हैं वे न दिन में मिलते हैं, न रात में अर्थात् उनके दुःख का अन्त कभी न होगा। ६।

ज्ञान की लपट उठी जिससे (वासनाओं की) झोली जल गई और (बाह्याडंबर का) खप्पर टूट-फूटकर चूरचूर हो गया। योगी (साधक) तो रम गया, आसन पर केवल भभूत रह गई। ९।

झल—सं० ज्वाल<अप० ज्झल, तुल० संदेशरासक, छंद १३७ : उल्हवइ

ण केणवि विरह् ज्झाल पुणवि अग परीहिमियहि। दे० साखी २-३१,२ तथा १-२,१ की भी टीका। खपरा—नाथ योगी का भिक्षापात्र जो बाह्याडंबर का प्रतीक ज्ञात होता है। झोली, खप्पर आदि नाथयोगियों के विशिष्ट उपादान प्रसिद्ध हैं। योगी का रूपक होने के कारण यहाँ उनका प्रतीकात्मक संकेत है। जायसी ने पदमावत (१२६७) में रतनसेन के लिए 'खप्पर लीन्ह भेस कै राता' का उल्लेख किया है।

रत्नाकर से (अर्थात् अपने उत्पत्तिस्थान से) बिछुड़ गया है, अतः हे शंख (=जीव) तनिक ठहरो, अभी से इतनी चिन्ता न करो। प्रतिदिन सूर्योदय होने पर तुम मन्दिर-मन्दिर में (द्वार-द्वार) धाड मार कर चिल्लाते फिरोगे। तात्पर्य यह है कि जीव जब तक परमात्मा से बिछुड़ा रहेगा, उसे दिन-दिन दुःख ही भोगना पड़ेगा।१०।

रैनाईर<सं० रत्नाकर (आध्यात्मिक पक्ष मे ब्रह्म)। कुछ टीकाकारों ने श्यामसुन्दर दास की क० ग्रं० का 'रैणादूर' पाठ ग्रहण किया है जो विकृत है, अतः अर्थ में भी भ्रम हो गया है। सख<स० शख, जिसकी उत्पत्ति समुद्र से होती है (आध्यात्मिक पक्ष मे यहाँ जीव का प्रतीक)। प्रायः कुछ अन्य टीकाकारो ने आगे आने वाले 'म' को संयुक्त कर 'सयम' का अर्थ चक्रवाक किया है जिससे मूल भाव मे व्यतिक्रम आ गया है। 'म' वस्तुतः अपभ्रंश का निषेधात्मक अव्यय है जो कबीर मे मिलता है और जिसके उदाहरण प्राचीन हिन्दी रचनाओ में अनेक मिलते हैं। म—'मत' या 'नही' का सूचक अपभ्रंश अव्यय,<सं० मा, तुल० सरह, दोहाकोश, पहला दोहा—'बम्हणेंहि म जानन्तह्हि भेउ' अर्थात् ब्राह्मण रहस्य नही जानता। झूरि=चिन्ता मे कृश हो जाना; तुल० क० ग्रं० साखी १४-३० : ऊँचा बिरिख अकासि फल, पखी मूवा झूरि; तथा अब्दुल रहमानकृत सन्देसरासक, छन्द ६५ : झूरन्त मणे (टीका—क्लिश्यन्ती अर्थात् दुःखी होती हुई), तथा छन्द १२३ : झूरंतिहि लोयणिहि (टीका-क्षरद्भ्या)। धाहड़ी—धाड़ या दहाड़, जोर की आवाज। देसी—'देना' का भविष्यत्कालिक रूप। धाहड़ी देसी=धाड़ दोगे या धाड मार कर चिल्लाओगे।

होता। जिसे यह आग लगती है या तो वह अनुभव करता है या वह जिसने यह आग लगाई है। ७। दौ<सं० दव=दावाग्नि।

विरह की गीली लकड़ी (ज्ञान विरह से सिक्त शरीर) सूं-सूं कर धीरे-धीरे सुलग रही है। अगर समूची एक साथ जल जाय तो कम से कम विरहाग्नि में शनैः-शनैः जलने से मुक्त तो हो जाय। ८।

सपचै औ धुंधुवाइ—गीली लकड़ी का फुसफुसाकर सुलगना।

विरहिणी तुम्हारे दर्शन की उत्कंठा में उठ-उठकर फिर जमीन पर गिर पड़ती है। उसके मर जाने पर जो दर्शन दोगे वह किस काम आवेगा?। ९।

भी=पुनः। तुल० ढोला मारूरा दूहा, छंद १८२ : 'भरइ पलट्टइ भी भरइ भी भरि भी पलटेहिं' अर्थात् भरती है फिर गिरती है, फिर भरकर फिर गिरती है।

कबीर कहता है कि हे राम, मरने के बाद मत मिलो। लोहा (जंग लगते-लगते सड़ कर) यदि मिट्टी में मिल गया तो स्पर्शमणि किस काम में आएगी?। १०।

मरने के बाद मुक्ति की अपेक्षा कबीर जीवितावस्था में ही परमात्म-मिलन की साधना पर बल देते हैं—दे० पद १२३-१२ : पिंड परे जिउ जैहै जहां। जीवत ही लै राखो तहां।

पारस—एक कल्पित पत्थर या मणि जिसके स्पर्श से लोहे का सोना हो जाना प्रसिद्ध है।

मुझे भवसागर के बीच सर्पों का बेड़ा (विरह) मिला है, यदि छोड़ूं तो डूब जाऊं और यदि इसका आश्रय लूं तो विरह सर्प बाँह में डँस ले। ११।

भेरा<हि० बेड़ा=जलराशि पार करने के लिए लट्ठों का समूह, नाव।

बिना नुकीले फलक के पोये भाले से अर्थात् विरह से जो मारा गया है वह अवश्य ही मर जायगा। वह वृक्ष तले पड़ा कराह रहा है—आज मर जाय या कल। १२।

बिन सर पोयरी भालि—वह भाला जिसमें अनी न हो। नोकदार भाले से मारा हुआ तुरन्त मर जाता है। पोये भाले से मारा हुआ भी मरता है, लेकिन

+ १ = तीन का और सबसे बड़ा दाँव ६ + ६ + ६ = अठारह का होता है।

सारी—सं० शारि = (१) गोट, (२) चौपड़ का कपड़ा या बिसात। यहाँ दूसरा ही अर्थ अभिप्रेत है, तुल० पाइअ० पृ० १११६ : सारि = पाँसा खेलने का रंगबिरंगा साँचा। जायसी ने 'पदमावत' में इसका प्रयोग पहले अर्थ में किया है। चौपड़ की बिसात में चार 'फड़' होते हैं। प्रत्येक फड़ पर तीन पंक्तियों में घर बने रहते हैं, प्रत्येक पंक्ति में आठ घर, इस प्रकार प्रत्येक फड़ में २४ और चारों फड़ों में ९६ घर होते हैं। चारों फड़ों के बीच में एक बड़ा घर होता है जिसे 'कोठा' कहते हैं। 'घर' को संस्कृत में 'पद' कहते हैं।

सद्गुरु ने रीझ कर मुझे एक ऐसा प्रसंग सुनाया कि प्रेम का बादल बरस गया जिससे सारा अंग तरबतर हो गया।३४।

(२) प्रेम विरह कौ अंग

विरह रूपी सर्प शरीर में निवास करता है, उस पर कोई भी मंत्र काम नहीं कर रहा है। राम का वियोगी पहले तो जी नहीं सकता, अगर जीता है तो बावला होकर।१।

भुवंगम—सं० भुजंगम : = सर्प।

विरह रूपी सर्प ने अन्दर पैठ कर कलेजे में घाव कर दिया अर्थात् डँस लिया, किन्तु साधु उससे अपना अंग मोड़ेगा नहीं (हार नहीं मानेगा)—वह जैसे चाहे वैसे डँसे।२।

अंग मोड़ना—पीठ दिखाना (मुहा०)।

आकाश में क्रौंच पक्षी बोले तो गरज कर वर्षा हुई जिससे सब ताल भर गए। जो स्वामी से वियुक्त हैं उनके क्या हाल हुऐ होंगे ?।३।

इसकी कई व्यंजनाएँ हो सकती हैं—

(१) वर्षा ऋतु में प्रिय का वियोग असह्य होता है। ऐसी वर्षा में जिसके स्वामी परदेश होंगे, उन पर क्या बीतती होगी ?

(२) क्रौंच के बोलने पर मेघ द्रवीभूत होकर वर्षा से ताल तलैया भर देते हैं। जिसका प्रियतम वियुक्त होने के कारण अपनी प्रिया की पुकार सुन ही नहीं सकता उसके ऊपर क्या बीतती होगी ?

(३) कवि समय है कि सारस की जोड़ी कभी नहीं बिछुड़ती, दे० पदमावत ३३-६ : कुरलहिं सारस भरे हुलासा। जियन हमार मुवहिं एक पासा॥ वही, ४०८-४,५ : जस बिछुरी सारस कै जोरी। वर्षा के पूर्व सारस का बोलना भी प्रसिद्ध है। व्यंजना यह है कि जिसको कभी वियोग का अनुभव नहीं हुआ ऐसे सारस के कुरलने पर जब ताल तलैया भर जाते हैं तो फिर किसी वियोगी की पुकार पर क्या दशा होगी—तब तो कदाचित् प्रलय ही हो जायगा।

कुंजां—सं० क्रौंच>प्रा० कुंज (बहुवचन रूप)।

कुरलियां—अ० क्रि० बहु० व० बोले, तुल० पाइअ० कुरुल—अ० क्रि० आवाज करना, कौए का बोलना (पृ० ३२१)। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ कुररी पक्षी किया है जो भ्रमात्मक है। यह दोहा 'ढोला मारूरा दूहा' (रचना-काल सं० १४५० से पूर्व) में भी मिलता है—

राति जु सारस कुरलिया, गूंजि रहे सब ताल।
जिणको जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल॥

किन्तु यह कहना कठिन है कि कबीर की रचनाओं में यह साखी 'ढोला मारू' से ली गई है। स्वाभाविकता और सार्थकता की दृष्टि से भी कबीर की साखी का पाठ उक्त दोहे से प्राचीनतर लगता है। (उत्तर भारती, भाग ६, अंक१ में डॉ० माताप्रसाद गुप्त का निबंध भी द्रष्टव्य)। अधिक संभव यह लगता है कि कदाचित् यह दोहा अपभ्रंश-काल से ही लोकप्रचलित रहा होगा और 'ढोला मारूरा दूहा' तथा कबीर की रचनाओं में वह पृथक्-पृथक् रूप से आ गया होगा, क्योंकि दोनों में ही लोक तत्वों का अधिक प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

रात की बिछुड़ी चकई सवेरे चकवा से आ मिलती है, किन्तु जो राम से विमुख हैं वे न दिन में मिलते हैं, न रात में अर्थात् उनके दुःख का अन्त कभी न होगा। ६।

ज्ञान की लपट उठी जिससे (वासनाओं की) झोली जल गई और (बाह्याडंबर का) खप्पर टूट-फूटकर चूरचूर हो गया। योगी (साधक) तो रम गया, आसन पर केवल भभूत रह गई। ५।

झल—सं० ज्वाल<अप० ज्झल, तुल० संदेशरासक, छंद १३७ : ज्झलवइ

न केणवि विरह ज्जाल पुणवि अंग परीहिंसिअहिं। दे० साखी २-३१,२ तथा १-२,१ की भी टीका। खपरा—नाथ योगी का भिक्षापात्र जो बाह्याडंबर का प्रतीक ज्ञात होता है। झोली, खप्पर आदि नाथयोगियों के विशिष्ट उपादान प्रसिद्ध हैं। योगी का रूपक होने के कारण यहाँ उनका प्रतीकात्मक संकेत है। जायसी ने पदमावत (१२६७) में रतनसेन के लिए 'खप्पर लीन्ह भेस कै राता' का उल्लेख किया है।

रत्नाकर में (अर्थात् अपने उत्पत्तिस्थान से) बिछुड़ गया है, अतः हे शंख (=जीव) तनिक ठहरो, अभी से इतनी चिन्ता न करो। प्रतिदिन सूर्योदय होने पर तुम मन्दिर-मन्दिर में (द्वार-द्वार) धाड़ मार कर चिल्लाते फिरोगे। तात्पर्य यह है कि जीव जब तक परमात्मा से बिछुड़ा रहेगा, उसे दिन-दिन दुःख ही भोगना पड़ेगा।१०।

रैंनाईर<सं० रत्नाकर (आध्यात्मिक पक्ष में ब्रह्म)। कुछ टीकाकारों ने सभा की क० ग्रं० का 'रैंणाइर' पाठ ग्रहण किया है जो विकृत है, अतः अर्थ में भी भ्रम हो गया है। सख<सं० शंख, जिसकी उत्पत्ति समुद्र से होती है (आध्यात्मिक पक्ष में यहाँ जीव का प्रतीक)। प्रायः कुछ अन्य टीकाकारों ने आगे आने वाले 'म' को संयुक्त कर 'संयम' का अर्थ चक्रवाक किया है जिसने मूल भाव में व्यतिक्रम आ गया है। 'म' वस्तुतः अपभ्रंश का निषेधात्मक अव्यय है जो कबीर में मिलता है और जिसके उदाहरण प्राचीन हिन्दी रचनाओं में अनेक मिलते हैं। म—'मत' या 'नहीं' का सूचक अपभ्रंश अव्यय,<सं० मा; तुल० सरह, दोहाकोश, पहला दोहा—'बम्हणेहि म जानन्तहि भेउ' अर्थात् ब्राह्मण रहस्य नहीं जानता। झूरि=चिन्ता में कृश हो जाना; तुल० क० ग्रं० साखी १४-३० : ऊँचा बिरिख अकासि फल, पंखी मूवा झूरि; तथा अब्दुल रहमानकृत सन्देशरासक, छन्द ९१ : झूरन्त मणे (टीका—क्लिश्यन्ती अर्थात् दुःखी होती हुई), तथा छन्द १२३ : झूरंतिहि लोयणिहि (टीका-क्षरदम्यां)। धाहड़ी—धाड़ या दहाड़, ज़ोर की आवाज़। देसी—'देना' का भविष्यत्कालिक रूप। धाहड़ी देसी—धाड़ दोगे या धाड़ मार कर चिल्लाओगे।

हृदय में (विरह की) दावाग्नि जल रही है, किन्तु धुआँ प्रत्यक्ष प्रकट नहीं

होता। जिसे यह आग लगती है या तो वह अनुभव करता है या वह जिसने यह आग लगाई है। ७। दौ<सं० दव=दावाग्नि।

विरह की गीली लकड़ी (ज्ञान विरह से सिक्त शरीर) सूं-सूं कर धीरे-धीरे सुलग रही है। अगर समूची एक साथ जल जाय तो कम से कम विरहाग्नि में शनैः-शनैः जलने से मुक्त तो हो जाय। ८।

सपचै औ धुंधुवाइ—गीली लकड़ी का फुसफुसाकर सुलगना।

विरहिणी तुम्हारे दर्शन की उत्कंठा में उठ-उठकर फिर जमीन पर गिर पड़ती है। उसके मर जाने पर जो दर्शन दोगे वह किस काम आवेगा ? । ९ ।

भी=पुनः। तुल० ढोला मारूरा दूहा, छंद १८२ : 'भरइ पलट्टइ भी भरइ भी भरि भी पलटेहि' अर्थात् भरती है फिर गिरती है, फिर भरकर फिर गिरती है।

कबीर कहता है कि हे राम, मरने के बाद मत मिलो। लोहा (जंग लगते-लगते सड़ कर) यदि मिट्टी में मिल गया तो स्पर्शमणि किस काम में आएगी ? । १० ।

मरने के बाद मुक्ति की अपेक्षा कबीर जीवितावस्था में ही परमात्म-मिलन की साधना पर बल देते हैं—दे० पद १२३-१२ : पिंड परे जिउ जैहै जहां। जीवत ही लै राखो तहां।

पारस—एक कल्पित पत्थर या मणि जिसके स्पर्श से लोहे का सोना हो जाना प्रसिद्ध है।

मुझे भवसागर के बीच सर्पों का बेड़ा (विरह) मिला है, यदि छोड़ूं तो डूब जाऊँ और यदि इसका आश्रय लूँ तो विरह सर्प बाँह में डँस ले। ११।

भेरा<हि० बेड़ा=जलराशि पार करने के लिए लट्ठों का समूह, नाव।

बिना नुकीले फलक के थोथे भाले से अर्थात् विरह से जो मारा गया है वह अवश्य ही मर जायगा। वह वृक्ष तले पड़ा कराह रहा है—आज मर जाय या कल। १२।

बिन सर थोथी भालि—वह भाला जिसमें अनी न हो। नोकदार भाले से मारा हुआ तुरन्त मर जाता है। थोथे भाले से मारा हुआ भी मरता है, लेकिन

कराह-कराह कर। विरह का मारा भी इसी तरह कराह-कराह कर मरता है।

पानी (मानस) में जो (विरह की) आग लगी तो सारा कीचड़ (विषय-विकार) जल गया। उत्तरापथ और दक्षिणापथ के सभी पंडित (पानी में आग लगने के इस रहस्य को) विचारते-विचारते मर गए (किन्तु सुलझा न पाए)। १३।

कांदौ<सं० कर्दम=कीचड़, आध्यात्मिक पक्ष में विषय-वासना।

झारि=सम्पूर्ण। कुछ टीकाकारों ने 'झारि' का अर्थ आग की लपट (सं० ज्वाला) किया है, किन्तु अवधी में 'झार' या 'झाराझार' संपूर्ण अथवा पूरमपार के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और यही अर्थ यहाँ अभीष्ट प्रतीत होता है। तुल० जायसी, पदमावत ४५-६ : बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं। (वृक्ष उखाड़ कर पूरा का पूरा मुख में डाल लेते हैं)। यहाँ भी इस शब्द के अर्थ में टीकाकारों को भ्रम हुआ है। यह साखी विपर्यय या उलटबाँसी की है।

वैद्य, तुम अपने घर जाओ; तुम्हारा किया कुछ न होगा। जिसने यह (विरह की) पीर बनाई है, वही इसे अच्छा भी करेगा। १४।

बेदन—अवधी में पीड़ा (शारीरिक) के लिए यह शब्द अब भी खूब प्रचलित है।

न तो दिन में चैन मिलता है, न रात में। यहाँ तक कि स्वप्न में भी चैन नहीं मिला। कबीर का कथन है कि राम से बिछुड़ने पर न धूप में सुख मिलता है न छाँह में। १५।

'बिरहा' 'बिरहा' (तिरस्कार की भावना से) मत कहो, विरह शाहंशाह है! जिस घट में विरह नहीं उत्पन्न होता वह सदैव श्मशान तुल्य है। ११।

शरीर रबाब है और सभी नसें रबाब की ताँत के समान हैं विरह उसे नित्य बजाया करता है। किन्तु उसकी ध्वनि कोई और नहीं सुन सकता—या तो स्वामी सुनता है या (विरहिणी का) चित्त। १२।

रबाब (अ०)—सारंगी की तरह का एक बाजा जो सारी रागों के बजाने में काम आता है। पोपली ने 'म्यूजिक आफ इण्डिया' में इसे भारतीय वीणा का विकसित रूप माना है और तानसेन को इसका आविष्कारक बताया है। उनकी

पहली बात तो ठीक जँचती है, किन्तु दूसरी बात कबीर द्वारा इस बाजे के उल्लेख से गलत सिद्ध हो जाती है—क्योंकि कबीर तानसेन के पूर्ववर्ती हैं। श्रुतसागर (१६वीं शताब्दी वि०) ने तत्वार्थाधिगम सूत्र वृत्ति २४ की टीका में (पृ० १९७) लिखा है : "दर्दरो जङ्घावादित्र विशेषः रबाब इति देश्याम्" अर्थात् 'दर्दुर' जाँघ पर रख कर बजाया जाने वाला एक बाजा है जिसे देशी भाषा में 'रबाब' कहते हैं (जे० ओ० आई० ४-४, पृ० २६८)। रबाव भारत से ईरान, अरब होते हुए स्पेन गया और यूरोप में 'रेबेक' नाम से प्रचलित हुआ और फिर 'वायलन' के रूप में परिवर्तित हुआ (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत ५२७-३ की व्याख्या)।

हे राम! मैं बहुत दिनों से तुम्हारा रास्ता निहार रही हूँ। मेरे प्राण तुमसे मिलने को तरस रहे हैं और मन को चैन नहीं मिल रहा है। १८।

सँदेसा कहने से मेरा अन्देसा (चिंता) नहीं दूर होगा। या तो स्वतः प्रभु के आने पर दूर होगा या फिर मेरे उनके पास पहुँचने पर। १९।

यह शरीर जला कर उसे भस्म या कालिख बना दूँ जिससे धुँवाँ स्वर्ग तक पहुँच जाय। तब, संभव है, (वहाँ इतनी दूर रहने वाले) राम के हृदय में दया उमड़े जो (नेत्रों के आँसू के रूप में) बरस कर मेरी आग बुझा दे। २०।

मति—क्रियाविशेषण 'जिससे कि' अथवा 'सम्भवतः' के अर्थ में।

धै राम—अर्थात् प्रेयसी से बहुत दूर स्वर्ग में आनन्द से काल-यापन करने वाले राम।

समान भाव के लिए तुलनीय जायसी, पदमावत दोहा ३५२—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग होइ परौं, कंत धरैं जहँ पाउ॥

'ढोला मारूरा दूहा' छंद १८१ भी तुलनीय है—

यहु तन जारी मसि करूं, धूवाँ जाइ सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, बरसि बुझावइ अग्गि॥

किन्तु उसकी केवल एक प्रति में यह दोहा मिलता है जिसमें 'मुझ प्रिय बद्दल होइ करि' से अर्थ की असंगति स्पष्ट ही यह संकेत करती है कि यह पाठ

परवर्ती है। 'माधवानल कामकंदला आख्यान' में भी यह दोहा है।

यह शरीर जलाकर इसकी स्याही बना डालूं, हड्डी की लेखनी बनाऊँ और उससे राम का नाम लिख-लिखकर उनके पास भेजा करूँ। २१।

इस शरीर को दीया बनाऊँ, उसमें प्राणों की वत्ती डालूं और तेल की जगह अपना लोहू सींच-सींच कर (यह प्रतीक्षा कर रही हूँ कि) कब प्रिय का मुख देखूं। २२।

आँखों में प्रेम का कसैलापन चढ़ा है (जिनसे वे लाल हो गई हैं) दुनिया समझती है कि वे दुख रही हैं। वे तो अपने स्वामी के लिए रो-रोकर रतनारी हुई हैं। २३।

प्रेम कसाइयाँ=प्रेम से कसैली। अनुराग का रंग लाल माना गया है, इस-लिए उनका कसैलापन या दाग भी ईषत् रक्त वर्ण का होगा। आँखों में निरंतर प्रेम भरा रहने से उन पर उसका रंग या कसैलापन छूट गया है। विरहानुभूति के चित्रण में यह साखी बड़ी मार्मिक है। सांई अपनें कारनें=अपने स्वामी के कारण।

मैं परवत-परवत घूम आया, रोते-रोते नेत्रों की ज्योति गँवा दी, लेकिन वह (संजीवनी) बूटी नहीं मिली जिससे जीवन प्राप्त होता है ('बूटी' यहाँ परमात्मा या प्रिय का प्रतीक है)। २४।

मेरे नेत्र बावले से हो गए हैं, क्षण-प्रतिक्षण तुम्हें ढूंढते हैं। न तो तुम मिलते हो और न मुझे प्रसन्नता मिलती है—मुझे ऐसी पीर है। २५।

लोरैं=चाहते हैं। तुल० कबीर साखी ६-१०,२ : साहिब गरवा लोड़िए, नफर बिगाड़े नित। अथवा शेख फ़रीद : रब बसे होयालिए तू जंगलि क्या लोड़ें! अवधी में अब भी फूल चुनने या ढूंढने के लिए 'फूल लोढ़ना' कहते हैं।

कुमुदनी नीचे जलाशय में रहती है और उसका प्रेमी चन्द्रमा ऊपर आकाश में रहता है, किन्तु (दूर रहते हुए भी) जो जिसका प्रिय है वह उसे सन्निकट ही अनुभव करता है। २६।

दूर रहते हुए भी कुमुदनी-चन्द्रमा की पारस्परिक प्रीति कविसमय बन गई है। तुलनीय 'ढोला मारूरा दूहा' छंद २०१—

जल महिं बसै कमोदणी, चंदउ बसइ अगासि ।
ज्यउ जांहो कइ मन बसइ, सउ त्यांही कै पासि ॥

यह दोहा 'ढोला मारुरा दूहा' की प्रथम तथा द्वितीय वाचनाओं की प्रायः समस्त प्रतियों में मिलता है, केवल तृतीय वाचना की प्रतियों में नहीं मिलता और पाठ की दृष्टि से समान रूप से संगत प्रतीत होता है । संभवतः यह दोहा बहुत पहले से ही लोक में प्रचलित रहा होगा और दोनों कवियों ने पृथक्-पृथक् उसे ग्रहण कर लिया होगा ।

गुरु यदि वाराणसी में रहे और शिष्य समुद्रतट पर रहे, फिर भी यदि उसमें गुण हों तो भुलाए नहीं भूलेगा ।२७।

जो जिसको अच्छा लगता है वह कभी न कभी उससे मिलेगा ही; जिसको तन मन सौंप दिया वह कभी छोड़ा ही नहीं जा सकता (अथवा वह कभी छोड़ कर जा ही नहीं सकता) ।२८।

स्वामी और सेवक दोनों एकमत हो जायँ—दोनों के विचार एकमेक हो जायँ (तभी स्वामी प्रसन्न होता है) । चतुराई पर वह नहीं रीझता, रीझता है मन के भाव पर ।२६।

दीपक (घट या मानव शरीर) लाया, अग्नि (विरह) लाया और उसमें तेल (स्नेह) भी डाल दिया । जब तीनों का संघटन कर दीपक जलाया तो (वासना के) पतंगे उड़-उड़कर उस पर नष्ट होने लगे ।३०।

जोइया—(१) ज्योतित किया, जलाया (२) जोड़ा या आयोजित किया ।

मार्ग पर खड़ी विरहिनी दौड़ कर पथिक से पूछती है कि प्रियतम का कोई एक संदेसा सुना दो—कब आकर मुझसे मिलेंगे ।३१।

न मैं तुझ तक आ सकती हूँ (सांसारिक बन्धनों के कारण) और न तुझे अपने पास बुला सकती हूँ (साधन की हीनता के कारण); लगता है, इसी तरह विरह में तपा-तपा कर मेरे प्राण ले लोगे ।३२।

कबीर कहता है कि (विरह की) पीर बड़ी ही दुःखदायिनी है, शरीर से पीर जाती ही नहीं । यह जो प्रेम की एक पीर उठी वह कलेजे पर छा गई ।३३।

पिरावनीं=पीड़ादायक । पंजर=अस्थिपंजर, शरीर ।

विरह की चोट बड़ी व्यथादायक है, उससे सारा शरीर जर्जर हो गया है। (इस मार को) या तो मारने वाला समझेगा या वह जिसको चोट लगी है।३४।

'संतानीं'=सताने वाली (विशेषण); तुल० ऊपर 'पिरावनी'।

जब खूब कस कर चोट मारी गई तब मैं ठीक-ठीक जान पाई (कि यह चोट कितनी घातक है)। ऐसी मर्मांतक चोट लगी कि मेरा कलेजा छलनी करते हुए वह उसके आर-पार हो गई।३५।

रास्ता देखते-देखते तो आँखों में झाँईं पड़ गई (नेत्रों की ज्योति मंद पड़ गई) और राम-राम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गए।३६।

एक जीव दूसरे जीव का आश्रय ले रहा है, अलख प्रभु (जो सब का आश्रय-स्थान है) उसकी समझ में ही नहीं आता। इस प्रकार न तो गोविन्द मिलता है और न (सांसारिक वासनाओं की) ज्वाला शांत होती है—कितनी ही बार उसे क्यों न बुझाया जाय।३७।

हँसी-खेल में स्वामी नहीं मिलता—जो उसे पाता है वह रो कर ही। अगर हँसी-खेल में ही प्रिय मिल जाय तो फिर कोई भी दुर्भाग्यवती न हो (सभी सुहागिन बन जायँ!)।३८।

दुहागिन—सुहागिन अर्थात् सौभाग्यवती का विलोमार्थी। तुलनीय बड़ना-वाणी, पृ० ३६ : दुहागिन नैं बधू नही वेला धान न लूण।

कबीर कहता है कि देखते-देखते दिन बीत गया, निरखते-निरखते निशा बीत गई। विरहिणी प्रियतम को पाती नहीं, इसलिए उसके प्राण तड़प-तड़प कर निकले जा रहे हैं।३९।

या तो विरहिणी को मौत दे दो, या फिर उसे अपने दर्शन दो। आठों पहर का जलना अब मुझसे नहीं सहा जाता।४०।

आठ पहर—अहोरात्र को आठ प्रहरों या घटियों में विभाजन की प्राचीन हिन्दू परम्परा। अलबेरूनी के अनुसार "देश के कई भागों में जलघड़ियों की व्यवस्था की जाती थी। एक घड़ी बीत जाने पर...वे नक्कारा और शंख, जिसे पारसी में संपद मुहरा कहते हैं, बजाते हैं। मैंने पुर्शूर नगर में यह देखा है। धर्मपरायण लोगों ने इन जलघड़ियों के लिए मृतपत्रों द्वारा अपनी सम्पत्ति

दान की है।" (दे० अलबेरूनी का भारत, भाग २, पृ० २६८, इंडियन प्रेस, अनुवादक संतराम)। दाझनां <सं० दह् =दग्ध होना, विरहाग्नि मे जलना। इस साखी में तीव्र विरह-वेदना का वर्णन बड़ी ही सरल किंतु प्रभावोत्पादक शैली में किया गया है।

(अगर सचमुच) विरहिणी थी तो जीवित क्यों रह गई ? क्यों नही प्रिय के साथ जल गई ? ऐ मूर्खा, ठहर ! प्रेम को लाजों मत मार अर्थात् प्रेम को लज्जित मत कर ! ।४१।

नालि—पास या निमित्त, लिए। तुल० पाइअ० णल्लय (देशज)=निमित्त, कारण। 'लार' (=निकट, पास, साथ) पाठांतर भी समान रूप से ग्रहणीय माना जा सकता है। तुल० वखनावाणी; पृ० ३६ : बांदा रांणी छोकडी, कोई बली न पिउ के लार। मुगध <सं० मुग्धा=मूर्ख। गहेलरी=पगली, आविष्ट। तुल० प्राकृत 'गहिल' अथवा 'गहिल्ल' (देशज-ग्रहिल)=पागल, आवेशयुक्त, भूतादि से आविष्ट। 'गरब गहेली' अथवा 'मुगध गहेली' मध्यकालीन साहित्य में क्रमशः 'गरबीली तथा मूर्खा' के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त हुए हैं—तुल० कबीर पद १३५-४ : ननद सहेली गरब गहेली देवर के बिरह जारौं रे"; बिहारी-सतसई ३१३-१ : गहिलो गरबु न कीजिए।

कबीर कहता है कि विरहाग्नि के कारण मेरा शरीर और मन जल कर इस प्रकार मृतक तुल्य हो गये कि वे उसकी पीर का अनुभव नही कर सकते। उसको तो वह आग ही जानेगी (जो विरहिणी को जला रही है)।४२।

कबीर कहता है कि मुझे सपने मे प्रभु मिले और उन्होंने मुझ सोते हुए को जगा लिया। अब इस डर से आँख नही मूंदता कि कहीं वह मिलन स्वप्नवत् न हो जाय।४३।

आंखि न मीचौं – आध्यात्मिक दृष्टि से निरंतर जागते रहने का तात्पर्य है।

विशेष—'ढोला मारूरा दूहा' मे यह दोहा इस प्रकार से मिलता है—

सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ गलि लागी धाइ।
डरपत पलक न छोड़ही, मति सुपनउ होइ जाइ॥५०३॥

किन्तु उसकी तीन वाचनाओं में से यह केवल प्रथम वाचना की प्रतियों मे

मिलता है। तृतीय चरण का पाठ अर्थ की दृष्टि से विकृत भी ज्ञात होता है। इसलिए यह कबीर के पाठ का परवर्ती ज्ञात होता है।

स्वामी के अनेक गुण जो हृदय में लिखे पड़े हैं, उसी डर से पानी नहीं पीती कि कहीं वे धुल न जायँ।४४।

कबीर का कथन है कि सुंदरी (जीवात्मा) यह सदेसा कहती है कि हे चतुर स्वामी (परमात्मा), तुम शीघ्र आकर मिलो नहीं तो मैं अपने प्राण छोड़ रही हूँ।४५।

कबीर कहता है कि प्रेम चखा नहीं और चख कर उसका स्वाद लिया नहीं। सूने घर में आए मिहमान की तरह जैसा आया वैसा ही चला गया अर्थात् जन्म लेना ही व्यर्थ हो गया।४६।

साव < सं० स्वाद।

विशेष—यह साखी (मुख्यतया द्वितीय पंक्ति) अन्यत्र मझन तथा नानक की रचना के रूप में भी मिलती है। तुल० *मधुमालती, पृ० ११*—

मंझन औ जग जनमि कै, बिरह न कीन्हां घाउ।
सूने घर का पाहुना, ज्यौं आवै त्यौं जाउ॥

तथा गुरुग्रंथसाहब पृ० ७६०—

जिनी न पाइओ प्रेम रसु, कंतु न पाइओ साउ।
सुंञे घर का पाहुणा, जिउ आइआ तिउ जाउ॥

किंतु ऐसी अनेक प्रतियों में, जिनमें परस्पर सकीर्ण सबंध नहीं है, कबीर की छाप मिलने से यह उनकी प्रामाणिक रचना ज्ञात होती है।

तू मेरे नेत्रों में बस जा जिससे मैं तुम्हें दिन-रात निरखा करूं। स्वामी, कब दर्शन दोगे? वह दिन मुझे शीघ्र देखने को मिले।४७।

नेत्रों से अश्रु का निर्झर बह चला है और रात-दिन रहट जैसा चल रहा है। पपीहे के समान पी-पी रट रही हूँ—हे मेरे राम, तुम कब मिलोगे?।४८।

रहट—कुएँ से पानी निकालने का एक यंत्र जिसमें अनेक बाल्टियों की माला पड़ी रहती है और बैल या ऊँट द्वारा चर्खी घुमाने पर बाल्टियों से निरंतर पानी गिरता जाता है—गिरने का सिलसिला टूटता नहीं।

वही आँसू सज्जनों के, वही दुर्जनों के। नेत्रों से जब लोहू चुए, तब समझो कि हृदय में सच्चा प्रेम है! ।४६।

बिड़ौ—सं० विट (=विदूषक, लम्पट)>प्रा० विड>हि० 'बिड' का बहुवचन। **जे लोइन लोही चुवै**—ग्रामीण बोली मे 'रकत के आँसू रोना' मुहावरा है।

गुरु ने दग्ध किया तो चेला जल गया, क्योंकि विरह की आग लगी। पूले के गले लिपटे रहने से तिनका बिचारा (नगण्य होते हुए भी) बच गया अर्थात् वह निर्बल व्यक्ति भी सुरक्षित बच जाता है जिसने पूरे (ब्रह्म) का आश्रय लिया हो। ।५०।

गलि=गले में, आश्रय में (अधिकरण रूप)।

पूरे—श्लिष्ट पद। एक पक्ष में इसका अर्थ है पुवाल, शैवाल आदि को ऐंठ कर बनाया हुआ वह बंधन जिससे बाजरा आदि की करबी बाँधी जाती है। आग लगने पर ऐंठन में लिपटे रहने के कारण पूले के तिनके नहीं जलते। दूसरे पक्ष में यह पूर्ण ब्रह्म का द्योतक है।

पानी मे अग्नि प्रज्वलित हुई और बड़ी अपर्बल (विकट) हो गई, बहती नदी रुक गई और मछली ने जल छोड़ दिया। (साधारण या लौकिक अर्थ)

अंतःकरण मे विरह की अग्नि प्रज्वलित हुई और ऐसी दुर्दमनीय (अपर्बल) हो गई कि चंचल मानसिक वृत्तियाँ निश्चचल हो गई और मन ने माया या सांसारिक आकर्षणों का परित्याग कर दिया। (आध्यात्मिक अर्थ) ।५१।

पानीं—कबीर-वाणी की विभिन्न टीकाओं मे इस शब्द के विभिन्न प्रतीकार्थ मिलते हैं। गरीबदासकृत 'अनभै प्रबोध', 'नाममाला' तथा 'कबीर-वाणी की प्राचीनतम टीका' मे उसे 'जलबूंद की काया' तथा 'माया' का प्रतीक बताया गया है और 'गोरखवाणी' के तिलक मे 'काया' का। कबीरपंथी टीकाकारों ने इसका 'हृदय' अर्थ किया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'पानी' मनुष्य का मानस है जो पर्याप्त सन्तोषप्रद जान पड़ता है।

आगि=विरहाग्नि अथवा ब्रह्माग्नि। विरह का प्रसंग रहने से पहला अर्थ ही अधिक उपयुक्त है।

सलिता <सं० सरिता । साहित्यिक टीकाकारों ने सरिता को भी माया या विषयवासना का प्रतीक माना है जब कि कबीरपंथी विद्वान् श्री विचारदास ने उसे सुरति माना है । गरीबदास जी ने 'तरंग' को 'मनसा' या इच्छा का प्रतीक माना है (छंद ३२) । मनसा निरंतर प्रवहमान रहती है जिसके स्तंभित होने का यहाँ प्रसंग है, इसलिए 'अनभै प्रमोध' का प्रतीकार्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । संत-साधना में चंचल वृत्तियों को निश्चंचल बनाने पर अधिक जोर दिया जाता है ।

मच्छ—संत-साहित्य में 'मच्छ' सदैव मन का प्रतीक माना गया है, किन्तु स्त्रीलिंग 'मंछी' या 'मछली' सुरति या चित्तवृत्ति का प्रतीक मानी गई है (दे० अनभै प्रमोध ३६) । तुलनीय 'प्राचीनतम टीका' पद ७ : मछा बसै पहाड़ी—मछ मन, पहाडी परमेश्वर । पद ४३ : महरू मछा मारि न जानै =महरू झीवर सो प्रांण, मछ मन गहरे गुण मैं पैठा । विचारदास जी ने भी 'मच्छ' का अर्थ मन ही किया है । साहित्यिक टीकाकारों में से अधिकांश ने इसे जीवात्मा माना है । जल =भवजल अर्थात् माया या सांसारिक आकर्षण ।

दरिया (शरीर) विरहाग्नि से प्रज्वलित हो उठा और जल-थल (समस्त गुण या मायाजनित विकार) जलकर राख हो गये। गोपाल (जगन्नियंता) से किसी का कोई वश नहीं, अब तो (समुद्र या शरीर में स्थित) बहुमूल्य रत्न (मन) भी जल रहा है । ।५२।

दरिया (फ़ा०)=(१) समुद्र, (२) नदी । किन्तु यहाँ समुद्र अर्थ अधिक उपयुक्त इसलिए है कि आगे रत्न के जलने का प्रसंग है जो कवि-प्रसिद्धि के अनुसार समुद्र के गर्भ से उत्पन्न होता है । आध्यात्मिक पक्ष में यह शरीर का प्रतीक जान पड़ता है ।

झोल=भस्म या राख (हिं० झाल <सं० ज्वाल) । अन्य टीकाकारों ने इसके विभिन्न अर्थ किए हैं—मुंशीराम शर्मा : धूलि (पृ० १४७); तारकनाथ बाली तथा वाशिष्ठ : झाड़-झंखाड (पृ० १६८); रामचन्द्र श्रीवास्तव : सूखे पत्ते, पुवाल (पृ० २००); पुष्पपाल सिंह=कबाड़ की ढेरी (पृ० २७१); डॉ० मा०प्र० गुप्त : वृक्षादि । किन्तु समुद्र के प्रसंग में इनका कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

बस नाँहीं गोपाल सौं—कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है : परमात्मा पर इस ज्वाला का कोई असर नही । किन्तु प्रसंग की दृष्टि से इसकी सार्थकता चिन्त्य है ।

रतन—उल्टबाँसियों मे मोती या रत्न मन के प्रसिद्ध प्रतीक हैं । रत्न समुद्र में होता है और मन शरीर में, इस दृष्टि से भी इसकी संगति विचारणीय है ।

(माया की) बदली उमड आई और अंगार बरसने लगा । कबीर कहता है कि वह (आग) दाह देकर (आँच फेंकती हुई) उठी जिससे सारा संसार जल रहा है, अथवा ऐ कबीर उठ (सावधान हो जा) क्योंकि अब वह दाह देकर सारे संसार को जला रही है । ।५३।

ऊनइ आई=उमड आई<सं० उत्+नम्, पाइअ० ओणय=अवनत; हिं० ओनवना=अ० क्रि० नीचे झुकना, उमडना (बादलों के प्रसंग में—तुल० जायसी, पदमावत ६१-३ : ओनए मेघ परी जग छांहां ।

धाह<सं० दाह=दाह, लपट, आंच । भट्ठी के पास जब अधिक गरमी लगने लगती है तो लोग कहते हैं 'धाह लग रही है' । 'ऊठि कबीरा धाह दे' का अर्थ सभी टीकाकारो ने इस प्रकार किया है : अरे कबीर, तू दहाड़ देता हुआ या जोर से रो-रोकर चिल्लाते हुए उठ !' जो मुख्यतया 'धाह' (=दाह) को 'धाड़' (दहाड़) समझ लेने की भूल के कारण है । डॉ० मा० प्र० गुप्त का अर्थ है : "कबीर उठकर धाह (पुकार) दे रहा है ।" यह अर्थ भी चिन्त्य प्रतीत होता है ।

समुद्र (शरीर या अंत:करण) मे (विरह की) आग लग गई, नदी (=इच्छा, वासना) जल कर कोयला हो गई (नष्ट हो गई) । कबीर, तुम जागकर तनिक देखो, मछली पेड़ पर चढ गई अर्थात् सुरति या चित्तवृत्ति का उन्नयन हो गया और वह ब्रह्मनिष्ठ हो गई । ।५४।

समुदर <समुद्र =शरीर या अंत:करण ।

नदी =इच्छा, वासना (दे० ऊपर सा० ५१ में 'सलिता' की टिप्पणी) ।

मंछी=सुरति या चित्तवृत्ति (दे० सा० ५१ में 'मच्छ') ।

रूखां =वृक्ष पर । आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचे पर अर्थात् गगन मंडल या

परमात्मा में लीन। मछली के पहाड़ या पेड़ पर चढ़ने का रूपक नाथयोगियों तथा संतों की वाणी में बहुत मिलता है और सर्वत्र उसका यही अर्थ होगा।

जिस (शब्द) बाण से कल (अर्थात् पहले) मारा था वह बाण मेरे मन को बहुत अच्छा लगा, उसी (शब्द) बाण से आज भी मारो, बिना उसके मुझे सुख-शांति नहीं मिलती। ।५५।

सर < शर = बाण अथवा उपदेश। सचु = सुख। तुल० पद ३६-३ : कबहूँ सचु नहि पायौ; साखी २९-१२ अमरलोक सचु पाइया।

(३) सुमिरन भजन महिमा कौ अंग

कबीर कहता है, सो-सोकर क्या करेगा ? क्यों नहीं उठ कर अपना दुखड़ा रोता ? जिसका स्थायी निवास क़ब्र में होता है, वह क्यों सुख में सोए ? ।१।

गोर (फ़ा०) = क़ब्र।

कबीर कहता है, सो-सो कर क्या करेगा ? जागकर मुरारि को क्यों नहीं जपता ? एक दिन (मृत्यु के समय) तो लंबे पैर पसार कर सोना ही होगा। तात्पर्य यह कि जागरूक होकर नाम स्मरण में लगा रहना चाहिए ।२।

गोड़ (देशज) < प्रा० गोड्ड = पैर

लूट सको तो लूट लो—राम नाम की लूट है, अन्यथा फिर पीछे पछताओगे जब कि प्राण छूट जायेंगे ।३।

केशव का नाम ले-लेकर पुकार लगाइए। इस प्रकार निरन्तर सोते मत रहिए। रातदिन रट लगाने पर, संभव है, कभी पुकार लग ही जाय ।४।

असरार = निरन्तर। तुल० पद ८३-७ : सोस चरन कर कंपन लागे नैन नीरु असराल बहै। नानक ने इस शब्द का प्रयोग 'भयावह' या 'भयंकर' अर्थ में किया है, दे० नानक-वाणी (डॉ० जयराम मिश्र संपादित, मित्र प्रकाशन) मारू असटपदीआ २-१ : बंझी हाथि न खेवटू जल सागरु असरालु। तथा वहीं मारू सोलहे ११-५ : चारि नदी अगनी असराला। किन्तु यहाँ यह उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं जान पड़ता।

कबीर कहता है कि प्रभु का नाम स्मरण करने में बड़ी कठिनाई रहती है (अर्थात् भक्तिमार्ग बड़ा विकट है !)। यह सूली के ऊपर नट का खेलना है।

(तनिक भी ध्यान विचलित होने पर) गिरे तो फिर कहीं का न रहे। तात्पर्य यह कि निरन्तर पथभ्रष्ट होने का डर लगा रहता है।५।

तू-तू करते तू ही तू हो गया—मुझमें मेरापन कुछ भी नहीं रह गया। मैंने अपने आपको तेरे नाम पर निछावर कर दिया, अब तो जहाँ देखती हूँ वहाँ तू ही तू है।६।

प्रेम-योग अथवा भक्ति-योग की यह चरमावस्था है जो योगी को समाधि में मिलती है। सूरदास की गोपी में भी जब 'पूरन नेह' प्रकट होता है तो वह दही सिर पर लिए 'ले दही' की जगह 'ले गोपाल' की टेर लगाती है। जायसी का रत्नसेन जब विरह की चरमावस्था में पहुँचता है तो संसार की प्रत्येक वस्तु में पद्मावती को ही देखता है। तुलसी के राम भी सीता से वियुक्त होने पर मृगियों के नेत्र में सीता के ही नेत्र देखते हैं, हंसिनी मे सीता की ही गति पाते हैं। संदेसा भी भेजते है तो यह कि—

तत्व प्रीति कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन बसत सदा तुम पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माँहीं॥

हरिनाम का भजन (सच्ची) भक्ति है, दूसरे कार्यों में अपार दुःख है। मनसा वाचा कर्मणा प्रभु का नामस्मरण ही सार तत्व है—ऐसा कबीर का कथन है।७।

चिंता है तो हरिनाम की, भक्त और किसी का चिंतन नहीं करता। राम के अतिरिक्त और जिस बात का भी चिंतन करे वही काल का पाश हो जाती है।८।

जिनमें सहृदयता नहीं, प्रेम की तरलता नहीं और जीभ पर जिनके राम का नाम नहीं, वे इस संसार मे पैदा होकर व्यर्थ ही नष्ट हो गए।९।

खए<क्षये=क्षय हो गए, विनष्ट हो गए।

पहले बुरी कमाई कर विष की गठरी बाँध ली, लेकिन जब प्रभु की शरण आया तो करोड़ों दुष्कर्म पल में विनष्ट हो गए।१०।

फिल=नष्ट। कुछ टीकाकारों ने इसे 'फ़ना फ़िल्ला' से व्युत्पन्न माना है किंतु प्राकृत 'फिट' या 'फिड' (<सं० भ्रष्ट=नष्ट) से इसकी व्युत्पत्ति अधिक

मान्य प्रतीत होती है। प्राकृत-अपभ्रंश में 'ल' और 'ड' के परस्पर-परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

करोड़ों कर्म पल में विनष्ट हो जायें, यदि तनिक भी राम का नाम लिया जाय। इसके विपरीत कोई युग-युगांतर तक अनेक पुण्य कमाता रहे लेकिन विना राम नाम के उसे कहीं कोई ठाँव नहीं मिलेगा। ११।

(ईश्वर का) घर दूर है, मार्ग लम्बा और दुर्गम है, मारपेंच भी बहुत है। फिर हे संतों, बताओ, हरि का दुर्लभ दर्शन क्योंकर मिले ?। १२।

'दूरि घर' में ब्रह्म की अगम्यता तथा 'लंबा मारग' और 'विकट पंथ बहु मार' से साधना की जटिलता अभिव्यंजित होती है।

मार=मार पेंच, पेंचदगी या कठिनाई। दीदार (फ़ा०)=दर्शन

तीनों लोकों में समस्त तत्वों का निष्कर्ष और वास्तविक सार पदार्थ राम नाम है। उसको दास कबीर ने अपने मस्तक पर लिखा तो उसकी शोभा बढ़कर अपार हो गई। १३।

कबीर कहता है, (राम नाम का) स्मरण ही सार तत्व है, शेष सब कार्य (निरर्थक) जंजाल हैं। मैंने आदि से अंत तक सब खोज-बीन कर देख लिया (नाम-स्मरण के अतिरिक्त) दूसरे सभी कार्य काल सदृश हैं। १४।

पाँच महेलियाँ 'पो पों' कर रही हैं (पंच ज्ञानेंद्रियाँ नाम-चिंतन में तल्लीन हैं), छठा मन भी उसका स्मरण कर रहा है (छठी मनाई जा रही है)। इस प्रकार कबीर के यहाँ प्रसूति (शिशुजन्म) पड़ी है—उसने राम रूपी (पुत्र) रत्न प्राप्त किया है। १५।

सूति=प्रसूति, जन्म (शिशु का)। शुक्ति>सुत्ति>सूति—इस प्रकार भी इसकी व्युत्पत्ति संभव है, और कुछ टीकाकारों ने इसी व्युत्पत्ति के आधार पर यहाँ उसका 'सीपी' अर्थ किया है; किन्तु सीपी में मोती होते हैं, न कि रत्न; और फिर कबीर की शुक्ति का आना संगत नहीं प्रतीत होता। प्रसूति का प्रसंग इस-लिए भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि ऊपर छः संख्या का उल्लेख है जो वस्तुतः पुत्र जन्म के पश्चात् छठी के उत्सव का द्योतक है।

कबीर कहता है, जब तक दीपक में बत्ती जल रही है (शरीर में प्राण है)

तब तक (सांसारिक बाधाओं से) निश्चिन्त होकर राम नाम जप ले (आलस्य न कर), अन्यथा तेल (सांस) समाप्त हो जाने पर (प्राणों की) बत्ती बुझ जायगी तब दिनरात सोना ही है। १६।

कबीर कहता है, तू सोया हुआ क्या करता है ? (अज्ञान निद्रा से) जाग कर (वास्तविक स्थिति) क्यों नहीं समझता ? जिस (अंशी) के साथ से तू बिछुड़ गया है उसी के संग लग जा। १७।

कबीर कहता है, तू सोया हुआ क्या करता है ? सोने से तेरी हानि ही होती है (क्योंकि तू आलस्य ही मे पड़ा रहेगा और काल तुझे समाप्त कर देगा)। काल की गर्जना सुनकर सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का भी आसन डगमगा गया (तो तुम्हारी क्या बिसात !)। १८। गाज=गर्जन।

जिन्होंने प्रभु को जैसा समझा उनको वैसी ही प्राप्ति हुई, किन्तु जब तक पानी अंदर न पैठे, ओस से प्यास नहीं जाती। १९।

आभ—फ़ा० 'आब' अथवा सं० अंबु=पानी। विशेष—आध्यात्मिक तृषा की शांति के लिए मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि साधन ओस के समान हैं जब कि प्रेमाभक्ति या सहजा भक्ति शीतल जल के समान है।

प्यारे राम को छोड़कर जो अन्य अनेक देवताओं की आराधना करता है वह वेश्या-पुत्र के समान है, वह किसे अपना बाप कहे ? । २०।

कहै कौंन सौं बाप—वेश्यापुत्र के वास्तविक पिता का निश्चय करना कठिन है, इसी प्रकार बहुदेवोपासना मे लगे हुए व्यक्ति का सच्चा आराध्य या संरक्षक कौन है—यह कहना कठिन है।

जिस प्रकार (तीव्र आसक्ति से) माया मे मन रमता है उसी प्रकार यदि कोई राम मे रमाए तो वह तारामंडल अर्थात् ब्रह्मांड पारकर अमरलोक में पहुँच जाय।२१।

तुल० तुलसी, मानस, अंतिम दोहा—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

लूट सके तो राम नाम का खजाना लूट ले, नहीं तो काल तेरा गला दबोच

देगा और दसों दरवाजे रूंध देगा (फिर कैसे राम नाम तेरे शरीर में आवेगा ?)। २२।

दसहूँ दुवार=शरीर के दस छिद्र (नौ इंद्रियद्वार तथा ब्रह्मरंध्र)।

दसों दिशाओं (=दसों इंद्रियों) में (विषय वासना की) आग लगी और चित्त चचल हो उठा। हरिस्मरण रूपी घड़े से, जो तेरे हाथ में है, इस विषयाग्नि को शीघ्र ही बुझा ले। २३।

चमंकिया=चमत्कृत हो गया, चौंक गया या चंचल हो गया। लाइ<सं० अलात=आग।

जानकार से पूछा नहीं, समझ बूझ कर चला नहीं। अन्धे को अन्धा मिल गया तो रास्ता कौन बतावे! अर्थात् समर्थ गुरु के मार्गनिर्देशन बिना साधना के गंतव्य तक पहुँचना बड़ा कठिन है। २४।

कबीर कहता जा रहा है, सब कोई सुन रहे हैं कि राम नाम कहने में ही भला होगा, अन्यथा नहीं। २५।

कबीर कहता है कि मैं कह गया, ब्रह्मा और महेश भी कह गए हैं कि राम नाम ही सारतत्व है—यही सबके लिए उपदेश है। २६।

(४) साध महिमां कौ अंग

कबीर कहता है कि चंदन के बिरवे के पास ढाक पलास भी (उसकी सुगंध से) बेध उठे। उसने उन सब को आप सरीखा कर लिया जो उसके पास थे।१।

अन्योक्ति के अधार पर साधु जनों का प्रभाव दुष्ट जनों पर दिखलाया गया है—तुल० मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कङ्कोल निम्ब कुटजा अपि चन्दना स्युः।

बिड़ै—सं० विटप>प्रा० विडव, बिडअ>हि० बिडा, जिसका अधिकरण रूप 'बिडै'=वृक्ष पर या वृक्ष के निकट। बेधे<सं० विध्=विद्ध हुए, सुगंध से आपूरित हुए या बास उठे। ढाक पलास—अन्योक्ति के आधार पर निकृष्ट लोग। 'ढाक' और 'पलाश' यद्यपि समानार्थी हैं, किन्तु उनका प्रयोग यहाँ युग्म के रूप में है; जैसे 'पेड़-रूख'। सरीखे—सं०सदृश>हि० सरिस, सरिखा या सरीखा=समान।

संत संतता नहीं छोड़ता चाहे करोड़ों दुष्ट मिल जायँ। चन्दन सर्पों से आवेष्टित रहने पर भी अपनी शीतलता नहीं छोड़ता।२।

बेढ़िया—वेष्टित, लिपटा हुआ।

घोड़े हाथियों की सवारी हो, सघन घनवाद्य बजते हों (नौबत बजा करती हो), छत्र लगा हो और पताका फहराती हो, ऐसे राज सुख से भिक्षा अच्छी, अगर हरि का स्मरण करते हुए दिन व्यतीत होता हो।३।

घन—वाद्य विशेष (कांस्यतालादिकं घनम्—अमरकोश)। संगीताचार्यों ने बाजों के मुख्य चार भेद किये हैं—तत, वितत, घन और सुषिर। इनमें कांस्यताल या झांझ, मजीरा आदि को घनवाद्य कहा जाता है—

ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम्।
घनं तु कांस्यतालादि वंशादि सुषिरं मतम्॥
षडङ्गुलप्रमाणेन कांस्यताल सुवर्तुलः।
अगुङ्ल द्वयमानेन भवेद्गम्भीर मध्यवान्॥

अर्थात् वीणा आदि तत वाद्य, नगाड़ा आदि वितत वाद्य, कांस्यताल आदि घन वाद्य और बाँसुरी आदि सुषिर वाद्य कहलाते हैं। कांस्यताल लगभग छः अंगुल का गोलाकार बना होता है जिसके बीच में लगभग दो अंगुल का स्थान गहरा होता है। इसे लोक में झांझ कहते हैं। मंदिरों में आरती आदि के समय या राजाओं के द्वार पर नौबत बजने के समय इन बाजों का प्रयोग होता है। जायसी ने 'पदमावत' (१६४.७) में महादेव के मण्डप का वर्णन करते हुए कहा है—

संख घंट घन बाजहिं सोई। औ बहु होम जाप तहँ होई॥

कबीर ने यहाँ राजाओं के ऐश्वर्य का चित्रण किया है अतः 'सघन घन' का अर्थ है—झांझ, मजीरा आदि बाजों का घोर रव। अन्य टीकाकारों ने इसे 'है गै वाहन' का विशेषण मानकर 'अत्यधिक' अर्थ किया है जो भ्रामक प्रतीत होता है।

शहर, नगर सुन्दर ढंग से बसा हुआ हो, ठाँव-ठाँव पर आनंद-कौतुक हो रहा हो, लेकिन राम भक्त के बिना मेरी समझ से वह उजाड़ ही है।४।

¹सुबस=सुन्दर ढंग से, तुल० दादू-वाणी, मंगलदास स्वामी-संपादित, साखी २-४० : आतमराम सँभालिए, तौ सुबस काया गांव।

बाहिरा<सं० बाह्य=बिना, वंचित। कबीर ने इस शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है। तुल० क० ग्रं० ८-१२-१ : सांईं मैं तुझ बाहिरा, कौड़ी हू न लहाउं।

मेरे साथी दो जन हैं : एक तो वैष्णव और दूसरा स्वयं राम। वह (राम) तो मुक्ति देने वाला है और वह (वैष्णव) नाम का स्मरण कराता है, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है।५।

वैष्णव साधु को कबीर ने राम का ही प्रतिरूप माना है, तुल० क० ग्रं० साखी ४-३६—

साकत बांम्हन मति मिलै, बैस्नौं मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेटिए, मांनौं मिले गोपाल॥

जिन घरों में साधु नहीं पूजा जाता है और हरि की आराधना नहीं होती है वे घर श्मशान सदृश हैं और उनमें भूत बसा करते हैं अर्थात् उनके निवासी साक्षात् प्रेत सदृश हैं।६।

द्रव्य से दाझन होती है और निर्द्रव्य होने से मनुष्य निश्शंक रहता है। जो मनुष्य द्रव्यहीन होते हैं वे इन्द्र को भी रंक समझते हैं।७।

दावें=द्रव्य अथवा धन से। दाझन=दाह, कष्ट। निरदावे=निर्द्रव्य।

कबीर केवड़ा हुआ है और भक्त भ्रमर हो गये हैं; क्योंकि जहाँ-जहाँ कबीर की भक्ति है, वहाँ-वहाँ पर राम का निवास है।८।

कबीर कहता है, कुल तो वही अच्छा है जिस कुल में भक्त उत्पन्न हो, अन्यथा जिस कुल में भक्त न उत्पन्न हो तो उस कुल में ढाक पलाश ही उत्पन्न हुआ समझना चाहिए।९।

ढाक पलास—युग्म के रूप में प्रयुक्त अतः पुनरुक्ति दोष नहीं होगा। तुलनीय इसी अंग की पहली साखी में—जैसे ढाक पलास।

जिसके यहाँ अश्व-गज के वाहन हों, सघन घनवाद्य बजते हों और वह

छत्रपति की नारी हो तो भी उसकी समता हरिभक्त की पनिहारिन से नहीं हो सकती अर्थात् वह भक्त की टहलुई की भी समता नही कर सकती ।१०।

सघन धन—देखिए इसी अंग की साखी ३ की टिप्पणी । **पटंतर**<सं० पट्+तल =बराबरी; तुल० साखी १-१ : राँम नांम के पटंतरै देबे कौ कछु नांहि । तुलै =तुलती है, बराबरी में पहुँचती है ।

क्यों नृपनारी की निंदा की जाती है और हरिजन की पनिहारिन को सम्मान दिया जाता है ? क्योंकि नृपनारी अपने प्रिय के लिए माँग सँवारती है (शृङ्गार करती है) और वह (पनिहारिन) नित्य उठकर राम का नाम लेती है ।११।

जिसने कुछ समझा बूझा नही उसका समय सुख की नीद में बीतता है । मैंने जो अनबूझ को बूझा तो मेरे लिए यह पूरी बला हो गई ।१२।

बिहाइ=व्यतीत होता है, गुजरता है ।

स्वप्न में भी बड़बड़ाते हुए जिसके मुख से राम का नाम निकले उसके पैर की जूती मेरे शरीर के चमड़े की हो ।१३।

कबीर चला जा रहा था, रास्ते मे सामने ही उसे खुदा मिल गया । तब मेरे मालिक ने मुझसे यों कहा कि गाय (गोवध) के लिए तुझे किसने आदेश दिया ? ।१४।

मीरां (अरबी 'मीर' का बहु व०)=अध्यक्ष, सरदार, स्वामी । **फुरमाई** (फा० फ़रमाना)=कहा या आदेश दिया (आदरसूचक) ।

किन्हि फुरमाई गाइ—डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसका अर्थ किया है—"आप (को जो कुछ कहना होता है उसे) गाकर क्यों नही कहते हैं ? अर्थात् उसे कहने के लिए मेरे समक्ष उपस्थित होने की आवश्यकता नही है ।" यह अर्थ भी समान रूप से ग्राह्य प्रतीत होता है, क्योंकि इसमे तीर्थाटन आदि की अपेक्षा भजन-कीर्तन को श्रेयस्कर बताया गया है । किन्तु 'मीरां' (=स्वामी) द्वारा सेवक के लिए आदरसूचक क्रिया 'फुरमाई' का प्रयोग खटकता है ।

राम नाम जिन्होंने जान लिया उनका शरीर क्षीण होता है, नेत्रों में नीद नही आती और विरहवेदना के कारण शरीर पर मांस नही चढ़ता ।१५।

जामैं<सं० जन्म (नाम धातु) = उत्पन्न होता है।

राम के वियोगियों का शरीर विरह वेदना से विकल रहता है, उन्हें कोई दुखाओ (छेड़ो) मत, नही तो छूते ही तड़फड़ा कर मर जायेंगे।१६।

तालावेली<प्राकृत 'तल्लोविल्लि' = ऊपर-नीचे होना, तड़फड़ाहट, व्याकुलता। तुल० कुमारपाल प्रतिबोध : थोडइ जल जिमि मच्छुलिय तल्लोविल्लि करंत; तथा दादू, साखी ३-४८ : तालावेली प्यास बिन, क्यों रस पीया जाइ।

जान बूझकर जो जड़वत् बना रहे और बल (रहते हुए भी उसे) छोड़ कर जो निर्बल बना रहे, कबीर कहता है उस संत का कोई पल्ला नही पकड़ता अर्थात् उसे अपने लक्ष्य से कोई रोक नही सकता।१७।

लालों की कोठरी नही होती (लाल कोठरी भर नही होते); हंसों की पाँत नही होती, सिंहों के झुण्ड नही होते, साधु भी जत्था बाँध कर नही चलते।१८।

तात्पर्य यह कि हंस और शेर विरल ही होते हैं; इसी प्रकार साधु भी विरल ही होते हैं—जमात बाँधकर चलने वाले साधु वस्तुतः साधु नही होते, वे केवल उदरम्भरि होते हैं। तुलनीय—

> शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
> साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

ओबरी—सं० अपवरिका > प्रा० उव्वरिय = भीतरी कक्ष या कोठरी, तुल० पदमावत ३३६-५ : ओबरि जूड तहाँ सोवनारा। यद्यपि कबीर के प्रयोग से यह परिलक्षित नही होता, किन्तु आजकल जनपदीय बोली मे 'ओबरी' प्रायः उस एकांत कोठरी को कहते हैं जहाँ पति-पत्नी मिलते हैं—इसीलिए व्यंग में कहा जाता है 'कहाँ ओबरी में छिपे हो ?' लँहड़ा (देश०) पशुओं का झुण्ड। जमात<अ० जमायत = समूह, जत्था।

कबीर कहता है, साधु की संगति कभी भी निष्फल नही होती; नीम चन्दन की संगति करने पर बावना चन्दन हो जायेगी और फिर कोई उसे नीम न कहेगा।१६।

बावनां = बावन गुणों वाला।

कबीर कहता है कि वही दिन भला होता है जिस दिन संत मिलते हैं, क्योंकि उन्हें अंक भर-भर कर भेटने मे शरीर का पाप चला जाता है ।२०।

जितने भी मिठबोलने हैं उन सभी को साधु न जान, क्योंकि वे पहले थाह दिखाकर तुझे गहरे पानी मे ला देंगे जहाँ तू डूब जाए ।२१।

मीठा बोलनां = मिठबोलना, मिष्टभाषी । ऊंडा = गहरा । तुल० हरिदास निरंजनी : ऊंडो अथह थाघ नहि आवे नहो वार नहि पार ।

कबीर कहता है कि साधु की संगति नित्य प्रति की जानी चाहिए ; वह दुर्मति को दूर बहा देगी और सुमति को बता देगी ।२२।

चाहे मथुरा जाओ चाहे द्वारिका और चाहे जगन्नाथपुरी ही जाओ, किन्तु साध संगति और हरि भक्ति के विना कुछ भी हाथ नही आएगा ।२३।

निर्वैरता, निष्कामता, स्वामी से स्नेह और विषयों से पृथकता—संतों के यही अंग हैं ।२४।

अंग = व्रत, चर्या, नियम । "'विसुद्धिमग्ग' के द्वितीय परिच्छेद में ही इसके समानांतर पालि प्रयोग है धुतग अर्थात् धूतांग अर्थात् अवधूतांग इसका अर्थ है अवधूत का व्रत, नियम या अभ्यास । इतना ही नही पांशुकूलिकांग (पांशुकूलिक होने का व्रत, नियम या अभ्यास) आरण्यकांग, वृक्षमूलिकांग जैसे तेरह प्रयोग वहाँ आए हैं ।"—डॉ० भरतसिंह उपाध्याय; ध्यान सम्प्रदाय, पृ० १४६ ।

खोद खाद धरती महन करती है, काट कूट वनराजी सहन करती है, इसी प्रकार कुटिल वचन केवल साधू महन करता है—दूसरे से वह नहीं सहा जाता ।२५। बनराइ वनराजी, वनस्पति-समुदाय ।

कबीर कहता है कि हरि का प्रियजन दूर से ही दीख पड़ता है—तन से क्षीण, मन से उदासीन और जगत् से रूठा हुआ वह फिरता रहता है ।२६।

भावता = अच्छा लगने वाला ।

ज्ञानी भक्त को नित्य मुसीबत है, अज्ञानी का राज है; क्योंकि वह आगा-पीछा तो समझता नही—बस पेट भरने से मतलब ।२७।

जांन < स० ज्ञान = ज्ञानवान (विशेषण) ।

सर < 'सृ' धातु (= गमन करना) = अग्रसर होना; अपसर < अप+

. स = अपसरना या पीछे हटना; अतः 'सर अपसर' का तात्पर्य है : किस कार्य में आगे बढ़ा जाय और किससे पीछे हटा जाय, अर्थात् आगा-पीछा या अच्छा-बुरा। तुल० नानक-वाणी पृ० १०३६-५ : सर अपसर की सार न जाणहि।

जो जान बूझकर सत्य को छोड़ दे और झूठ से स्नेह करे, हे राम, उसकी संगति तुम स्वप्न में भी न दो।२८।

कबीर कहता है, दुर्ग की जो खाई होती है उसका पानी कोई नहीं पीता, किन्तु वही पानी जब गंगा में जा मिलता है तब सम्पूर्ण रूप से गंगा जल हो जाता है अर्थात् तब उसे सभी पीते हैं।२९।

जब विषय प्रीति की अपेक्षा अधिक प्रिय होता है तब अंतर (हृदय) में हरि नहीं होते, क्योंकि जब हरि अंतर में निवास करते हैं तब विषयों में चित्त नहीं लगता।३०।

(बाह्य वेशभूषा में ही) उज्ज्वल देख कर किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि वह बगुले की तरह ध्यान माड़ता है। वह तुम्हारे पास बैठ कर तुम्हें चपेट देगा और यों ही तुम्हारे ज्ञान को भी ले डूबेगा।३१।

धीजिए>प्रा० धिज्जिय = विश्वास करना चाहिए। माड़ै = मंडित करता है, धारण करता है। धोरै- पास, निकट।

कबीर कहता है, समुद्र की लहरें कितनी आती हैं और कितनी जाती हैं। मैं उस हरिभक्त की बलिहारी जाता हूँ जो उलट कर (समुद्र की भाँति) अपने में ही समा जाता है अर्थात् कामवासनाओं को उसी प्रकार आत्मसात् कर लेता है जैसे समुद्र लहरों को।३२।

पाँच बैलों वाली लढ़िया उजड़-ऊबड़ स्थानों में ही जाती है अर्थात् पंच ज्ञानेन्द्रियों से प्रेरित मन की वृत्तियाँ चंचल और बहिर्मुखी होती हैं। बलिहारी मैं उस दास की हूँ जो उसे पकड़ कर एक ही ठाँव रोक दे अर्थात् मन को निश्चंचल कर ले।३३।

बलधिया = बैलों वाली। लिढ़िया - छोटे आकार की बैलगाडी।

भक्त (वैष्णव) हजारिया कपड़ा है, उसमें मैल नहीं समाती (क्योंकि उसे

यत्नपूर्वक धारण किया जाता है, मैल मे नहीं बिछाया जाता)। इसके विपरीत शाक्त काली कम्बली है—जहाँ चाहो, बिछा लो।३४।

हजारी (फ़ा)—उत्कृष्ट कोटि के सूत या उससे बने वस्त्र के लिए 'हजारी' या 'हजारिया' विशेषण प्रयुक्त होता था। तुल० वखना-वाणी, पद ७६-१ : काति वहुरिया सूत हजारी ; तकुला को बल काढ़ूँ मी गुरु सतधारी। सूत की बारीकी परखकर उसे नम्बर के अनुसार विभिन्न श्रेणियों मे रखा जाता था। जो सूत जितना ही पतला होता था उसका नम्बर उतना ही अधिक होता था। इस प्रकार हजारिया सूत अत्यधिक महीन(जैसे ढाके की मलमल का) होता था। उसे बड़ी हिफ़ाज़त से रखा जाता था। इसी प्रकार कबीर के अनुसार वैष्णव भक्त भी विशुद्ध आचरण का होता है, शाक्त के समान वासना मे पंकिल नहीं होता।

सभी घटों (जीवों) मे मेरा स्वामी है, कोई सेज उससे सूनी नही रहती; फिर भी हे सखी, उन्ही का सौभाग्य मानना चाहिए जिनके घट मे वह प्रकट हो जाय अर्थात् जिन्हे उसका साक्षात्कार हो जाय।३५।

ख़ालिक (परमात्मा) जागता रहता है, और कोई नही जागता। या तो विषयी जागता है जो विषयो के विष मे भरा हुआ होता है या फिर दास बंदगी मे (जागता हुआ) होता है।३६।

चंदन की एक झाड़ी अच्छी है, न कि बबूल का लखराँव। इसी प्रकार साधुओ की छान अच्छी है, शाक्तो का बड़ा ग्राम (नगर) नही।३७।

कबीर कहता है, धन्य वह सुन्दरी है जिसने वैष्णव पुत्र उत्पन्न किया जो कि राम का स्मरण कर निर्भय हो गया—शेष ससार तो निपूता हो रह गया।३८।

अऊत < सं० अपुत्र = पुत्रहीन, निपूता। तात्पर्य यह है कि जिसका पुत्र वैष्णव भक्त हो उसी माता का पुत्रवती होना सार्थक है, शेष सब को निपूता ही समझना चाहिए। तुलनीय मानस, अयोध्या ७५।१-२—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥
नतरु बाँझ भल बादि बियानी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अंतिम चरण का अर्थ किया है—"जब कि (शेष) समस्त जगत् वस्तुतः अउत (अनुत्पन्न) ही गया (नष्ट हुआ)।"

शाक्त ब्राह्मण न मिले, वैष्णव यदि चांडाल भी मिल जाय तो उसी प्रकार अंकमाल देकर भेंटना चाहिए मानों गोपाल मिले हों।३६।

काम राम से मिला सकता है, यदि कोई उसे (नियंत्रण में) रखना जाने। कबीर बेचारा क्या करे जब (भागवतकार) शुकदेव ही (गोपियों की भक्ति के प्रसंग में) इसका साक्ष्य देते हैं।४०।

काम वासनाएँ यदि सांसारिक आसक्तियों से मोड़कर भगवान् के प्रति उन्मुख कर दी जायें तो उत्कृष्ट कोटि की भक्ति हो जाती है—भक्ति के सभी आचार्यों को यह मान्य है, और इसी प्रकार की भक्ति का चित्रण शुकदेव ने गोपियों के माध्यम से किया है। कबीर को ऐसी ही वैष्णव भक्ति अभीष्ट है।

जो कामिनी के अंग से विरक्त हुए और हरिनाम में अनुरक्त हुए, गोरखनाथ साक्षी हैं, उन्ही की भाँति वे भी कलियुग में अमर हो गये।४१।

स्वार्थ के लिए सब सगे बनते हैं—सारी दुनिया को ऐसा ही समझो। बिना स्वार्थ के जो आदर करता है वह हरि की प्रीति से ऐसा करता है, इसे भली-भाँति समझ लो।४२।

कबीर कहता है, अपने राम की खातिर मैं वन-वन (ढूंढता) फिरा किन्तु राम सदृश संत लोग मिल गये जिन्होंने सारा काज सँवार दिया।४३।

(५) गुर सिख हेरा कौ अंग

ऐसा कोई नही मिलता जो अपना घर जला दे अर्थात् सांसारिक आसक्तियों को विनष्ट कर दे और अपने पाँचों लड़कों (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह नामक पंच विकारों) को पटक कर (समाप्त कर) राम में लौ लगावे।१।

ऐसा कोई नही मिलता जिसका आश्रय ग्रहण किया जाय, क्योंकि मैंने सारे संसार को (संसार के प्रत्येक व्यक्ति को) अपनी-अपनी आग में जलते देखा अर्थात् अपनी-अपनी विपत्ति भोगते देखा।२।

ऐसा कोई नही मिलता जो मुझे उपयुक्त शिक्षा दे और भवसागर में डूबते हुए मुझको हाथ और केश पकड़ कर उससे बाहर निकाल ले।३।

ऐसा कोई सुजान नहीं मिलता जो इशारा समझ ले, क्योंकि श्रवण शक्ति से विहीन कान वाला बजता हुआ ढोल भी नहीं सुन पाता ।४।

ऐसा कोई नहीं मिलता जो मुझे पहचान ले, तथा मुझे अपना कर मुझ पर कृपा करे और (भक्ति के) मैदान में लेकर उतर जाय ।५।

ऐसा कोई नहीं मिलता जो रामभक्ति मे मेरा सच्चा मित्र हो और जो अपना तन-मन मृग के समान सौंप कर वधिक (उपदेशक या गुरु) का गीत (उपदेश) सुने ।६।

मृग बड़ा संगीत प्रेमी होता है, इसलिए बहेलिये उसका शिकार करने के लिए बीन आदि की सुरीली तान बजाते है जिसकी स्वर-लहरी मे मृग इतना आत्मविभोर हो जाता है कि उसे अपने शरीर का ध्यान नही रह जाता । इसी प्रकार शिष्य में भी गुरु के प्रति पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए ।

ऐसा कोई नहीं मिलता जो मुझे पूरी विधि बता दे जिस विधि से शून्य मंडल (ब्रह्मरंध्र) मे जो एक पुरुष (ब्रह्म) है उससे लौ लगा रखी जाय ।७।

हमारे देखते हुए जगत् चला जाता है और जगत् के देखते हुए हम चले जाते हैं; ऐसा कोई नहीं मिलता जो हमारी बाँह पकड़ कर इस (आवागमन से) छुड़ा ले ।८।

सारक और सूरमा तो बहुत मिलते हैं, घायल कोई नहीं मिलता । घायल को अगर घायल मिल जाय तो राम भक्ति दृढ हो जाय । तात्पर्य यह है कि डींग मारने वाले उपदेशक तो बहुत मिलते है, किंतु सच्ची अनुभूति वाला भुक्तभोगी साधक बहुत मुश्किल से मिलता है ।९।

सारा <सं० सारक=प्रहार करने वाला, तुल० क० ग्र० साखी १४-४ : **सारा** बहुत पुकारिया, पीर पुकारै और । **सूरा** <सं० शूर=वीर, बहादुर । 'सारा सूरा' युग्म के रूप में प्रचलित प्रतीत होता है—जैसे 'शूर वीर' ।

प्रेमी ढूंढता हुआ मैं फिरता हूँ, किन्तु मुझे कोई प्रेमी नही मिलता; प्रेमी से यदि प्रेमी मिल जाय तो सारा विष अमृत हो जाय (दुःखमय जगत् सुखमय हो जाय) ।१०।

तीन के स्नेही बहुतेरे मिलते हैं, किन्तु चौथे का स्नेही कोई नहीं मिलता, इस प्रकार राम के सभी प्रेमी परवश होकर बैठ गए हैं ।११।

तीन=सत, रज, तम—ये तीन गुण अथवा जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएं । चौथा—त्रिगुणातीत अथवा तुरीयावस्था ।

सर्प को दूध पिलाया जाय तो वह दूध ही विष हो जाता है; ऐसा कोई नहीं मिलता जो उन सर्पों समेत उनके विष को खा जाय अर्थात् दुष्टों समेत उनके अवगुणों को समाप्त कर दे ।१२।

मशाल हाथ में लेकर (भक्ति का अवलम्बन कर) मैंने अपना घर जला दिया (सांसारिक सुख त्याग दिया), अब उसका घर जलाऊँगा जो मेरे साथ चलेगा । अर्थात् आदर्श भक्त को परिग्रह (दौलत जोड़ने) की भावना का परित्याग करना पड़ता है ।१३। मुराड़ा (देशज ?)=*मशाल, लुकाठी ।*

(६) दीनता वीनती कौ श्रंग

कबीर कहता है कि मैं राम का कुत्ता हूँ और मेरा नाम मुतिया है, मेरे गले में राम की डोरी है—वह जिधर खींचता है मैं उधर ही जाता हूँ ।१।

मुझमें मेरा (अपना) कुछ नहीं है, जो कुछ है सो तेरा ही है; तेरा तुझको सौंपने में मेरा क्या लगेगा ? (पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना) ।२।

जिसका कोई उद्धारक नहीं है ऐसा स्वामी विहीन व्यक्ति (भवसागर में) बह जायगा (विनष्ट हो जायगा); नम्रता और गरीबी से स्वामी की वन्दगी (प्रार्थना) करते हुए ही यदि कुछ हो सकता है तो हो सकता है ।३।

निगुसावाँ=गुसाईं या स्वामी विहीन ।

थाघी=थाघ या थाह लेकर डूबे हुए को निकालने वाला ।

कबीर कहता है कि मैंने सारा जग ढूंढ लिया, मुझे कोई बुरा नहीं मिला । कबीर सबके लिए बुरा है, कबीर के लिए कोई बुरा नहीं है ।४।

कर्त्ता के गुण अनेक है, अवगुण उसमें कोई नहीं है; जब मैं अपना हृदय खोजता हूँ तो पाता हूँ कि सारे अवगुण मुझमें ही हैं ।५।

जब से माता द्वारा जनमाया गया, कभी भी सुख न पाया । मैं डाल-डाल फिरता हूँ तो दुःख पात-पात फिरता है ।६।

जब<सं० यदा =जब। जनमिया<सं० जन्म (नाम धातु) =जनमाया गया, पैदा किया गया। कदे<सं० कदा =कभी। डारी डारी मैं फिरौं ···आदि—'तू डाल-डाल तो मैं पात-पात' यह लोकोक्ति है, इसी का प्रयोग कबीर ने किंचित् अंतर से किया है। तात्पर्य यह है कि जहाँ आदमी बाद में पहुँचता है, वहाँ दुःख पहले से मौजूद रहता है, इस प्रकार जीवन में दुःख अधिक व्यापक है; तुल० तिरती है समीर सागर पर अस्थिर सुख पर दुख की छाया (निराला, बादल राग)।

जो अवसर मुझे मिला था वह मेरे बालपन (अल्पज्ञता) में ही बीत गया और अब प्रिय परदेश में पहुँच गया। हे स्वामी, मेरा (परित्यक्ता होने का) कलंक उतारो और मेरे भ्रम तथा अंदेसे को दूर करो अर्थात् आकर मिलो।७।

अलपतन = क्षुद्रता, बालपन ('अलपपन' का प्राचीनतर रूप, तुल० सूरातन< मूरापन; बड़त्तन>बड़प्पन) भाँनौं = भंजन करो, नष्ट करो।

जैसे मेरा मन तुझसे (लगा) है, वैसे ही यदि तेरा भी हो जाय तो निहाई पर रखे हुए गरम लोहे के टुकड़ों की भाँति (हम दोनों ऐसे मिल जायँ कि) कोई जोड़ न देख पावे।८।

अहरनि<प्रा० अहरी<सं० अधरी (=पेषण शिला, सिल, दे० पाइअ०, पृ० ६४) =निहाई जिस पर लोहार या सुनार धातुओं को रख कर गढ़ते-पीटते हैं। संधि (सं०) =जोड़, मेल।

न प्रतीति है, न प्रेम-रस है, न इस शरीर मे ढग है, इसलिए क्या पता कि उस प्रिय से किस प्रकार का रग (रतिक्रीडा) रहेगा।९।

कबीर कहता है कि मैंने भूल से अपराध किया, किंतु ऐ स्वामी, तू अपने चित्त को मलिन न कर। वह महान् स्वामी उसे (दास को) ढूंढ़ता रहता है जब कि दास नित्य बिगाड़ना रहता है अर्थात् अपराध करता रहता है।१०।

गरवा =गुरु, महान्। लोड़िए (देशज) = ढूंढ़ना, खोजना (जैसे फूल लोढ़ना)। तुल० फरीद : "रब बसै हीयालिए तू जंगल क्या लोड़ें।" अर्थात् स्वामी हृदय मे ही बसता है तू उसे जंगल मे क्या ढूंढ़ता है ?

दैन्य और गरीबी दीन के लिए हैं और द्वंद्व युक्त प्राणी के लिए अभिमान

होता है। (परिणामतः) द्वंद्व युक्त का हृदय जहाँ विष से भरा रहता है वहाँ दीनता और गरीबी में राम रहते हैं।११।

दुंदर—द्वंद्व या राग द्वेष में अनुरक्त व्यक्ति।

कबीर बेचारा भवसागर के (दुःखों के) निमित्त विनती कर रहा है; इस सेवक पर जुल्म हो रहा है जिसके लिए, ऐ स्वामी, तू यम को रोक।१२।

(७) पिउ पहिचानिबे कौ अंग

कस्तूरी मृग के नाभि-कुंडल में रहती है, किन्तु मृग उसे वन में ढूंढ़ता है। इसी प्रकार घट-घट में राम है, लेकिन दुनिया (मृग के समान अज्ञानवश) उसे नहीं देख पाती अर्थात् उसकी खोज में इधर-उधर भटका करती है।१।

कस्तूरी (सं०)—एक सुगंधित द्रव्य जो ठंडे पहाड़ों पर रहने वाले विशेष प्रकार के हिरन की नाभि से निकलता है। आइने-अकबरी के अनुसार मेद नामक जंतु के सूखे नामों को कूट कर पानी में औटाया जाता था। जो तेल ऊपर आ जाता था वही 'मेद' या 'मीद' कहलाता था (आईन ३०, पृ० ८५ ब्लाशमैनकृत अनुवाद)। मेद और कस्तूरी अभिन्न हैं। कुंडलि<सं० कुंडल (=आवर्त, चक्कर)=नाभि-कुंडल में, नाभी के गोल आवर्त में; तुल० पदमावत ११७-१ : नाभी कुंडर मलै समीरू। समुंद भँवर जस भँवै गँभीरू।

जैसे नेत्रों में पुतली (तिन) होती है वैसे ही सृष्टिकर्ता (राम) भी हमारे घट (शरीर) में समाया है। मूर्ख लोग इस बात को समझते नहीं जिससे उसको बाहर (तीर्थों या मूर्तियों में) ढूंढ़ने जाते हैं।२।

पूतरी—सं० पुत्रिका>प्रा० पुत्तलिया=आँख के बीच का काला दाग़ जो दृष्टि-शक्ति का केंद्र होता है, (तुल० मानस, अयोध्या० तोहि करउँ चख पूतरि आली)। राम भी इसी प्रकार केंद्रीय प्राणशक्ति बन कर घट-घट में समाया हुआ है। खालिक<अ० खालिक—सृष्टि का रचयिता, ईश्वर।

सम्पुट में जो समाया हुआ है वह (शालिग्राम) साहब (स्वामी) नहीं है। जो सारे मंडान (ब्रह्मांड) में रमण कर रहा है उसी को साहब कहना चाहिए।३।

मांड = मंड, सृष्टि, ब्रह्माण्ड ।

कबीर कहता है, मैंने उसे साथी बनाया है जिसे सुख-दुःख कुछ भी नही होता, मैं उसके साथ हिलमिल कर खेलूँगा क्योंकि उसमे कभी बिछोह नही होता है ।४।

पति (परमेश्वर) के धोखे में भूली हुई स्त्री (जीवात्मा) ने बहुतेरा व्यभिचार किया (अनेक देवी देवताओं को ईश्वर समझ कर उनकी पूजा की) किंतु सद्गुरु ने उसे पूर्व जन्मों के (सच्चे) भर्तार के पास लाकर उनसे परिचय करा दिया ।५।

वह स्वामी तुम्हारे शरीर में ही निवास करता है लेकिन तू उसका मर्म नही जानता इसलिए कस्तूरिया मृग के समान बार-बार घास में ही (सुगंध) ढूँढता है (यद्यपि कस्तूरी, जो सुगंध का मूल स्रोत है, उसी की नाभि में रहती है) ।६।

जिसके मुख और मस्तक नहीं है, जो रूपवान अथवा कुरूप भी नही है, जो पुष्प की गंध से भी पतला (सूक्ष्म) है—ऐसा अनुपम तत्व वह है ।

माथा < मस्तक = मत्था । पुहुप < स० पुष्प ।

जैसा अद्भुत वह (परमात्मा) है उसे तुम मत कहो, उस अद्भुत (ज्ञान) को छिपा कर रखो, क्योंकि वेद कुरान की भी जहाँ तक गति नही है उसका वर्णन करने से कोई प्रतीति (विश्वास) न करेगा ।८।

उसे भारी कहता हूँ तो बहुत डरता हूँ (आतंकित हो जाता हूँ), हलका कहता हूँ तो झूठा है (क्योंकि हलका कहने से लघुत्व की व्यंजना होती है) । मैं क्या जानूँ राम को—कभी नेत्रों से तो उसे देखा नहीं (क्योंकि उसका कोई स्थूल रूप नही है) ।९।

हलवा < हलका । दीठ - स० दृष्ट = देखा ।

अगर वह देखा गया है तो उसे कहूँ कैसे (उसका वर्णन कैसे करूं ?), और कहने पर कोई प्रतीति भी नहीं करेगा । हरि जैसा है वैसा रहे, तू मस्त हो कर केवल उसका गुणगान कर ।१०।

पतिआइ < सं० प्रत्यय = विश्वास करना ।

समस्त सृष्टि उसमें है किंतु वह समस्त सृष्टि से निराला रहता है; कबीर उसकी सेवा करता है, अन्य किसी की नहीं ।११।

तिनके की ओट में (अपने ही भीतर) राम है, मेरे जाने तिनका ही पहाड़ हो गया (अगम्य हो गया)। सद्गुरु से मिल कर जब जानकारी हुई तब उसे अपने घट (शरीर) में ही पा लिया ।१२।

तिनकै—'तिन' (तृण) तथा 'कै' (=के या की) को पृथक् मानकर भी अर्थ किया जा सकता है, और संयुक्त रूप में भी (तिनकै=तिनके की)। दोनों प्रकार से अर्थ यही होता है। ओल्है—हि० ओट>ओड़>ओल, ओल्है=ओट में (अधिकरण रूप)। भाइं<सं० भाव (=विचार) = विचार में; मेरे भाइं=मेरे जाने, मेरे लिए। परचै<सं० परिचय=जानकारी, तत्वज्ञान।

(८) सम्रथाई कौ अंग

न मैंने कुछ किया, न करूंगा, न कुछ करने योग्य मेरा शरीर ही है। जो कुछ किया, परमात्मा ने किया जिससे कबीर (जो क्षुद्र जुलाहा था) कबीर (महान्) हो गया ; अथवा जो कुछ किया परमात्मा ने किया, लोग नाहक कहने लगे—'कबीर ने किया', 'कबीर ने किया' ।१।

कबीर (अ०)=महान्। भया कबीर कबीर—इसके दो अर्थ हो सकते हैं : (१) कबीर महान् हो गया, (२) 'कबीर-कबीर' का हल्ला हो गया अर्थात् लोग 'कबीर कबीर' या 'कबीर ने किया', 'कबीर ने किया' ऐसा कहने लगे।

सात समुद्रों की स्याही बनाऊं और समस्त वनराजी (वनस्पति-समुदाय) को लेखनी बना लूं, धरित्री को कागज बना लूं, तो भी परमात्मा के गुण लिखे नहीं जा सकते ।२।

बनराइ<सं० वनराजी=वनस्पति-समूह। निम्नलिखित प्रसिद्ध श्लोक तुलनीय है—

असित गिरिं समंस्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वीम्।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

कबीर क्या करनी कर सकता है, यदि राम उसकी सहायता न करे ? (उसकी सहायता के बिना) जिस-जिस डाल पर पैर रखता हूँ वही झुक-झुक जाती है ।३।

मनुष्य का किया हुआ कुछ नही होता है और उसका न किया हुआ सब हो जाता है । यदि करने से ही कुछ होता है तो उसका कर्ता कोई और ही अर्थात् ईश्वर होता है ।४।

अवर्ण्य (अवर्णनीय) का क्या वर्णन किया जाय ? मुझसे उसका वर्णन नहीं हो सकता । वह अवर्णनीय वर्णन के परे है । सभी उपाय कर-करके थक गया (किंतु उसके वर्णन में निष्फल हुआ) ।५।

हे सखी, ढूंढ़ते-ढूंढ़ते कबीर खुद खो गया । बूंद (जीवात्मा) समुद्र (परमात्मा) में समा गई है—उसे कहाँ ढूंढा जा सकता है ? ।६।

कबीर जीवात्मा तथा परमात्मा मे अंशांशी भाव मानते हैं अवश्य, किंतु भक्ति की चरमावस्था में वे आत्मा का परमात्मा मे पूर्ण तादात्म्य मानते हैं । फिर उसका 'अहं' 'इदम्' में विलीन हो जाता है और दोनों की विभाजक रेखा समाप्त हो जाती है, जैसे बूंद समुद्र में मिल जाय तो ढूंढने से कुछ पता नही लगता कि इसमें बूंद कहाँ है ? रामानुजाचार्य और तुलसी की 'भेद-भक्ति' से यह स्पष्ट ही भिन्न विचारधारा है ।

(बिंदु जैसे अपने पृथक् अस्तित्व को) ढूंढने-ढूंढते कबीर स्वयं खो गया; जब समुद्र (परमात्मा) बूंद (जीवात्मा) में समा गया तो वह समुद्र भी कहाँ ढूंढा जा सकता है ? ।७।

जिसका कोई (आश्रयदाता) नही है उसका (ऐ राम) तू है और जिसका तू है उसका सभी कोई है । ऐ स्वामी, तेरे दरबार में कोई निराश नही होता ।८।

दरिगह (फ़ा० दरगाह)=चौखट, दरवाज़ा, दरबार । नामहरूम=महरूम अर्थात् निराश, अभागा, असफल । बोलियो मे इस प्रकार के अनेक प्रयोग मिलते हैं, उदा० अबिरथा=व्यर्थ; बेफजूल= फ़िज़ूल; बेफोकट=फोकट इत्यादि । डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसका अर्थ किया है : "तेरी दरगाह में कोई

अभावग्रस्त न हो) नहीं होता है—अभावग्रस्त ही होते हैं।" किंतु यह उपयुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि कवि का मूल भाव इसके विपरीत है।

भवसागर (विषय वासनाओं के) विष-जल से परिपूर्ण है, (उसे पार करने का) मन धैर्य नहीं बांधता: किन्तु समर्थ स्नेही हरि मिल गया तब उसके आश्रय से कबीर पार उतर गया।९।

मेरा स्वामी बनिया है जो सहज ही अपना व्यापार किया करता है और बिना तराजू की डाँड़ी और पलड़े के ही वह सारे संसार को तौलता है।१०।

स्वामी से ही सब कुछ होता है, सेवक से कुछ भी नहीं होता है। वह स्वामी राई से पर्वत कर देता है और पर्वत से राई कर देता है।११।

ऐ स्वामी, मैं तेरे बिना कौड़ी भी नहीं पा सकता; लेकिन यदि सिर पर तुम्हारे जैसा धनी हो तो मैं अपना लाखों मोल कराऊँ।१२।

बाहिरा<सं०वाह्य=वाहर, बिना।

(अन्य स्वामियों के यहाँ) कोई खड़ा रहता है फिर भी *(अपना अभीष्ट)* नहीं प्राप्त कर सकता, और कोई खड़ा-खड़ा बिललाता है, किन्तु मेरा स्वामी ऐसा समर्थ है कि वह सोते हुओं को जगा-जगा कर देता है।१३।

कबीर राम से पूछता है कि ऐ समस्त भुवनों के मालिक और राजा, तू सभी की रचना कर उनसे किस प्रकार अलग रहता है, वह विधि मुझे भी बता।१४।

कबीर याचना करने (माँगने) जा रहा था कि सामने अयाच्य कर देने वाला मिल गया। वह उसे अपने घर ले चला जहाँ उसने भारी निधि पा ली (अथवा जहाँ मुझे भारी तत्त्व का परिचय प्राप्त हुआ)।१५।

अजच<अजच्च<सं० अयाच्य— अयाची बना देने वाला।

'अजच्च' का 'अजंच' रूप मध्यकालीन लेखन-प्रणाली में द्वित्व के लिए अनुसार देने की परंपरा के परिणामस्वरूप है, जैसे मच्छर<मंछर, मज्जन< मंजन आदि। संच<सं० संचय=संचित धनराशि, निधि, खजाना। 'पाइअसद्दमहण्णवो' में अपभ्रंश के 'संच' शब्द को सं० 'संचय' से ही व्युत्पन्न मान कर उसका 'परिचय' अर्थ दिया है (दे० पृ० ८३५)। इसके अतिरिक्त 'संच'

को 'सच्च' (=सुख) मान कर भी अर्थ किया जा सकता है, जैसा कि अधिकांश टीकाकारों ने किया है। किन्तु यहाँ याचना का प्रसंग है, अतः पहला अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

आदि, मध्य और अंत तक वह ईश्वर सदैव अभंग और अविभक्त रूप से (मेरे या सृष्टि के साथ) है; कबीर कहता है, यह सेवक ऐसे कर्त्ता का साथ नहीं छोड़ सकता।१६।

अविहड़=न विहरने वाला, विघटित न होने वाला, अविभक्त।

कबीर कहता है कि सृष्टिकर्ता के अतिरिक्त मेरा कोई हितचिंतक नहीं है; वह मेरे गुणों-अवगुणों में मुझसे अलग नहीं होता अर्थात् सदैव साथ निभाता है, जब कि संसार के लोग स्वार्थ में बँधे रहते हैं।१७।

बिहड़ै नहीं—विहरता नहीं, पृथक् नहीं होता।

(६) परचा कौ अंग

जब 'मैं' का भाव (अहंभाव) था तब हरि नहीं था, अब हरि है तो 'मैं' नहीं रहा। मेरा समस्त (मोह) अंधकार मिट गया जब मैंने अपने भीतर ही प्रकाश देखा।१।

परब्रह्म के उस तेज का परिमाण कैसा है—अर्थात् वह तेज किस प्रकार का है ? (उत्तर यह है कि) वह शोभा कहने की नहीं है, देखने से ही उसकी यथार्थता का पता लगेगा।२।

उनमान—(सं० उद्+मान)=परिमाण, शक्ति, सामर्थ्य।

परवांन—प्रमाण, सच्चाई, यथार्थता।

अच्छा हुआ कि मैं भव (जन्म-मरण) में आ पड़ा और मूल दशा पूर्ण रूप से विस्मृत हो गई, क्योंकि हिम गलकर पुनः पानी हो गया और ढुलक कर उस कूल पर उससे जा मिला (जो उसका मूल स्रोत था) अर्थात् संसार के त्रिविध ताप से द्रवीभूत होकर अपने मूल अंशी परमात्मा की ओर प्रेरित हुआ।३।

विशेष—हिम जड़ योनि है, उसका तरल होना चैतन्य होना है और उस कूल

जाकर पुनः मूल सागर में मिलना परमात्मा से मिलना है। तुलनीय 'कामायनी', चिन्ता सर्ग, छंद २—

नीचे जल था था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन॥

जिसके निमित्त में जा रहा था उसे मैं अपने पास ही पा गया और जिसे मैं अपने से भिन्न समझता था वही फिर अपना हो गया।४।

जहाँ परमात्मा की ज्योति जगमगा रही है वह स्थान अगम्य, अगोचर है और वहाँ तक किसी की गति नहीं है। कबीर वहीं पर उसकी बंदगी करता है जहाँ पाप-पुण्य की छूत (स्पर्श) तक नहीं है अर्थात् वह स्थिति पाप-पुण्य आदि के द्वंद्वों से परे है।५।

पक्षी (मन) आकाश (शून्य लोक) को उड़ गया किन्तु शरीर परदेश (स्थूल जगत्) में ही रह गया; आकाश में पक्षी ने चोंच के बिना ही पानी पिया अर्थात् स्थूल शरीर की सहायता के बिना ही केवल मनःसाधना के द्वारा परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त किया जिससे इस देश (स्थूल जगत्) की सुध भूल गई।६।

मेरे शरीर में जब प्रेम ने प्रकाश किया तब अनंत परमात्मा से योग लग गया अर्थात् परमात्मा से संयोग हुआ। फिर तो संशय समाप्त हो गया और सुख हुआ जब वह प्यारा कांत मिल गया।७।

मन उन्मन से लग गया और वह गगन (शून्य लोक) तक पहुँच गया, वहाँ उसने चंद्र विहीन चाँदनी देखी, वहीं पर अलक्ष्य निरंजन ब्रह्म को भी देखा जो शून्यलोक के राजा हैं।८।

पानी (चेतन, आत्मा) से ही हिम (जड़ जगत्) हुआ और हिम होकर वह पुनः पानी के रूप में परिवर्तित होकर उसमें विला गया। इस प्रकार जो कुछ मूलतः था वही पुनः हो गया। और अब उसके विषय में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।९।

चित्तवृत्ति तल्लीनता में समा गई, जाप अजपा में समा गया, लेश्य अथवा साकार अलेश्य अथवा निराकार में समा गया, इसी प्रकार आत्मा या मन अपने में ही समा गया।१०।

सुरति<सं० श्रुति—श्रवण वृत्ति, चित्तिवृत्ति। कामशास्त्र तथा काव्यशास्त्र में 'सुरति' शब्द का प्रयोग रतिक्रीड़ा तथा प्रेम के अर्थ में हुआ है किंतु संत-काव्य में उसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में हुआ है जिसे ध्यान अथवा स्मृति के समानांतर मान सकते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सुरति को 'अन्तर्मुखी वृत्ति' माना है और बताया है कि आचार्य क्षितिमोहन सेन 'सुरति' का अर्थ प्रेम और 'निरति' का अर्थ वैराग्य करते थे (कबीर, पृ० २४४)। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'सूरते इलहामिया' का बोधक माना है ('कबीर का रहस्यवाद' परिशिष्ट), श्री परशुराम चतुर्वेदी 'सुरति' को 'शब्दोन्मुख चित्त' मानते हैं (कबीर-साहित्य की परख, पृ० २५२)। अर्थ के सम्बन्ध में तो विशेष मतभेद नहीं, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इसे सं० 'स्मृति' से व्युत्पन्न माना है (दे० योगप्रवाह, काशी विद्यापीठ वाराणसी, में 'सुरति-निरति' शीर्षक निबन्ध, पृ० २३-२४) और डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने इसे सं० 'स्रोत' से विकसित मान कर इसका अर्थ 'चित्त-प्रवाह' किया है (विद्यापीठ, त्रैमासिक, भाग २, पृ० १३५)। किन्तु मेरा विचार है कि सन्तों का 'सुरति' शब्द सं० 'श्रुति' (श्रवणार्थ) से विकसित हुआ है। उपनिषदों में सन्तों के शब्दयोग से मिलते-जुलते अनेक उल्लेखों के साथ (दे० छान्दोग्य ५।१०।१०, बृहदारण्यक ५।६।१; मैत्र्युपनिषद् ६।२२-२३) छान्दोग्य (३।१३।८) में एक ऐसा उल्लेख मिलता है जो इस शब्द की प्राचीन परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश डालता है—

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति। तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपि गृह्य निनदमिवनदथुरिवाग्नेरिवज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतञ्चेत्युपासीत। चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद। अर्थात् 'जहाँ इस शरीर में स्पर्श से जो उष्णत्व जानता है उसका इस प्रकार श्रवण भी होता है जब दोनों कानों को अंगुलियों से ढक कर (रथ के) घोष के समान, (वृषभादि के) नाद के समान और जलती हुई अग्नि के समान जो सुनता है वही उसका दृष्ट और श्रुत ज्ञान प्रसिद्ध है। वह दर्शनीय और विश्रुत दोनों है, जो ऐसा जानता है, जो ऐसा जानता है।' कबीर के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन योगियों तथा

सन्तो की रचनाओं में इस शब्द के ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जिनसे उसके श्रवणार्थ की पुष्टि होती है। कुछ उदाहरण उद्धृत किए जा रहे हैं—

१—करण बिन सुरति श्रवण (गोरखबानी, डॉ० बड़थ्वाल, पृ० १८७)।

२—दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा, सुरति लुकाइबा कानं। (वही, सबदी ७५)।

३—कथी सुरति समाइ (नानक, गुरुग्रन्थसाहिब, पृ० १३८-१५)।

४—जेता सबद सुरति धुनि तेती (वही, पृ० ३५-६)।

५—श्रवणों सुरति गई नैन न सूझै। (दादू-वाणी, मगलदास, पृ० ५७०)।

'ब्रह्मण्डे सो पिंडे जांनि' इस सिद्धान्त के अनुसार योगियों तथा सन्तों की यह मान्यता है कि बाह्य जगत् में जो महाशब्द व्याप्त है उसी का प्रतिरूप पिंड अथवा शरीर में अनाहत नाद होकर समाया हुआ है—

कबीर सबद सरीर मैं, बिन गुन बाजै तांति।
बाहरि भीतर रमि रह्या, तातैं छूटि भरांति॥

—क० ग्रं०, साखी ६-४७।

साधक को इसी शब्द मे ध्यान लगाना चाहिए—यही उसके लिए परमार्थ है। इस अन्तर्मुखी साधना के लिए सन्तों ने बाह्य स्थूल इन्द्रियों की अपेक्षा उनके अन्तर्मुखी सूक्ष्म रूप को ही अधिक महत्व दिया। इस प्रकार जो स्थूल श्रवणेन्द्रिय या 'कान' है, 'सुरति' उसी की आन्तरिक सूक्ष्म वृत्ति मानी गई और इस 'सुरति' को शब्द के साथ एकाकार करने के उपदेशों से सारा सन्त-साहित्य भरा पड़ा है। सन्तों की पारिभाषिक शब्दावली मे इसे 'सुरति-शब्द योग' कहा गया है। आगे चल कर सुरति केवल श्रवणेन्द्रिय की सूक्ष्म वृत्ति की परिधि तक सीमित न रह कर समग्र रूप से चित्तवृत्ति बन गई और 'ध्यान', 'याद' अथवा 'ख्याल' का समानार्थी हो गई, क्योंकि शब्द-साधना मे ध्यान को ही प्रमुखता रहती है। इस अर्थ में यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो चुका है कि आज का साधारण ग्रामीण भी कहता है कि 'अमुक बात हमारी 'सुरता' मे नहीं आती' अर्थात् याददाश्त मे नहीं आती। सन्त-साहित्य से भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं—

सीप की सुरति आकास बसतु है (यारी, महात्माओं की वाणी, पृ० ३)।
जिसकी सुरति जहां रहै, तिसका तहां विसरांम (दादू) इत्यादि।

ध्यान की एकतानता के आधार पर 'सुरति धागा', 'सुरति डोर' आदि रूपकों का प्रयोग होने लगा। आगे चलकर कुण्डलिनी के अनुकरण पर उसे शक्ति का तेजःपुञ्ज भी माना गया (जैसे—देखो संतो सुरति चढ़ी असमान'''जगमग जोति बरत अति निर्मल; गुलाल, महात्माओं की वाणी, पृ० ६५)। कहीं-कहीं 'सुरति-कमल' की कल्पना की गई जिसकी स्थिति सहस्रार के भी ऊपर मानी गई। रूपक के आधार पर कभी-कभी शब्द-सुरति का गुरु-शिष्य के रूप में अथवा परमात्मा-जीवात्मा के रूप में (कल्याण योगांक, 'सुरतियोग' लेख) वर्णन हुआ है और कभी-कभी मधुर भावना से पति-पत्नी के रूप में भी (विशेषतया राधा-स्वामी-सम्प्रदाय में)। विस्तृत विवेचन के लिए दे० 'हिन्दी अनुशीलन', धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक में 'सन्तों द्वारा प्रयुक्त 'सुरति' शब्द का अर्थ-विकास'।

निरति=निरत अथवा तल्लीन होने का भाव। 'सुरति जब इतनी पूर्ण हो जाती है कि....परमात्मा के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध...तदात्म रूप से हो जाता है, वह अवस्था निरति कहलाती है' (डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, योगप्रवाह, पृ० ३२)। अजपा<सं० अ+जप=माला, सुमिरनी अथवा जिह्वा आदि की सहायता से किये हुए स्थूल जप का उल्टा अर्थात् सूक्ष्म जप। नाथयोगियों तथा संतों ने प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ 'सोऽहं' का सूक्ष्म जाप सहज रूप में होता हुआ माना है जिसको 'अजपा गायत्री' या 'अजपा जाप' कहते हैं। एक स्वस्थ व्यक्ति औसतन २१,६०० साँसें चौबीस घंटे में लेता है, अतः प्रत्येक साँस में यदि सुमिरण में मन लगाया जाय तो उतनी ही अजपा गायत्री का जाप होता है। तात्पर्य यह है कि संतों ने काठ या धातु के मनकों की माला जपने की अपेक्षा ऐसी सूक्ष्म माला जपने पर अधिक बल दिया है जो साँस की हो और जो साँस टूटने के साथ ही टूटे—इस प्रकार की तल्लीनता नामस्मरण में हो। जाप<सं० जप=स्थूल जप जो माला या जीभ हिला कर किया जाता है। लेख<सं० लेख्य (=लिखने योग्य या देखने योग्य) = साकार, स्थूल। अलेख=उपर्युक्त 'लेख' का विलोमार्थी=सूक्ष्म, निराकार।

स्थूल से सूक्ष्म साधना की ओर अग्रसर होते हुए अंततोगत्वा सहज स्थिति की प्राप्ति का निर्देश इस साखी में भी है।

मैंने शान्ति प्राप्त कर ली जिससे सुख उत्पन्न हुआ, मेरी हृदय-सरिता पूर्ण हो गई और मेरे समस्त पाप सहज ही चले गये जब मेरा स्वामी मुझे समक्ष ही मिल गया।११।

कबीर ने एक ऐसा अगम्य (परमात्मा) देखा कि उसकी महिमा उससे नहीं कही जा रही है; वह तेजपुंज और पारस मणि के समान स्वामी (केवल) मेरे नेत्रों मे समा रहा है।१२।

जहाँ नींव विहीन देवस्थान है, शरीर (आकार) विहीन देव है, कबीर वहाँ विलमा है (रमा है) और वह अलख की सेवा करता है।१३।

देहुरा—सं० देवगृह > देवघर > देहुरा; अथवा सं० देवकुल > प्रा० देउल > हि० देउर > देहुर = देवस्थान (दे० पाइअ० पृ० ४८१)। विलंबिया < सं० विलंबित = विलमा है अथवा प्रेम में उलझा है। जनपदीय बोली में 'विलमना' विशिष्ट शब्द है जिसका प्रयोग लोकगीतों में अनेक बार हुआ है; यथा : न जाने कौन लीन बिलमाय सजन मोरे अजहूँ न आए। (दे० प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृ० ६२६ : विलमना = किसी से प्रेम हो जाने के कारण उसके पास रुक या रह जाना)।

देवमन्दिर में जैसे छोटी देवमूर्ति हो (अथवा छोटी देउलिया या मण्डपिका हो), उसी प्रकार शरीर में वह परमात्मा तिल जितने विस्तार में है। उसी में अर्थात् शरीर के अन्दर ही पत्ती है, उसी में जल है तथा उसी में पूजने वाला भी है (*अर्थात् पूजनोपचार की सारी सामग्री तथा पुजारी—सभी शरीर के भीतर ही सूक्ष्म रूप में वर्तमान है*)।१४।

देवल < प्रा० देउल < सं० देवकुल = देवमन्दिर (दे० पाइअ०, पृ० ४७८)। सं० 'देवालय' से भी इसकी व्युत्पत्ति सम्भव है। देहुरी < हि० देउरी ('देवरा' (—ला) < देव + ड़ा का स्त्री० रूप) = लघु देवमूर्ति। दे० प्रामाणिक कोश—देवरा = छोटा देवता (पृ० ६२७)। इसे प्रा० 'देउलिआ' (सं० देवकुलिका) से भी व्युत्पन्न माना जा सकता है जिसका अर्थ है 'छोटा देव-

स्थान या मंडपिका' (दे० पाइअ०, पृ० ४७८)। यहाँ 'देहुरी' का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने 'देहली' किया है जिससे इस साखी का अर्थ भ्रमात्मक हो जाता है। डॉ० माताप्रसाद जी गुप्त ने उन अर्थों से असन्तोष प्रकट करते हुए उपर्युक्त दोनों शब्दो के नए अर्थों का सुझाव दिया है (दे० नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका ६८-१,२)। उनके अनुसार 'देवल' वस्तुतः देवला (देव+डा) अर्थात् देव है। तथा देहुरी' वस्तुतः 'देहुर' अर्थात् देवगृह या मन्दिर है। अर्थ प्रसंग-सम्मत है, किन्तु 'देवल' शब्द की व्युत्पत्ति चिन्त्य है (यह भी ज्ञातव्य है कि कबीर में 'देवल' सर्वत्र देवगृह या मन्दिर अर्थ में ही प्रयुक्त है), इसके अतिरिक्त अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए अन्वय में भी व्यतिक्रम करना पड़ता है (यथाः देहुरी मांही देवल) जो कबीर की मूल वाक्य-रचना के साथ मेल नही खाता; तुल० ऊपर 'अजपा में जाप' के लिए 'अजपा माहैं जाप' न कि 'जाप मांहैं अजपा'। मैंने डॉ० गुप्त की व्युत्पत्ति का ही संकेत ग्रहण किया है किन्तु उन व्युत्पत्तियों को परस्पर स्थानान्तरित कर दिया है जिससे अन्वय में भी विपर्यय नहीं करना पड़ता और अर्थ भी श्रेष्ठ निकल आता है। कदाचित् कवि का मूल भाव भी यही है।

कहने की आवश्यकता नही कि इस साखी मे भी सूक्ष्म उपासना की ओर संकेत है; तुल० दादू-वाणी, साखी ४-२६२—

माहिं निरंजन देव है, मांहैं सेवा होइ।
मांहि उतारैं आरती, दादू सेवग सोइ॥

अनंत का तेज ऐसा है मानों सूर्य की श्रेणी उदित हुई हो; जो सुन्दरी (जीवात्मा) पति (परमात्मा) के साथ रात्रि में जागती रही है (प्रेमाभक्ति की साधना करती रही है) उसी के द्वारा यह कौतुक देखा गया है।१५।

कबीर कहता है कि मेरा मन भँवरा हो गया और निरंतर उस दिव्य कमल पर निवास करने लगा। वह कमल जो बिना जल के खिला हुआ है, उसे कोई सच्चा दास ही देख पाता है।१६।

कंवल ज फूला नीर बिनु—यह कमल सहस्रार अथवा हृत्कमल प्रतीत

होता है जहाँ परम तत्त्व का निवास माना गया है—हठयोग के अनुसार सहस्रदल कमल में और भक्तियोग के अनुसार द्वादशदलीय हृत्कमल में।

निज=ठीक, यथार्थ। अवधी तथा भोजपुरी में आजकल भी यह शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, उदाहरणतया 'निजु क चपाट' अर्थात् 'सही-सही मूर्ख'।

मनुष्य के शरीर के भीतर ही कमल (हृत्कमल अथवा सहस्रदलकमल) प्रकाशित है और वहाँ ब्रह्म की वास होती रहती है। मेरा मन रूपी भ्रमर वहाँ लुब्ध हो रहा है उसे कोई हरि भक्त ही जानेगा।१७।

सागर नहीं है, सीपी नहीं है और स्वाति बिन्दु भी नहीं है अर्थात् मोती जिन वस्तुओं से बनते हैं उनमें से कोई भी नहीं है, फिर भी शून्य शिखर (ब्रह्म रंध्र) पर स्थित गढ़ (भ्रमरगुफा) में नाम रूपी मोती उत्पन्न हो रहे हैं।१८।

घाट में ही अवघट मिल गया (दुर्गम वस्तु अर्थात् तत्वज्ञान सुगमता से मिल गया) और अवघट में ही घाट मिल गया अर्थात् जिस साधन मार्ग को लोग दुर्गम समझ बैठे थे, वही मेरे लिए सुगम हो गया। कबीर कहता है कि इस प्रकार मुझे परिचय (ब्रह्म-साक्षात्कार) प्राप्त हो गया—ऐसी गुरु ने बाट दिखाई।१९।

घट—आगे 'औघट' है, अतः 'घट' को यहाँ 'घाट' का ही बोधक मानना उपयुक्त होगा—वैसे 'शरीर में ही वह दुर्गम रहस्य मिल गया' ऐसा अर्थ भी 'घट' (=शरीर) के आधार पर किया जा सकता है। औघट<अप+घाट= दुर्गम (विशेषण), दुर्गम वस्तु (संज्ञा), तात्पर्य अलभ्य तत्वज्ञान से है। परचा< सं० परिचय=जानकारी, ज्ञान-साक्षात्कार, तत्वबोध।

सूर्य (पिंगला) चन्द्र (इड़ा) में समा गया और दोनों को एक घर में (सुषुम्णा में) मिलाया, तब मन का अभीष्ट पूरा हो गया—ऐसा कुछ पूर्व जन्म का भाग्य जुड़ा।२०।

सूर, चाँद—क्रमशः पिंगला तथा इड़ा नाड़ी के बोधक हैं। इड़ा-पिंगला दोनों को सुषुम्णा में मिलाने का तात्पर्य सन्तों की पारिभाषिक शब्दावली में मन की द्वन्द्वातीत अवस्था प्राप्त करना है—यही सन्तों की मनःसाधना का चरम लक्ष्य है; इसीलिए कबीर कहते हैं—मन का चेता या सोचा हुआ पूरा हो गया।

पूरबला लेख—पूर्व-जन्म का भाग्य लेख; संचित कर्मों का फल।

सीमा को छोड़कर जब मैं असीम में पहुँच गया तब मैंने शून्य में अवगाहन किया और उस महल में विश्राम किया जिसे मुनिजन भी नहीं प्राप्त कर सकते ।२१।

पूर्व-जन्म के लेख से कबीर का भाग्य देखो कि जिसका महल मुनि जन भी नहीं प्राप्त कर सकते उस अलेख (ब्रह्म) को उसने अपना मित्र बना लिया है ।२२।

शरीर मे जब प्रेम ने प्रकाश किया तब उसके भीतर एक (दिव्य) ज्योति हो गई, मुख से कस्तूरी की महक गमकने लगी जिसकी बास वाणी से फूट पड़ी ।२३।

सुरति (चित्तवृत्ति) निरति (तल्लीनता) में समा गई और एक मात्र निरति ही रह गई; इस प्रकार जब सुरति और निरति का परिचय हुआ तब (कायागढ का) सिंह द्वार खुल गया अर्थात् उसपर विजय प्राप्त हो गई ।२४।

विशेष-'सुरति' तथा 'निरति' के लिए देखिए इसी अंग की दसवीं साखी की टिप्पणी। सिंभु दुवार—सिंहद्वार, गढ अथवा महल का मुख्य द्वार ('भ' तथा 'ह' के उच्चारण-साम्य के आधार पर)।

कबीर कहता है; संसार में आया था अनेक रूप देखने, किंतु ऐ सन्तो, दृष्टि में ऐसा अनुपम ब्रह्म पड गया (कि दूसरे को देखने की आवश्यकता नहीं रह गई) ।२५।

(प्रियतम ब्रह्म के मिलने पर) मैंने उसे अपने अंकों मे भर-भर कर भेंटा, क्योंकि मन मे धीरज नहीं बँध रहा था। कबीर कहता है कि जब तक दो शरीर हैं अर्थात् जब तक उसे एकमेक होकर इस प्रकार भेटा न जाय, तब तक वह कैसे मिल सकता है ? ।२६।

जिस दिन कृत्रिम जगत् नहीं था और हाट-बाट भी नहीं थे उस दिन भी राम का भक्त था जिसने वह औघट घाट (दुर्गम स्थिति) देखा। तात्पर्य यह कि रामभक्त प्रलय मे भी नष्ट नहीं होता ।२७।

परमात्मा की संगति से मैं शीतल हो गया (मेरा चित्त शांत हो गया) और मेरा मोह तथा भौतिक ताप मिट गया; मैंने रात दिन सुख की निधि को प्राप्त किया जब मेरे भीतर वह स्वतः प्रकट हुआ ।२८।

निरमोलिक=अमूल्य, बहुमूल्य। निज=सही, यथार्थ (दे० १६ वीं साखी की व्याख्या)। कांच कथीर=कच्चा कस्तीर या रांगा जिसे खोखले आभूषण आदि बनाते समय अन्दर भर देते हैं और कार्य समाप्त हो जाने पर निकाल फेंकते हैं—उसकी केवल इतनी ही उपयोगिता है। 'कांच' को कुछ टीकाकारों ने विशेषण न मानकर 'शीशा' अर्थ किया है, किन्तु यह प्रसंगसमस्त नहीं है।

मन उन्मनावस्था (सहजावस्था या शून्य समाधि) से लग गया और उन्मनावस्था मन से लग गई (अर्थात् मन और उन्मन एकमेक हो गए हैं), जैसे नमक पानी में मिल जाय और पानी नमक में।४०।

उन्मन्न < सं० उन्मन (अवस्था)=सहज समाधि या शून्य समाधि। बिलंगि < विलग्गि < प्रा० विलग्ग < सं० वि+लग्न=सहारा लेना, संलग्न होना, चिपटना (दे० पाइअ०, पृ० ७६८)। 'विलग्ग' विशेषण पद भी है (सं० 'विलग्न' का समानार्थी)। कुछ टीकाकारों ने 'बिलंगि' का 'पृथक्' या 'अलग' ऐसा भ्रमात्मक (या यों कहा जाय कि उल्टा) अर्थ किया है।

हठयोगप्रदीपिका (४।५६) में ठीक यही बात कही गई है—

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥

अर्थात् कपूर जैसे आग में और नमक जैसे पानी में विलीन हो जाता है वैसे ही निरंतर जोड़ते-जोड़ते मन परम तत्त्व में विलीन हो जाता है।

और भी तुलनीय, संरहपा—

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम जइ चित्तवि ठाइ।
अप्पा वीसहि परहिं सम तत्थ समाहिए काइ।

—राहुल सांकृत्यायन, दोहाकोश, पृ० १२।

अर्थात् जैसे नमक पानी में विला जाता है ऐसे ही अगर चित्त भी सहज दशा में विलीन हो जाय तो फिर अपना पराया समान दिखने लगता है—उसके लिए समाधि से क्या?

कण्हपा आदि अन्य सिद्धों ने भी हू-ब-हू-इसी शब्दावली में मन की सहज दशा का चित्रण किया है (उदाहरणतया दे० डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची संपादित

दोहाकोश, पृ० २७) । यही नहीं, सैंधव और जल के सम्मिलन का दृष्टांत तत्व-विवेचन के प्रसंग में उपनिषदों तक में मिलता है। छान्दोग्य ६/१३/२-२ में उद्दालक-आरुणि-श्वेतकेतु-आख्यान में आरुणि ब्रह्म तथा जगत् का संबंध समझाने के लिए उद्दालक से जल में नमक का ढेला डालकर उसकी प्रक्रिया का पर्यवेक्षण करने को कहता है। बृहदारण्यक २/४/१२ भी तुलनीय है—

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुलीयते ।

परमात्मा का नाम स्पर्श मणि के समान है और संसार लोहे के समान है, नाम के स्पर्श से वह स्वतः स्पर्शमणि के समान हो गया और इस प्रकार परस हो जाने पर वह टकसाली सोना हो गया ।४१।

विशेष—द्वितीय पंक्ति में पहला 'पारस' स्पर्श का बोधक है और दूसरा 'पारस' स्पर्श मणि का बोधक है जिसके स्पर्श से लोहा सोने में परिवर्तित हो जाता है—ऐसी प्राचीन मान्यता है ।

जिसके लिए मैं जा रहा था वह सामने ही आकर मिल गया, किंतु स्त्री (जीवात्मा) मलिन थी, प्रिय (परमात्मा) उज्ज्वल था इसलिए उसके पैरों पर भी नहीं पड़ सकी।२६।

शरीर के भीतर (की अनुभूतियों से) ही मन मान गया और अब बाहर कहीं नहीं जाता; जलती हुई अग्नि बुझ गई और ज्वाला शीतल जल हो गई।३०।

मन के आत्माभिमुखी होने पर समरसता आ गई जिससे जीवन की सारी विषमताएँ दूर हो गईं—जो वस्तुएँ दाहक थीं, वे शीतल सुखद हो गईं। तुल० क० ग्र० पद १०७-३ :

तन महिं होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि॥

बलती < सं० ज्वलन्ती = जलती हुई। लाइ < सं० अलात—अग्नि।

मुझे तत्त्व मिल गया और मन में जब उसका ध्यान धारण किया तब शरीर भूल गया और फिर जब शून्य सरोवर में स्नान किया तब सारी तपन मिट गई (त्रिविध ताप जाते रहे) और मैं शीतल हो गया (चित्त शांत हो गया)।३१।

कबीर का हृदय दृढ़ हो गया क्योंकि उसने उस समर्थ फल को प्राप्त किया जब संसार सागर में टटोलते-टटोलते उसका हाथ उस (परमतत्त्व रूपी) हीरे पर पड़ गया।३२। साबित (अ०) = पूर्ण, दृढ़।

मेरा मन उलट कर तुझ दरिया से मिल गया और उसमें मल-मल कर स्नान करने लगा; जब वह तेरी थाह लेने लगा तो थाह न मिली, क्योंकि ऐ कृपालु परमात्मा, तू महान् है।३३।

रहिमान (अ० रहमान) = रहम या कृपा करने वाला परमात्मा। मानसरोवर (मन) के सुन्दर जल (भक्तिरस) में हंस (नीर क्षीर विवेकी भक्त) क्रीड़ा करने लगे हैं और स्वच्छंद मुक्ता फल (मुक्ति) चुग रहे हैं, अब उड़कर अन्यत्र नहीं जाते हैं।३४। मुक्ता चुगैं = मुक्त होकर अर्थात् स्वच्छंदता पूर्वक चुग रहे हैं। मुक्ताहल = मुक्ताफल, मोती।

जहाँ पर गगन (शून्य) गर्जन करके (अनाहतनाद करके) अमृत टपकाता है और कदली-पुष्प के आकार के कमल (सहस्रार या अनाहत चक्र) का प्रकाश होता है, कबीर कहता है कि यहाँ पर कोई सच्चा दास ही बन्दगी करता है।३५।

अमृत—हठयोग के अनुसार सहस्रार से निर्झरित होने वाला रस जिसका खेचरी मुद्रा (जीभ को उलटकर तालु में लगाना) द्वारा पान कर योगी दीर्घायु होता है। हठयोग चंद्र और सूर्य का योग है। सूर्य मूलाधार चक्र में और चंद्र सहस्रदलकमल में रहता है; कुंडलिनी जागरण द्वारा दोनों को मिलाया जाता है। चंद्रमा मे भी अमृत का निवास माना जाता है। भक्ति योग के पक्ष में अमृत भक्तिरस है।

कदली कंवल—हठयोग के अनुसार सहस्रार तथा भक्तियोग के अनुसार अनाहत नाम का बारह पंखुड़ियों वाला हृदय कमल। क्र० ग्रं० पद १३० में कदली पुष्प को हृत्कमल से अभिन्न बतलाया गया है—

> कदली पुहुप दीप परकास। रिदा पंकज महिं लिया निवास॥
> द्वादस दल अभिअंतर मित। तहां प्रभु पाइसि करि लै चिंत॥

निज—यथार्थ, सच्चा। दे० इसी अंग की १६ वी साखी की टिप्पणी।

कबीर कहता है कि जब अनाहत नाद के तूर्य बजे तब कमल (सहस्रार या हृत्कमल) प्रकाशित हो गया, निर्मल (ज्ञान) सूर्य उदित हो गया और रात्रि (अज्ञान) की कालिमा मिट गयी।३६।

बागे<सं० वाक् =बोले या बजे। तूर—एक बाजा, तूर्य।

कबीर कहता है कि शरीर में बिना रस्सी (तांत) के ही तन्त्री का शब्द (अनाहत नाद) बज रहा है। बाहर-भीतर वही शब्द व्याप्त हो रहा है, इससे सारी भ्रांति दूर हो गई। ३७।

गुन<सं० गुण=रस्सी, तार। तांति<सं० तन्त्री =वीणा।

भरांति<सं० भ्रान्ति।

आकाश (ब्रह्माण्ड) में एक औंधा कुवां (सहस्रार) है और पाताल (मूलाधार चक्र) में उसकी पनिहारी (कुण्डलिनी) है; इस कुएँ का जल कोई विरला हंस (साधक) ही पी सकता है जो इसका आदि (रहस्य) जानता होगा।३८।

अब ऐसा हो गया कि मेरा नाम सचमुच अमूल्य हो गया—पहले अवश्य मैं कच्चा रांगा था और दर-दर (ठोकर खाता) फिरता था।३९।

निरमोलिक=अमूल्य, बहुमूल्य। निज=सही, यथार्थ (दे० १६ वीं साखी की व्याख्या)। कांच कथीर=कच्चा कस्तीर या राँगा जिसे खोखले आभूषण आदि बनाते समय अन्दर भर देते हैं और कार्य समाप्त हो जाने पर निकाल फेंकते हैं—उसकी केवल इतनी ही उपयोगिता है। 'कांच' को कुछ टीकाकारों ने विशेषण न मानकर 'शीशा' अर्थ किया है, किन्तु यह प्रसगसमस्त नहीं है।

मन उन्मनावस्था (सहजावस्था या शून्य समाधि) से लग गया और उन्मनावस्था मन से लग गई (अर्थात् मन और उन्मन एकमेक हो गए हैं), जैसे नमक पानी में मिल जाय और पानी नमक में।४०।

उन्मन्न<सं० उन्मन (अवस्था)=सहज समाधि या शून्य समाधि। बिलंगि<बिलग्गि<प्रा० विलग्ग < सं० वि+लग्न=सहारा लेना, संलग्न होना, चिपटना (दे० पाइअ०, पृ० ७६८)। 'विलग्ग' विशेषण पद भी है (सं० 'विलग्न' का समानार्थी)। कुछ टीकाकारों ने 'बिलंगि' का 'पृथक्' या 'अलग' ऐसा भ्रमात्मक (या यों कहा जाय कि उल्टा) अर्थ किया है।

हठयोगप्रदीपिका (४।५६) में ठीक यही बात कही गई है—

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥

अर्थात् कपूर जैसे आग में और नमक जैसे पानी मे विलीन हो जाता है वैसे ही निरंतर जोड़ते-जोड़ते मन परम तत्त्व में विलीन हो जाता है।

और भी तुलनीय, सरहपा—

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम जइ चित्तवि ठ्ठाइ।
अप्पा दीसहि परहिं सम तत्थ समाहिए काइ।
—राहुल सांकृत्यायन, दोहाकोश, पृ० १२।

अर्थात् जैसे नमक पानी में विला जाता है ऐसे ही अगर चित्त भी सहज दशा में विलीन हो जाय तो फिर अपना पराया समान दिखने लगता है—उसके लिए समाधि से क्या ?

कण्हपा आदि अन्य सिद्धों ने भी हू-ब-हू-इसी शब्दावली में मन की सहज दशा का चित्रण किया है (उदाहरणतया दे० डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची संपादित

दोहाकोश, पृ० २७) । यही नही, सैंधव और जल के सम्मिलन का दृष्टांत तत्व-विवेचन के प्रसंग मे उपनिषदों तक में मिलता है। छान्दोग्य ६/१३/२-२ में उद्दालक-आरुणि-श्वेतकेतु-आख्यान में आरुणि ब्रह्म तथा जगत् का संबंध समझाने के लिए उद्दालक से जल में नमक का ढेला डालकर उसकी प्रक्रिया का पर्यवेक्षण करने को कहता है । बृहदारण्यक २/४/१२ भी तुलनीय है—

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुलीयते ।

परमात्मा का नाम स्पर्श मणि के समान है और संसार लोहे के समान है, नाम के स्पर्श से वह स्वतः स्पर्शमणि के समान हो गया और इस प्रकार परख हो जाने पर वह टकसाली सोना हो गया ।४१।

विशेष—द्वितीय पंक्ति में पहला 'पारस' स्पर्श का बोधक है और दूसरा 'पारस' स्पर्श मणि का बोधक है जिसके स्पर्श से लोहा सोने मे परिवर्तित हो जाता है—ऐसी प्राचीन मान्यता है ।

BHAVAN'S LIBRARY

MUMBAI-400 007.

N. B. - This book is issued only for one week till............
This book is should be returned within a fortnight
from the date last marked below.

Date	Date	Date